मैक्समूलर-कृत

पुराण शास्त्र एवम् जनकथाएँ

Essayson :—

Mythology and Folklores

By

The Right hon. F. Max Mullar

संपादक :

कमलाकर तिवारी

अनुवादक :

रमेश तिवारी

सुरेश तिवारी

इतिहास प्रकाशन संस्थान

वाराणसी - १

LUCKNOW
RY

891.2

मैक्समूलर-कृत

पुराण शास्त्र एवम् जनकथाएँ

Essayson :—

Mythology and Folklores

By

The Right hon. F. Max Mullar

संपादक :

कमलाकर तिवारी

अनुवादक :

रमेश तिवारी

सुरेश तिवारी

इतिहास प्रकाशन संस्थान

वाराणसी - १

प्रकाशक :
इतिहास प्रकाशन संस्थान
वाराणसी के लिये
सतीश तिवारी एवम् माता सेवक मिश्र

★

291.13 H
म प

(891.2)

©

मूल्य १२ रुपया मात्र

★

मुद्रक :
भोला प्रिन्टिंग वर्क्स,
पियरी कलाँ, वाराणसी।
फोन नं० ४६२४

राज्य संग्रहालय पुस्तकालय * लखनऊ *
राज्य संग्रहालय पुस्तकालय, लखनऊ
क्रम संख्या 3113
प्राप्ति तिथि 14.2.65
* State Museum, Library, Lko. *

विषय-सूची

क्रमांक			पृष्ठ संख्या
१—प्रकाशकीय	...	...	
२—संपादकीय	...	...	क
३—अनुवादक का निवेदन	...	...	छ
४—मूल लेखक की भूमिका	...	...	१
५—तुलनात्मक पुराण शास्त्र	...	...	२३
६—पुराण शास्त्र का दर्शन	...	...	१३३
७—सौर कथायें ...	...	...	१५९
८—वोलेराफन	...	...	१७४
९—जनकथाओं का स्थानान्तरण	...	...	१८३

रोम और यूनान की लोक कथाएँ—

१—पण्डोरा की पिटारी	...	...	२०६
२—प्रोसपरिना	...	...	२०८

मिश्री कथाएँ—

१—होनी होगी ही	...	...	२११
२—फराओ और ओसिरिस का वृद्ध पुजारी		...	२१९
३—क्या और कहाँ ?	...	...	२२४

———

इतिहास प्रकाशन संस्थान, वाराणसी का द्वितीय पुष्प आपके हाथ में है और अब यह बताना आपका ही कर्तव्य है कि हमारा प्रयास कैसा रहा। आप लोगों का निर्देशन ही हमारा पथ-प्रदर्शन करे, यही कामना है।

इतिहास प्रकाशन संस्थान, कबीर चौरा, वाराणसी	}	सतीश तिवारी ३०-६-६५

सम्पादकीय

सम्पादन एक कला है और किसी ग्रंथ के सम्पादन में इस कला का जितना ही अधिक सुन्दर प्रयोग होता है, ग्रन्थ में उतनी ही सुन्दरता एवम् प्रभविष्णुता आ जाती है। अनुवाद कार्य में सम्पादक के हाथ-पैर जितने बँधे होते हैं, उतने किसी अन्य कार्य में नहीं बँधते। कारण स्पष्ट है। लेखक अपने विचारों को, अपनी गवेषणाओं को व अपने गवेषणा-सिद्धान्तों को जिस प्रकार रक्खे रहता है, उन्हें उसी के क्रम में उसी के विचारानुसार अनुवादक को रखना पड़ता है जो एक दुष्कर कार्य है। अनुवाद कार्य में विचार स्वातंत्र्य का कोई विशेष महत्व नहीं होता। यदि कहीं विचार-वैभिन्य हुआ भी तो पाद टिप्पणियाँ ही एकमात्र सहायता देती हैं। इस प्रकार अनुवादक एक आज्ञाकारी की भाँति लेखक-निर्मित-पथ पर चलने को वाध्य है! अस्तु!

भारत से क्या सीखें का अनुवाद प्रकाशित होने पर उससे हम लोगों को जो सन्तोष प्राप्त हुआ, उससे हमें (अनुवादक, सम्पादक व प्रकाशक) इस बात की प्रेरणा मिली कि यदि मैक्समुलर की एकाध अन्य कृतियों को इसी भांति प्रकाश में लाया जाय तो इससे अन्य लाभ तो होंगे ही, आर्थिक लाभ भी कम न होगा। इसी विचार पद्धति के अनुसार यह दूसरा पुष्प पाठकों की सेवा में उपस्थित है।

परन्तु, इस पुस्तक को पढ़ने के पहले हमारे लिए आवश्यक है कि हम मैक्समुलर की मूल विचार धारा से परिचित हो लें, क्योंकि उनके प्रयत्न महान् हैं और इस छोटी सी (सो भी अपूर्ण) पुस्तक में उनके सिद्धान्तों का पूरा परिचय देना सम्भव नहीं था। वास्तव में इस छोटी सी पुस्तक में लेखक का यह प्रयत्न रहा है कि हम इस बात को समझ जाँय कि एक समय था, जब हम सब (समूचे संसार का मानव समाज) एक ही स्थान पर एक कुटुम्ब या एक कुटुम्ब समूह रूप में रहते थे जिसके विभिन्न जन जो कालान्तर में अनेक विवशताओं के कारण भिन्न-भिन्न दिशाओं में निवास योग्य स्थान की खोज में चल पड़े और जिसको जहाँ जितनी ही अधिक सुविधा दिखायी पड़ी, वह वहीं उतना ही स्थायी रूप से बस गया। निवास स्थानों की भौगोलिक विभिन्नताओं ने धीरे-धीरे उसके आचार-विचार, रहन-सहन, भाषा-भूषा में इतना अधिक अन्तर पैदा कर दिया कि आज यह कहना भी आश्चर्यजनक-सा प्रतीत होता है कि हम सब (समूचे संसार के लोग) एक ही परिवार के सदस्य हैं।

मैक्समुलर की विचारधारा यह थी कि आर्यों का मूल स्थान मध्य एशिया में था और यहीं से आर्यों की विभिन्न शाखाएँ विभिन्न दिशाओं में चलीं। यही आर्यों का विभाजन है। इस बहिर्गमन के क्रम में जो लोग दक्षिण की ओर चले, उनमें से कुछ तो अफगानिस्तान या फारस में रह गये और शेष भारत के पंजाब प्रान्त में आ बसे। यही आर्यों का सप्तसिंधु प्रदेश है, जहाँ से आदिवासियों से युद्ध करते हुए एवं वेद मन्त्रों की रचना करते हुए वे दक्षिण में विंध्याचल तक एवं पूर्व में बंगाल तक जा पहुँचे। मैक्समुलर का कहना है कि विभाजन के पूर्व आर्य लोगों में कुछ कथाएँ प्रचलित थीं और वे कोई भाषा बोलते थे, जो संस्कृत सहित सभी आर्य भाषाओं की जननी है, यद्यपि उस भाषा का कोई नाम खोज पाने में उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

लेखक के अनुसार आर्यों की विभिन्न शाखाओं में जो अनेक समान पौराणिक व जनकथाएँ तथा उनमें प्रयुक्त समान शब्द रूप मिलते हैं वे सब उस समय के हैं, जब वे एक साथ ही एक बड़े कुटुम्ब के रूप में एक ही स्थान पर रहते थे। इस पुस्तक में अनेक ऐसी तालिकाएँ हैं, जिनमें कितने ही शब्दों की एकरूपता व समरूपता[1] प्रदर्शित की गयी है। इस प्रकार इस विद्वान लेखक ने भाषागत विज्ञान (Science of Language) के सहारे एक निश्चित परिणाम पर पहुँच पाने की प्रभावपूर्ण चेष्टा की है और इसमें उन्हें आंशिक सफलता भी मिली है। × × ×

आर्य शब्द का प्रयोग अँगरेजी में सर्व प्रथम १८५३ ई० में मैक्समुलर ने ही किया था और सन् १९३९ ई० में हिटलर ने यह प्रमाणित कर दिया कि 'प्रजातिवाद का सिद्धान्त (Race Theory) झूठा भी है और खतरनाक भी'[2] अपने ही समय में मैक्समुलर को अपनी भ्रान्ति का ज्ञान हो गया था और उन्होंने अपने परिमार्जित सिद्धांत का रूप इस प्रकार रक्खा "जब मैं एरियन शब्द का प्रयोग करता हूँ तो मेरा अभिप्राय न रक्त से होता है न अस्थि या बाल या खोपड़ी से। मेरा तात्पर्य केवल उन लोगों से है जो आर्य भाषा बोलते हैं।"

---

१. शब्द साम्य की खोज एक अद्भुत क्रिया है। पेटर, फादर, पितृ तथा ब्रदर, बिरादर भ्रातृ में जो साम्य है, उसके अतिरिक्त भी यह साम्य कुछ ऐसे शब्दों में मिलता है, जो हमें आश्चर्य में डाल देते हैं। भाषा शास्त्रियों के अनुसार अंगरेजी के टुथ एवं हैण्ड शब्द संस्कृत के दन्त एवं हन् के रूप है। साउण्ड शब्द का मूल रूप स्वन है। संस्कृत धातु रा से लैटिन धातु डोयरे बनी और इसी से अंगरेजी शब्द डोनेशन बना।

२—जूनियर हक्सेल सन् १९३९ ई०। "It is sumrised not incorrectly.

अठारहवीं शती के ७ दशकों तक किसी को अनुमान भी नहीं था कि आर्य भारत में कहीं बाहर से आये थे। अचानक सन् १७८६ में सर विलियम जोन्स ने यह स्थापना रक्खी कि ग्रीक, इटैलियन, गोथिक, केल्टिक, फारसी और संस्कृत सभी भाषाएँ एक अज्ञात नामा माता की सन्तानें हैं। यहीं से तुलनात्मक भाषा विज्ञान का प्रारम्भ होता है। विश्व के विद्वान इस अनुसंधान से चकित हो गये कि उत्तर भारत की सभी भाषाएँ, पश्चिमी एशिया की जेन्द, फारसी, पश्तो, बलूची, कुर्द और आर्मीनियन भाषाएँ तथा यूरोप की इटालियन, फ्रेंच, स्पेनिश, यूनानी, केल्टिक, जर्मन, अँग्रेजी, ट्यूटनिक, स्लावनिक लिथुआनियन अलबानियन आदि भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से निकली हैं। इस तथ्य के प्रकाश में पंडितों ने इन सभी भाषा-भाषियों को इण्डो-जर्मन, इण्डो यूरोपियन, इण्डो-पर्शियन अथवा केवल आर्य कहना शुरू कर दिया। अब आवश्यकता इस बात की प्रतीत हुई कि आर्यों के मूल स्थान का पता लगाया जाय। उपरोक्त सभी भाषाओं में चूंकि फारसी और संस्कृत में अत्यधिक साम्य था, अतः यह अनुमान लगाया गया कि आर्य लोगों ने जब मूलस्थान को छोड़ा तो ईरानी और भारतीय शाखा वाले अपेक्षाकृत अधिक दिनों तक साथ साथ रहे।

ऋग्वेद में ऊषा-सूक्तों में ऊषा का जितना विशद् एवं मनोहारी वर्णन है, उसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया कि आर्यों का मूलस्थान कहीं उत्तरी ध्रुव के पास था, जहाँ ऊषा का दर्शनीय सौन्दर्य महीनों तक बना रहता है। लोगों ने तर्क दिया कि भारत में ऊषा काल इतने कम समय का होता है कि उसके प्रति इतने भक्तिपूर्ण उद्गार निकल ही नहीं सकते थे। यहीं पर मानव स्वभाव को समझ पाने में विद्वानों ने एक भारी भूल कर दी। वे यह

---

that all the languages of India could be traced to one original family of languages and this family can not be Indo Germanic, as is assumed, but native to the soil, having its birth in neolithic times, if not earlier. This is certainly true if we make a comparative study of the North Indian and South Indian vernacular dialects, for in both, we find the same fundamental grammatical structure. By substituting one word for another, it is easy to translate these languages from one to another.

See Prehistoric South India by U. R. R. Dikshit ar)

भूल गये कि स्वभावतः ही मानव क्षण-भंगुर वस्तुओं, एवं दृश्यों को जितना प्यार करता है, उतना स्थायी दृश्यों या वस्तुओं को नहीं। ऋग्वेद के "श्रृणुयाम शरदः शतम" इत्यादि ने भी लोगों को यही सोचने पर विवश किया कि आर्य लोग कहीं शीतप्रधान देश में रहते थे। बाल गंगाधर तिलक ने ज्योतिषीय गणनाओं के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि आर्यों का मूल स्थान उत्तरी ध्रुव प्रदेश के समीप ही कहीं था।

भाषागत साम्य देखने पर यह मानना पड़ता है कि लिथुआनियन भाषा वैदिक संस्कृत के अत्यधिक समीप है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया कि आर्यों का मूलस्थान दक्षिणी रूस था जो इन दोनों स्थानों के करीब करीब मध्य में है और यहीं से उनकी भाषा ने एक ओर तो लिथुआनियाँ में प्रवेश पाया और दूसरी ओर वह मिश्र, ईरान और मेसोपोटामिया तक फैल गयी। मिश्र के अल अमर्ना नामक स्थान पर की गई खुदाई से पता चला कि १५०० वर्ष ईसा पूर्व वहां जो राजा थे, उनके नाम संस्कृत नामों से मिलते हैं, यथाः—आर्त्तमन्य, यशदत्त, सुवर्ण इत्यादि।

कुछ ऐसे भी कारण हैं, जिनसे हमें यह मानना पड़ता है कि आर्य भारत में बाहर से नहीं आये। उन कारणों को संक्षेप में यों गिनाया जा सकता है:– (१) आर्यों का प्राचीनतम् साहित्य (वेद) केवल भारत में पाया जाता है और उसमें भारत के स्थानों के सिवा किसी भी अन्य देश या स्थान का नाम नहीं मिलता (२) यदि आर्य भारत में बाहर से आये तो उनके साहित्य में उस देश की चर्चा क्यों नहीं है? (३) आर्य यदि कहीं बाहर से आये तो मूलस्थान में उनके साहित्य का अवशेष क्यों नहीं है? (४) क्या कारण है कि संस्कृत के शब्द तो भारत की सभी परवर्ती भाषाओं में मिलते हैं परन्तु यूरोप की भाषाओं में उनकी संख्या इतनी कम है कि उसे नगण्य समझा जा सकता है? एक अन्य प्रमाण के रूप में यह बात भी कही जा सकती है कि "भारतीय आर्यों की अपनी अनुश्रुति अर्थात् परम्परागत आख्यानों में ऐसा एक बार भी नहीं कहा गया है कि वे पश्चिमोत्तर से आये। इसके विपरीत उनमें ऐसी चर्चा है कि वे लोग सरस्वती के कांठे से जैसे अन्य दिशाओं में गये वैसे ही पश्चिमोत्तर दिशाओं में भी गये[1]।" वेद का सप्तसैंधव[2] देश भी पंजाब ही है। अस्तु!

आर्यों की मूलभाषा का जन्म कहां और किस रूप में हुआ, यह जानने का कोई साधन (अब तक) हमारे हाथ नहीं लगा है। ऐसी स्थिति में इतना

१—देखें विद्यालंकार कृत इतिहास प्रवेश।

२—सरस्वती, शतद्रु, विपाशा, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता एवम् सिंधु से सेवित भू-भाग।

अनुमान तो यथेष्ट समझा ही जाना चाहिये कि जो आर्य मध्य एशिया से यूरोप गये, वे अपने साथ वही भाषा और वही गाथाएँ ले गये, जिसे लेकर इन्डोइरानियन शाखा वाले दक्षिणाभिमुख हुए। बाद को इन दो शाखाओं के आर्य चूंकि सहस्राब्दियों तक मिले नहीं, अतः उनकी भाषा में भी एवम् उनके आख्यानों में भी स्थानीय प्रभाव-जनित अन्तर इतना बढ़ गया कि आज उनको सममूलक मानना भी आश्चर्य की ही बात प्रतीत होती है।

जब आर्य ईरान में थे, उस समय उनकी एक ही भाषा थी। कालान्तर में जो लोग भारत की ओर आये, उन्होंने जिस भाषा को अपनाया उसे हम संस्कृत के नाम से एवम् ईरान के आर्यों की भाषा को ईरानियन भाषा के नाम से जानते हैं। फिर भी ये भाषाएँ एक दूसरे के इतनी समीप हैं कि आज भी जेन्दावेस्ता के श्लोकों को सुविधापूर्वक संस्कृत श्लोकों में बदला जा सकता है। उपरोक्त स्थिति में सर्वाधिक ध्यानाकर्षक बात यह है कि आर्यों की मूलभाषा की जितनी रक्षा भारत में हुई, उतनी अन्यत्र सम्भव न हो सकी। अन्य देशों में आर्यों की भाषाएँ निरन्तर रूप से परिवर्तन करती गयीं और आज वे सबकी सब मृत भाषाएँ हो चुकी हैं; किन्तु भारत में संस्कृत भाषा आज भी न केवल जीवित है, वरन् उसका अध्ययन भी होता है, उसमें वाद-विवाद होता है, नया साहित्य निकलता है और कितने ही पत्र निकलते रहते हैं।

यदि ऋग्वेद को साक्षी रूप में लिया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि आर्यों का देश सप्त-सैंधव ही था। यही वह भू-भाग है, जहां मोहनजोदारो-सभ्यता के अवशेष मिले हैं। आर्य सभ्यता से सम्बद्ध अब तक जितने भी पुराने निशान मिले हैं, उनमें से मोहनजोदारो एवम् हरप्पा से प्राप्त सामग्रियाँ ही प्राचीनतम हैं, परन्तु मोहनजोदारो में शिव-पूजा के जो प्रमाण उपलब्ध हुए हैं, वे ही यह दिखाने को पर्याप्त हैं कि यह सभ्यता आर्य सभ्यता नहीं थी, क्योंकि शिव-पूजा आर्यों ने विलम्ब से ही ग्रहण किया और सो भी प्रसन्नता पूर्वक नहीं।

वेद का रचना काल

ऋग्वेद न केवल भारत में वरन् समूचे संसार में प्राचीनतम् साहित्य है। इसके काल निर्णय का प्रश्न भी कम उलझन पूर्ण नहीं है। कि[illegible] ही लोगों के मत से यह साहित्य ७५,००० वर्ष प्राचीन है और कितने ही लोग इसे ईसा से केवल २ शती पूर्व का ही मानते हैं। जर्मन विद्वान् जैकोबी के अनुसार कल्प-सूत्र ईसा से ४७०० पूर्व रचे गये और ऋग्वेद की ऋचाएँ ६५०० वर्ष ईसा पूर्व में रची गयीं। लोकमान्य तिलक ने ब्राह्मण ग्रंथों का रचनाकाल ईसा पूर्व ४१००-

माना तथा वेद की ऋचाओं में से प्राचीनतम १०,००० वर्षों की है, कुछ आठ सहस्र वर्षों पूर्व की एवम् कुछ का रचना काल आज से सात, साढ़े सात हजार वर्षों पूर्व है। डा० अविनाश चन्द्र दत्त इनको ७५,००० वर्ष पुराना मानते हैं, पं० राम गोविन्द त्रिवेदी इन्हें १८से लेकर ५०,००० वर्षों पूर्व का म नते हैं, मैक्समुलर इन्हें केवल ३५०० वर्ष प्राचीन मानते हैं और विण्टरनिज के अनुसार ऋग्वेद की रचना ईसा पूर्व २५०० वर्ष के पूर्व हो चुकी थी। उनका समय चाहे जो भी हो, परन्तु इतना तो हमें मानना ही पड़ेगा कि वेद की ऋचाएँ न तो किसी अर्द्धसभ्य और न ही किसी असभ्य जाति की रचनाएँ हैं। उनमें जिस सभ्यता का पता चलता है वह अत्यन्त पष्ट एवम् परिमार्जित दिखायी देती है तथा वेद की शैली सुविकसित शैली है। वेद में जिन घटनाओं का समावेश है, वे समाचार पत्र में दी गयी घटनाएँ नहीं हैं, वरन् ये घटनाएँ ऐसी हैं, जो परम्परा में समा चुकी थीं।

× × ×

हिन्दुत्व का स्वभाव है कि वह जितना ही परिवर्तित एवम् संशोधित होता है, उतना ही अपने मूल स्वरूप के अधिक निकट पहुँच जाता है और यही कारण है भारतीय संस्कृति का रूप आज भी प्रायः वैसा ही है, जैसा वह ईसा से सहस्र वर्ष पूर्व था। मिश्र, बेबिलोन एवम् यूनान की सभ्यताएँ भी कभी उन्नत थीं, किन्तु वे कराल काल के मसृण दाढ़ों में समा गयी। केवल भारत ही ऐसा देश है, जिसका अतीत आज भी जीवित है। वह बराबर वर्तमान के रथ पर भविष्य की ओर अग्रसरित होता रहता है। भारत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है, और हमें आशा करना चाहिए कि वह आगे भी जीवित रहेगा।

× × ×

पुस्तक आपके हाथ में है, यह कैसी है, इसका निर्णय आप को ही करना है। त्रुटियों की सूचना के लिए कृतज्ञ हूँगा तथा भविष्य में उन्हें सुधार देना ही अपना कर्तव्य मानूँगा। अनुवादक के अनेक अनुवाद आप के सामने आ चुके हैं, तनिक इसे भी देखें।

पटना — कमलाकर तिवारी

७-६-६५

अनुवादक का निवेदन

पिताजी की संगति में मैक्समुलर कृत What India can teach us का अनुवाद करते समय ही मन में इच्छा हुई थी कि यदि अवसर मिले तो मैक्समुलर की एकाध अन्य कृति का अनुवाद पाठकों के समक्ष रक्खूँ। अनुवाद योग्य पुस्तक की खोज में ही था कि सौभाग्यवश मैक्समुलर की Mythology And Folklore नामक पुस्तक अनायास ही हाथ लग गयी। पढ़कर देखा तो प्रतीत हुआ कि यदि इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया जा सकता तो हिन्दी संसार के एक बड़े अभाव की आंशिक पूर्ति हो जाती।

सोत्साह अनुवाद का काम हाथ में ले लिया, पर कुछ ही पृष्ठों के पश्चात् ऐसा प्रतीत होने लगा, जैसे ग्रीक भाषा का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त किये बिना इस ग्रंथ का अनुवाद असम्भव है। पिता जी ने यहाँ भी मेरी सहायता की और ग्रीक शब्दों को मेरे लिये न केवल सुगम वरन् सुबोध भी कर दिया।

मेरे अग्रज श्री सतीश तिवारी ने अनुवाद कार्य समाप्त होने के पूर्व ही उसे प्रेस में लगा दिया। अभी पुस्तक का प्रायः एक तिहाई भाग अनुवाद करने को शेष ही था कि वाराणसी स्टेशन पर ही एक रात मेरा झोला किसी भले आदमी ने पार कर दिया जिसमें वह पुस्तक भी थी और कुछ अनूदित पृष्ठ भी, अब क्या हो!

पुस्तक आधी से अधिक छप चुकी थी। कई स्थानों पर उक्त ग्रंथ की खोज की, पर बेकार। हार कर कुछ पत्र स्मृति के भरोसे लिखे गये और कुछ पौराणिक गाथाएँ अपनी ओर से जोड़कर इसे पुस्तक का रूप देना सम्भव हो सका।

पुस्तक जैसी भी है, आपके हाथ में है। आप ही बतावेंगे कि अनुवाद कैसा है। अनुवाद की त्रुटियों के हेतु क्षमा प्रार्थी :—

रमेश तिवारी

३-६-६५

मैक्समूलर लिखित

पुराण शास्त्र एवम् जनकथाएँ

मूललेखक की भूमिका

इस संग्रह के सभी निबन्ध या तो पुराण शास्त्र से सम्बन्धित हैं या जनकथाओं से। आवश्यकता है इन शब्दों को इनके विस्तृत भाव में ग्रहण करने की। इन निबन्धों में से अनेक अब से पूर्व ही प्रकाशित हो चुके हैं। इच्छा थी कि इस आवृत्ति में काफ़ी परिवर्तन व परिवर्द्धन हो जाता, परन्तु अनेक विवशताओं के कारण ऐसा सम्भव न हो सका।

वर्षों पूर्व पुराणशास्त्र को विवेचना करने के लिये मैंने अपने विचारार्थ कुछ सिद्धातों की स्थापना कर ली थी। मुझे प्रसन्नता है कि आज भी उनमें परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं जान पड़ रही है, यद्यपि इस बीच मैंने स्वयं भी इस विषय पर काफ़ी विचार किया है तथा अनेक गण्यमान्य विद्वानों के एतत् सम्बन्धी विचारों को जानने के भी पर्याप्त अवसर मिले हैं। मेरे पूर्व भी अनेक लोगों ने इस विषय पर विचार किया था और उन्होंने भी स्वस्थापित सिद्धान्तों का सहारा लिया था। मैं जानता हूँ कि पिछले कुछ वर्षों में उन सिद्धान्तों को फिर से जागृत करने एवम् उनका समर्थन करने के प्रबल एवम् विद्वत्तापूर्ण प्रयत्न किये गये हैं। इन विद्वानों के कथन में इतना अधिक आकर्षण है कि कभी-कभी मेरा मन भी बलात् उसी ओर खिंच जाने को करता है और आज मैं यह कहने की स्थिति में हूँ कि उनके दृष्टिकोणों में भी सत्यता का कुछ अंश तो है ही। शायद प्रौढ़त्व का यह तक़ाज़ा है कि हमें ग़लतियों में भी सत्य का कुछ न कुछ अंश दिखायी पड़ने लगता है। यह स्थिति बड़ी अद्भुत होती है जब कई विद्वान् एक ही विषय का विचार पूर्वक अध्ययन करने लगते हैं और वे सत्य की प्राप्ति के लिये समान रूप से सचेष्ट होते हैं तो वे पुराण-शास्त्र के मूल एवम् उद्देश्य के विषय में ऐसे विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं जो यदि एक दूसरे के शतशः विरोधी न भी हुए तो भी एक दूसरे के विपरीत तो जान ही पड़ते हैं। आज जब मैं वर्षों से इन विभिन्नताओं को देख, सुन और समझ रहा हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि ऐसा होना तो एकदम स्वाभाविक ही है।

पुराणशास्त्र अति प्राचीन विचारों एवम् विचार समूहों का एक ऐसा संग्रह है जो एक लुंठित हिमपुंज की भाँति अपने में न केवल हिम तथा बर्फ ही वरन् शिलाएँ, वृक्ष, पौधे, पशु, यहां तक कि कितने ही मानव प्रयत्नों को छिपाए हैं। ऐसा तो शायद ही कभी होता हो कि हम उस हिमपुंज का अध्ययन करते समय उसके समग्र रूप का ही अध्ययन कर डालें। प्रायः सभी देशों में अजायब घरों में ऐसे अनेक हिमपुंज हमारे निरीक्षण, परीक्षण के लिये सुरक्षित हैं। यह तो एकदम सहज है कि जब शोधकर्ताओं का एक दल इनके परीक्षण के लिये पहुँचता है तो उसका प्रत्येक सदस्य उसके किसी अंग विशेष से ही विशेष प्रभावित होता है और उसी के अध्ययन में विशेष मन लगाता है। होता यह है कि कोई सदस्य उस हिमपुंज को केवल जल-समूह के रूप में देखता है तो कोई उसमें के पाषाणांशों तथा बालुका कणों को ही अपने अध्ययन का लक्ष्य बना लेता है; यदि एक तन्निहित वनस्पतियों से प्रभावित होता है तो दूसरा उसमें के मृत जीवों की ओर आकर्षित हो जाता है। प्रत्येक शोधकर्ता अपने ही विषय को सर्वाधिक महत्वपूर्ण मान कर आगे बढ़ता है और अपने ही ढंग से उस हिमपुञ्ज के मूल को खोज करता है। सभी सदस्य अपने निष्कर्षों के पक्ष में प्रमाण भी इकट्ठे करते रहते हैं और प्रमाणों के पीछे उनके तर्क भी कम सबल नहीं होते। हम सब जानते हैं कि पूर्ण सत्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक सदस्य के प्रमाणों को संयुक्त रूप से देखा जाय।

ठीक ऐसी ही स्थिति पुराण शास्त्र की भी है। बात यह है कि शायद ही हम किसी पौराणिक कथा को उस रूप में पाते हैं, जिस रूप में उसको जन्म मिला था। जिस रूप में उसे सर्वप्रथम कहा गया था। इन कथाओं को हम परवर्ती कालीन कथा संग्रहों या कई पीढ़ियों बाद में हुए कवियों के काव्यों में पाते हैं और तब तक उन कथाओं की जीवनी शक्ति समाप्त हो गयी रहती है तथा उनका वास्तविक अर्थ हमारे लिये अगम्य हो चुका रहता है। हम लोगों तक पहुँचने के पूर्व कितनी ही बार उनका वर्गीकरण, संक्षिप्तीकरण एवम् परिवर्द्धन हो चुका रहता है और इसी लिये उनके विषय में भ्रम पैदा हो जाना ही अधिक सहज है, अधिक स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में बहुत सम्भव है कि इस शास्त्र के विभिन्न अध्ये-

ताओं ने इसके विभिन्न अंगों पर ही विचार किया हो और इसके समग्र रूप को भुला ही दिया हो या उस वातावरण के प्रति वे उदासीन ही रह गये हों, जिसमें इनका जन्म हुआ था।

यदि हम इस बात के प्रति सतत् जागरूक रहें कि हमें पुराणशास्त्र का, समग्र पुराणशास्त्र का अध्ययन करना है न कि उसके अंग विशेष या अंग समूह का तो अन्ततोगत्वा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि चाहे यह शास्त्र तथा इसकी कथाएँ कितनी ही विसपिट गयी हों फिर भी वे बनी हैं उन शब्दों या शब्द समूहों के माध्यम से जो प्रकृति गत दृश्यों, तथ्यों, एवम् रहस्यों से सम्बन्धित थे, जैसे सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी, ऊषा, सागर इत्यादि। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि तत्कालीन मानव ने न केवल इनके विभिन्न पारस्परिक सम्बन्धों पर ही विचार किया था, वरन् इस पर भी विचार किया था कि उनका मानव से क्या सम्बन्ध है।

जिस प्रकार आज का हिम धीरे-धीरे बर्फ का रूप लेकर कठोर हो जाता है वैसे ही समय का आधार पाकर ये कथाएँ भी अनिवार्य भ्रमों के कारण हमारे लिये दुर्बोध होती गयीं। अनिवार्य इस लिये कि वे भ्रम भाषा की प्रकृति से ही उत्पन्न होते गये। धीरे-धीरे प्रयुक्त शब्दों की वह बौद्धिक ऊष्मा घटती गयी, जिसने उन्हें जन्म देकर बनाया, सवारा था। यह तो भाषागत विज्ञान (Science of Language) के अध्ययन की देन है कि हम यह देखने, जानने योग्य हो सके हैं कि पौराणिक कथाओं की प्रवृत्ति शब्दों में बँध जाने के बाद से ही यह रही है कि वे हमारे विचारों के विकास क्रम को प्रकट करती हैं। इस सनातन प्रयत्न में यदि कुछ मेरा योगदान है तो मात्र इतना ही कि 'पुराणशास्त्र हमारी रुग्ण विचार शैली का निदान मात्र है। यह रुग्णता विचार एवम् भाषा को उनके जन्म से ही घेरे हुए है तथा संसार का कोई कोना इस रुग्णता से खाली नहीं है।'

वास्तव में पुराणशास्त्र की विवेचना करते समय वही पथ ग्रहण करना चाहिये, जो मैंने किया है, अर्थात् उसे भाषागत विज्ञान तथा विचार विज्ञान के एक अध्याय के रूप में देखना चाहिए। भाषागत विज्ञान से इसका सम्बन्ध इस आधार पर है कि केवल यही एक ऐसा शास्त्र है, जो हमें बताता है कि जो शब्द अपने जन्म काल में एकदम पारदर्शक एवम् सुबोध होता है वह किस प्रकार

अपने धातु अथवा कितनी ही बार अपने धात्वर्थ को छोड़कर दुर्बोधता की सीमा को लांघता हुआ अगम्य क्षेत्र में जा पहुँचता है। उसका लचीलापन समाप्त हो जाता है तथा उसकी वह शक्ति समाप्त हो जाती है जिसने उसे जीवन दिया था। उसी क्रम से एक स्थिति ऐसी भी आ जाती है जब वही शब्द घिस-पिट कर इतना बदल जाता है कि हम मूल रूप से उसका सम्बन्ध भी नहीं जोड़ पाते। न केवल इतना ही वरन् उसके वर्तमान रूप को देख कर हम उस वातावरण की भी कल्पना नहीं कर पाते, जिसमें उसके मूल का जन्म हुआ था। इनका यही परिवर्त्तित रूप परिवर्तित काल के भावमय संसार को व्यक्त करने में सहायक होता है।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि परिवर्तन एवम् विनाश के ये कीटाणु न केवल शब्दों के ध्वन्यात्मक रूप को ही बदल देते हैं वरन् शब्द की आत्मा में भी पूर्ण परिवर्तन ला देते हैं। भाषागत विज्ञान में इस सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता मिल चुकी है। यह कार्य विचार विज्ञान का है कि वह हमें बताता है कि किस प्रकार ये शब्द हमारे विचारों को समय-समय पर विभिन्न प्रकार से प्रभावित करते रहते हैं, उनमें परिवर्तन, परिवर्द्धन व सुधार करते रहते हैं तथा समय-समय पर हमारे विचारों के लिये वे बेड़ी का भी कार्य करते रहते हैं। उसी क्रम में एक स्थिति ऐसी भी आ जाती है जब हमारे अन्त में छिपी हुई सत्य-प्रियता इस बन्दी जीवन को सहन नहीं कर पाती और तब वह जैसे नये सशक्त परों का संबल पाकर ऊंची उड़ाने भरने को तत्पर हो जाती है। शब्दों की अनेकार्थकता एवम् समानार्थकता के सम्बन्ध में हम जिस प्रकार का असंयम बरतते हैं, उसके कारण हम पुराणशास्त्र की यथार्थता से बहुत दूर जा पड़े हैं। यह जान लेना एक महत्वपूर्ण बात है कि जिन विचार शृंखलाओं के कारण अति प्राचीन काल में देवी-देवताओं तथा नायक-नायिकाओं से सम्बन्धित कथाओं का सृजन हुआ था वे ही शृंखलाएँ प्राचीन, अर्वाचीन एवम् आधुनिक कालीन सभी वर्गों की विचार-प्रणालियों को प्रभावित करती रहती हैं। यहाँ तक कि हमारा मजहब, हमारा दर्शन भी इनके प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है।

आज हम जिन शब्दों को प्रयोग करते हैं, उनमें से कुछ शब्द तो ऐसे अवश्य ही हैं, जो हमारी आदिम भाषा एवम् विचार प्रणाली

के हैं और यद्यपि उनमें विकृतियाँ भी आयी हैं, उनमें परिमार्जन भी हुए हैं, पर उनका आदिम कालीन आकर्षण आज भी उनसे अलग नहीं हो सका है। हम लैटिन शब्द डोअस या फ्रेंच शब्द डिउ को उदाहरण स्वरूप लेते हैं, जो उसी अर्थ में ग्रहण किये जाते हैं, जिस अर्थ में ट्यूटनिक शब्द गॉड (God) ग्रहण किया जाता है। यह सत्य है कि उपरोक्त तीनों शब्द वह अर्थ नहीं देते जो संस्कृत का 'देव' शब्द देता था, अर्थात् ये शब्द आकाश के प्रकाशमान् 'प्रतिनिधि' का अर्थ नहीं देते, फिर भी आज भी उनके 'आकाश में या आकाश के ऊपर स्थित शक्ति' अर्थ का लोप पूर्णतया नहीं हो सका है।

आज भी जब हम भगवान को स्मरण करते हैं तो अनजाने ही हमारे नेत्र आकाश की ओर उठ जाते हैं। अभी थोड़े ही दिनों पूर्व तक हमारे गिर्जाघरों में भी ठीक उसी प्रकार की प्रार्थनाएँ की जाती थीं, जैसी प्रार्थनाएँ वैदिक ऋषि लोग इन्द्र की किया करते थे जिससे कि इन्द्र बादलोंको भेज कर निदाघ त्रस्त भूमि को हरी-भरी कर दें। यह सत्य है कि क्रिश्चियानिटी ने भगवान का ज्ञान अधिक स्पष्ट एवम् सत्य रूप में हमारे सामने रक्खा है, उसकी शक्तिमत्ता का अधिक सही चित्रण किया है तथा उसकीइच्छा की पवित्रता पर अधिक बल दिया; फिर भी अधिकांश ईसाइयों के लिए आज भी उनका भगवान पर-चेतना-मय ही है। हमारा विश्वास हो गया है कि भगवान बादलों में रहता है, वह पृथ्वी से इतना अधिक ऊपर की ओर हटकर है जो मानव की तथा मानव की बुद्धि की गति से परे है और आज भी ईसाई ससार जेहोवा के अत्युज्वल वैभव के अत्यधिक समीप पहुँच सकने की कल्पना मात्र से घबरा उठता है। ईसामसीह का यह उपदेश हमें पर-मात्मा के प्रति असम्मानजनक-सा लगता है कि 'हममें और भगवान में वही सम्बन्ध है जो पुत्र एवम् पिता में होता है। 'भगवान् सर्वत्र तथा सदा हमारे पास रहता है' 'हम उसकी सन्ताने हैं' तथा 'मानवत्व एवम् ईश्वरत्व के बीच कोई अगम्य रोक नहीं है;' इस प्रकार के विचारों को हमारे यहाँ पैंथइज्म (यह संसार ही ईश्वर है) का नाम दिया गया है जो अधिक सम्मानित वाद नहीं है, परन्तु ईसाई मजहब से यदि इसा पैंथ इज्म को निकाल दिया जाय तो वह ईसाई मजहब ही नहीं रह जायगा। रह जायँगे उसकी कुछ शक्तियों के प्रति केवल हमारे कुछ ढीले ढाले विश्वास जो हमें प्रकृतिगत परमात्मा के प्रति ही

भयत्रस्त बनाये रखते हैं, यद्यपि हम यह जानते हैं कि हमें परमात्मा की उस शक्ति के प्रति भयत्रस्त रहना चाहिए, जिसका निवास हमारे अन्तर में है।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि वर्तमान की अपेक्षा प्राचीन काल में भाषा का प्रभाव विचारों पर अधिक था। मेरा विश्वास है कि प्राचीन हिन्दू दार्शनिकों ने इस बात को भली भाँति समझ लिया था और इसीलिए उन्होंने प्राचीन भाषा को आप्त वचन के रूप में प्रतिष्ठित किया था और उसे उतना ही प्रामाणिक माना था, जितना प्रत्यक्ष दर्शन को अथवा अनुमान को। इस प्रकार उन्होंने इस तथ्य को मान्यता दी थी कि जिस प्रकार घोंघा अपनी ही बनायी हुई कोठरी में सीमित रहता है, ठीक वैसे ही मस्तिष्क अपने विचारों के भीतर ही सीमित रहता है। यह एक विचित्रता ही है कि हमारे आधुनिक दार्शनिकों ने भाषा के इस महत्व को बहुत ही कम समझा है और वे उसकी विचार-प्रभ-विष्णुता को कुछ भी महत्व देना नहीं चाहते।

उदाहरण स्वरूप, हम जानते हैं कि पुराणाशास्त्र में प्रत्येक निर्जीब वस्तु को सजीव करके मान लिया गया है। किसी भी नदी या चन्द्रमा को जीवनमय रूप क्यों दिया गया है? इस प्रश्न का सामान्य समाधान केवल यही हो सकता है कि ऐसा हुआ है या किया गया है, किन्तु हम जानते हैं कि ऐसा होना स्वाभाविक था किंबहुना अनिवार्य था। भाषा के ऐतिहासिक विकास के क्रम में ऐसा होना ही चाहिये था जो वास्तव में हमारे विचार-विकास का इतिहास है। जिस समय चन्द्र शब्द को जन्म मिला होगा तो किसी ऐसे शब्द की खोज हुई होगी, जो चन्द्रमा का अधिकाधिक वर्णन कर सके। उस समय काल प्रणाली की माप का सर्वाधिक प्रमुख आधार चन्द्र ही था अतएव उसका नामकरण हुआ 'मा' धातु से, जिसका अर्थ होता है 'मापना'। एक बार जब चन्द्रमा का नामकरण 'मास' हो गया तो यह भी आवश्यकता आ पड़ी कि उसे स्त्रीलिंग माना जाय या पुलिंग, क्योंकि उस समय तक 'नपुंसक लिंग' हमारी विचार प्रणाली में नहीं आता था। धातुएँ जितनी भी हैं वे सब किसी न किसी क्रिया को प्रगट करती हैं और उनका यह गुण आवश्यकतानुसार ही रक्खा गया था। ऐसी स्थिति में सरिता की कल्पना करते समय उसकी गतिशीलता पर

लोगों की सर्व प्रथम दृष्टि पड़ी। उसके पश्चात् उसकी गर्जनशीलता, उसकी रक्षिका शक्ति इत्यादि पर दृष्टि गयी और यही कारण है कि नदी के ऐसे ही नाम रक्खे गये जिनका अर्थ होता है गर्जने वाली (नदी) चलने वाली (सरिता) रक्षा करने वाली (सिंधु)। 'नदी' बना नद=गर्जना से, सरिता बना सर=चलना से, और सिंधु बना सिध्=रक्षा करना से।

इस बात को आधुनिक विचारकों ने भी माना है कि पुराकालीन विचारकों एवम् विभिन्न वस्तुओं का नामकरण करने वालों ने यह मान रक्खा था कि प्रत्येक नदी में जीव होता है, क्योंकि प्रत्येक दौड़ सकने वाला जीवधारी होता है। आत्मा या जीव का वर्णनात्मक रूप समय क्रम के विचार से बहुत बाद की बात है। पानी को जीवधारी मानना एकदम से स्वाभाविक भी था और अस्वाभाविक भी। मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूँ कि पुराणशास्त्र के रहस्यों की वास्तविक कुंजी इसी एनिमिज्म (एनिमिज्म के अनुसार प्रत्येक पदार्थ में जीव होता है) में है और एनिमिज्म के वास्तविक रहस्य की कुंजी भाषा में है।

यद्यपि प्रकृति के विभिन्न उपादानों को प्रगट करने वाले शब्दों या शब्द समूहों पर ही पुराणशास्त्र का आधार है, यद्यपि जीअस, जुपिटर तथा द्यौस् मूलरूप में आकाश शब्द के ही अर्थ में प्रयुक्त होते थे, फिर भी कर्ता के रूप में ही और इसी लिये जीवधारी के ही रूप में उनकी प्रतिष्ठा की गयी थी, क्योंकि आदिम मनुष्यों को पदार्थों या दृश्यों का जीवमय रूप ही अधिक पसन्द आता था और इसी पसन्दगी के आधार पर सभी पदार्थों, वस्तुओं, दृश्यों इत्यादि का नामकरण कर लिया गया था। पुराणशास्त्र के अध्येता जो विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं, उसका एकमात्र कारण यही है कि वे इस शास्त्र के समग्र रूप का अध्ययन न करके इसके विभिन्न अंगों का ही अध्ययन करते रहे हैं। कुछ विचारकों का मत है कि समूचा पुराण शास्त्र सौरमूलक है। इस मत की समाचार पत्रों में इतनी अधिक चर्चा हुई है कि लोग अब ऊब से गये हैं। न तो इससे कोई इनकार ही कर सकता है और न इस बात को मान्यता ही दे सकता है कि पुराण की सारी कथाएँ शुद्ध रूप से सौर कथाएँ ही हैं। प्रारम्भ में कुछ लेखों में मैंने भी कुछ कथाओं को सौरकथाओं का ही रूप दिया

था और इसी लिये कथाओं के सौरमूलक (Solar) होने के कट्टर समर्थक मि० ग्लैडस्टोन ने मुझे भी अपना मतानुयायी मान लिया है। मान लीजिये कि एक नक्षत्र शास्त्री सूर्य पर एक निबन्ध लिखता है। क्या यह आवश्यक है कि वह उक्त लेख में अन्य नक्षत्रों एवम् तारों की स्थिति ही भूल जाय और यदि वह भूल ही जाय तो क्या अन्य विद्वान् उसे उन नक्षत्रों के विषय में अज्ञ ही कहेंगे ? क्या वे कह सकते हैं कि आकाश में चन्द्रमा एवम् सितारों की खोज केवल उन्होंने ही किया है ? जिस समय मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, उस समय भी एक पत्रिका में एक लेख निकला है, कि कथाओं का सौर मूलक सिद्धान्त फैशन के विपरीत हो गया है। मैं तो यहाँ तक कह सकता हूँ कि उक्त सिद्धान्त कभी भी जनप्रिय नहीं रहा। किसी भी मत या वस्तु का सर्वप्रिय हो जाना भी उसके विनाश का कारण होता है। मेरा दृढ़ विश्वास है कि यदि डारविन का विकासवाद इतना अधिक सर्वप्रिय न हो गया होता तो शायद इतनी शीघ्र वह इतना अधिक प्रभावहीन नहीं होता। वैज्ञानिक सत्य कभी जनमत की अथवा सर्वप्रिय होने की अपेक्षा नहीं करता। व्यक्तिगत मतों की भी वह उपेक्षा करता रहता है। मैनहार्ट की पुराण-शास्त्र सम्बन्धी खोजें कभी भी फैशन की वस्तु नहीं हुईं यद्यपि उनमें सत्यों की कमी नहीं है। मैंने कभी भी मैनहार्ट के पौराणिक सिद्धान्तों की चर्चा नहीं की इसलिए कितने ही लोगों का मुझ पर यह अपवाद है कि मैं उनका प्रबल समर्थक हूँ परन्तु बात ऐसी है नहीं। वास्तविकता यह है कि मुझे भी मैनहार्ट की बातें ठीक जान पड़ीं परन्तु वे पुराणशात्र के जिस अंग के विषय में हैं, वह मेरे अध्ययन क्षेत्र के सर्वथा बाहर रहा है और मेरा ढंग ही यह रहा है कि अपने क्षेत्र के बाहर वाले विषय पर मत-प्रकाश करना मैंने न्यायोचित नहीं माना है। मुझे यह बात बहुत ही निराशाजनक लगी कि मैं पहले हाटेनटाट्स एवम् मावरी कथाओं से विद्वत्तापूर्ण परिचय प्राप्त करूँ, उनकी पारस्परिक एवम् स्थानीय कथाओं का ज्ञान प्राप्त करूँ या उनके ज्ञाताओं का सहयोग प्राप्य करूँ और तब मैनहार्ट के सिद्धान्तों पर अपना मत लोगों के समक्ष रक्खूँ।

इतिहास-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए पुराण-शास्त्र सोने की अक्षय खान है, चाहे प्राचीन पुराणशास्त्र हो या आधुनिक, असभ्य

जातियों की कथाएँ हों या सभ्य जातियों की, चाहे सौर कथाएं हो या चान्द्र। हमारे सामने प्राणिविज्ञान की पुराण-कथाएं हैं, वनस्पति विज्ञान की पुराण कथाएं हैं, इतना ही महत्वपूर्ण और लाभ-जनक नक्षत्र-विज्ञान, मजहब एवं दार्शनिक पुराणशास्त्र का विषय भी हो सकता है। मैं तो हर नयी देन का स्वागत करता हूँ बशर्ते कि वह देन उचित हो, ईमानदारी पूर्वक दी गयी हो और वह सतत् श्रेयस्कर अध्यवसाय का परिणाम हो। पिछले कई वर्षों से मि० लैंग ने मैनहर्ट एवम् अन्य विद्वानों के दुर्बोध सिद्धान्तों का सरलीकृत रूप प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। मुझे यह भी पता है कि इन विद्वानों की जो बातें लैंग साहब को ठीक नहीं जँचीं, उनकी आलोचना भी उन्होंने यत्र-तत्र किया है। यह ढंग ठीक ही है। उन्हें ज्ञान है कि किसी क्षेत्र में कोई विद्वान् कहां तक जा सकता है या उसे कहाँ तक जाना चाहिए। वे यह भी जानते हैं कि समालोचना में व्यंगों का सहारा तभी लेना चाहिए जब समालोचना के सभी ढंग असफल हो जायँ। उनमें इतनी समझ है कि वे समझते हैं कि उन्हें अनुचित या गलत लगने वाली बातें भी सत्य हो सकती हैं। उन्होंने कठिन श्रम किया है और जन-कथाओं के प्रति पर्याप्त लोकरुचि जाग्रत करने का श्रेय उन्हें है या यों भी कह सकते हैं कि जनकथाओं में रुचि-प्रदर्शन को उन्होंने फैशन की वस्तु बना दिया है परन्तु हमें इस सिद्धान्त को भी न भूलना चाहिए कि "गलत का उलटा सही होता है या विरोधी का विरोधी मित्र होता है।"

बुद्ध सम्बन्धी कथाओं या हेराकिलस के शोषणों का अध्ययन करने से यह बात एकदम स्पष्ट हो जाती है कि पौराणिक आख्यानों में इतिहास की भी सामग्री निहित रहती है। पितरोपासना को उद्देश्य पूर्वक ही पौराणिक कथाओं में खींच लिया गया था और इस प्रकार पित्रों को देवत्व की समता में लाने का प्रयास किया गया था। उपरोक्त धारणा की पुष्टि इसी बात से हो जाती है कि प्राचीन काल की मान्यता यह थी कि मरने के बाद लोग देवताओं के ही समान पूर्व या पश्चिम की ओर जाते हैं, सूर्य लोक अथवा चन्द्रलोक को जाते हैं और वहाँ देवों में मिल जाते हैं। इसी विवरण से एक बात यह भी स्पष्ट हो जाती है कि मनुष्यों में देवत्व की भावना पूर्ववर्ती है और पितृत्व की भावना परवर्ती।

यदि आप यह पढ़ लें कि 'थेमीज (विधि) जीअस की स्त्री, यूरनेस वॅगीया की बेटी तथा मोइराई (भाग्य, कर्म विधान) की साथिन थी और तीनों बहनें उस धागे को काता करती थीं, जिससे मानव-जीवन का निर्माण होता है;' तो आप को विश्वास हो जायगा कि पुराणों में दार्शनिक भावनाओं को भी स्थान मिला था।

हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अर्थशास्त्र के ही समान इस क्षेत्र में भी माँग और पूर्ति अन्योन्याश्रित हैं। हमारे समय में ज़ोला के उपन्यासों ने इतनी अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर ली है कि न केवल फ्रांस में ही वरन् इंगलैंड में भी ज़ोला टाइप के अनेक लेखक दिखायी पड़ने लगे हैं। यदि आज होमर के काव्यों की ओर जन-रुचि उन्मुख हो जाय तो हमारे देश में इलियड टाइप के महाकाव्यों के अनेक रच-यिता निकल आयेंगे।

ऐसी स्थिति में यदि यह प्रश्न किया जाय कि प्राथमिक आख्यानों को परवर्ती (मांग की पूर्ति के रूप में रचे गये) आख्यानों से कैसे अलग किया जाय तो उसका उत्तर यही होगा कि ऐसा करना अत्य-धिक कठिन है, चाहे वे आख्यान किसी जाति की धार्मिक उपासना से सम्बन्धित हों, दार्शनिक वचनों से सम्बन्धित हों या केवल काव्या-त्मक अनुकरणों के परिणाम हो। पुराणशास्त्र के विज्ञान में कुछ प्रश्न तो ऐसे हैं ही, जिनका उत्तर अभी नहीं दिया जा सकता और शायद कभी न दिया जा सके, परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि हम उनमें से कुछ प्रश्नों का भी समाधान प्राप्त कर सकने का प्रयत्न ही न करें।

जिन महत्वपूर्ण साधनों की सहायता से हम इन पौराणिक स्मारकों में निहित रहस्यों के भेदन का प्रयत्न करते हैं या हमें करना चाहिये, वे हैं—शब्द विचार, समरूपता और मनोविज्ञान। अनेक लोगों ने समय-समय पर इन सभी साधनों का उपयोग किया है अतः हमारे समक्ष तुलनात्मक पौराणिक शोधों की तीन प्रणालियाँ आती हैं, जिन्हें शब्दविचार प्रणाली, तुलनात्मक प्रणाली, मनो-वैज्ञानिक प्रणाली कहा जाता है। तृतीय प्रणाली को कभी-कभी नृतत्व-शास्त्रीय प्रणाली भी कहा जाता है।

यदि हम पौराणिक कथाओं के किसी देवता या नायक के नाम का विश्लेषण शब्द रचनाशास्त्र के विचार से करें तो उसकी मूल

प्रकृति का बहुत कुछ सही अन्दाजा लग सकता है। वेद के देवों या नायकों तथा होमर के नायकों में प्रकृतिसाम्य देख लेने के पश्चात् यदि हम यह भी खोज लेते हैं कि ध्वन्यात्मक अन्तरों को छोड़कर उनमें नाम-सादृश्य भी है, तो हमारे सामने हमारा वह अति सुदूर अतीत सहसा प्रकाशित हो उठता है, जिसके बारे में हम अबतक नितान्त अन्धकार में थे। जिस व्यक्ति ने कभी शोध कार्य नहीं किया है, उसे शोधकर्ता के उस समय के आनन्द को अनुभूति नहीं हो सकती, जब उसके हाथ में सहसा कोई सूत्र लग जाता है और उसके पावों के नीचे का आधार ठोस-सा होता हुआ प्रतीत होता है। आप उस स्थिति की कल्पना कीजिये कि आप की भेंट अपने किसी ऐसे पुराने मित्र से हो गयी हो, जिसका रंग-रूप सब कुछ तो आप को परिचित जान पड़े परन्तु यह न याद आता हो कि उसका क्या नाम है और आप की उसकी भेंट कहाँ और किस स्थिति में हुई है। ऐसी ही स्थिति में कोई सहसा आप को उसका नाम बता देता है और अचानक आप के सामने उस मित्र से सम्बन्धित सारा अतीत प्रकाशित हो उठता है और उसके गले लग जाते हैं। शोधकर्ता का उपरोक्त आनन्द भी करीब-करीब वैसा ही होता है।

'वेद के वरुण से हमें यूरेनस की या यूरेनस से हमें वरुण की याद आ जाती है' यह सत्य है। अभी हमारे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि दोनों शब्दों की जन्मभूमि तथा जन्म देने वाली भावनाएँ एक ही हैं परन्तु जब हम देखते हैं कि वरुण शब्द 'वर=ढँक लेना, आच्छादित करना' धातु से उत्पन्न हुआ है और संस्कृत में आकाश का अर्थ आच्छादन करने वाला आकाश होता है (क्योंकि इसी धातु से संस्कृत 'वस्त्र'=cloak बना है) साथ ही हम यह भी जान लेते हैं कि ग्रीक शब्द यूरेनस वरुण के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है, तब हमें अपना आधार सुदृढ़तर जान पड़ने लगता है। हमें विश्वास होने लगता है कि वरुण और यूरेनस एक ही पौराणिक भावना के प्रतीक हैं और दोनों का रूप आच्छादन करने वाला ही है।

भाषा ही इतिहास की प्राचीनतम् एवम् सर्वाधिक प्रामाणिक साक्षी है। मेरा विश्वास है कि ऐसा कहा गया है कि शब्द-शास्त्र का स्वरूप तो स्थिर नहीं रहता और कभी-कभी उसका आधार भ्रामक हो सकता है। मैं पूछता हूँ कि क्या यही बात बेबीलोन एवम् मिश्र के लेखों,

वैदिक ऋचाओं एवम् अवेस्ता की गाथाओं के बारे में सत्य नहीं है ? क्या यही बात भौतिक विज्ञान के विषय में सत्य नहीं है, जो तथ्यात्मक होने का इतना अधिक दावा करता है ? क्या वाइज़मैन एवम् डारविन के सिद्धान्तों में अन्तर नहीं है ? ठीक उसी प्रकार शब्दों की साक्षी भी है। जो अपना मत स्वयम् स्थिर नहीं कर सकते, उन्हें प्रायः अकेला ही रहना पड़ता है। कोई भी पुराण शास्त्री अकेले शब्दों को साक्ष्य पर ही तो निर्भर रहता नहीं, वह आगे भी प्रामाणिकता की खोज तो करता ही रहता है। इतना ही पर्याप्त नहीं है कि वरुण और यूरेनस दोनों का अर्थ एक ही है और दोनों में नाम साम्य भी है। आवश्यकता इस बात की भी तो है कि इन दोनों देवों में मौलिक एकता है तथा दोनों की पौराणिक भावना भी एक ही है। आज सब लोग यह मानते हैं कि ग्रीक भाषा में यूरेनस का अर्थ होता है 'ऊपर छाया हुआ गोलाकार आकाश जो पृथ्वी का पति है।' हीसियोड का कथन है कि यूरेनस का अर्थ होता है 'सब को आच्छादित करने वाला तथा वही सब देवताओं का धारक है।' इसी से मिलती हुई बात ऋग्वेद की एक ऋचा में कही गयी है 'ध्रुवम् सदस् वरुणस्य।' जहाँ तक वरुण का सम्बन्ध है वेद में उनके चरित्र का विकास नैतिक रूप में अधिक हुआ है और ग्रीक-पुराण साहित्य में यूरेनस का स्थान अतिसाधारण है।

वेद के वरुण का विकास ठीक उसी दिशा में हुआ है, जिस दिशा में अवेस्ता के अहुरमज़्दा का विकास हुआ जो शुद्ध रूप से आध्यात्मिक एवम् नैतिक देवता हैं। यह भी कहना ठीक नहीं होगा कि अहुरमज़्दा के चरित्र में विकसित नैतिकता का वरुण में एकदम अभाव है। वेद में वर्णित तमाम देवताओं में वरुण अपने उपासकों के लिये सर्वाधिक हृदयहारी एवम् आत्मा पर प्रभाव डालने वाला है। परवर्ती काल में वरुण को पश्चिम दिशा एवम् सागरों का अधिपति माना जाने लगा था तो उसे सीधेसादे शब्द प्राचेतस् के नाम से अभिहित किया जाता था (विष्णुपुराण), उधर बौद्ध लोग उसे मनस्विन् कहने लगे थे। ऋग्वेद ५-८५ के अनुसार वरुण ने वायु को वनों में प्रसारित किया, अश्वों में शक्ति का संचार किया, गौओं में दूध उत्पन्न किया, मस्तिष्क में बौद्धिकता को स्थापित किया, सागर में अग्नि को स्थिर किया, सूर्य

को आकाश में स्थान दिया और चन्द्रमा को शिला पर स्थापित किया।

यदि यह आवश्यक जान पड़ा कि प्रत्येक देव को भौतिक स्तर पर ही होना चाहिये तो आकाश से बढ़ कर वरुण का प्रतीक और क्या हो सकता था ? यदि सूर्य को वरुण का नेत्र कहा गया है तो उसे आकाश के सिवा और कहा ही क्या जा सकता है ? यदि सूर्य और चन्द्रमा की कल्पना वरुण के दूरदर्शक नेत्रों के रूप में की गयी है तो वरुण का प्रतीक आकाश के सिवा और क्या हो सकता है ? यह भी सत्य है कि सूर्य को वरुण एवम् मित्र की आखें कहा गया है, परन्तु ऐसा हुआ है वैदिक ऋषियों के द्वित्व भावना के कारण, जो उनके विचार से समस्त प्रकृति पर छाया हुआ है। मैंने कई स्थानों पर बताया है कि हिन्दू ऋषि द्वित्व के प्रेमी रहे हैं और इसका प्रमाण है देव-युग्मों की कल्पना। इन स्वर्गीय युग्मों में एक का प्रयोग सदा दूसरे के लिये होता रहता है और कभी-कभी तो एक ही नाम से युग्म का बोध होता है। वैदिक ऋचाओं को देखने से पता चलता है कि जब भी मित्र एवम् वरुण को साथ-साथ सम्बोधित किया जाता है—और प्रायः इस युग्म को साथ ही साथ सम्बोधित किया जाता है, तो मित्र को दिवस का एवम् वरुण को रात्रि का प्रतीक माना जाता है।

वरुण की कल्पना वैदिक ऋषियों ने उसी प्रकार ढँक रखने वाले रूप में की जैसे छत कमरे को ढँके रहती है। देखिये अथर्ववेद ६-३,१८। इस ऋचा में घास-तिनके की बनी छत के रूप में रात की कल्पना की गयी है और रात के बीतने और खुलने का वर्णन निम्न-लिखित प्रकार से किया गया है;—'जिसे वरुण ने बन्द कर दिया है, उसे प्रातःकाल मित्र खोलेगा।' यद्यपि मित्र और वरुण की प्रकृति एक सी कही गयी है, फिर भी यह कार्य वरुण का ही है कि उज्वल वस्तुओं को कृष्णवर्ण का कर देता है (अथर्व ८-४१,१०) आगे यह भी कहा गया है कि 'सूर्य की उत्पत्ति वरुण से हुई है।' इसका तात्पर्य यही है कि रात्रि के गर्भ से सूर्य की उत्पत्ति होती है।

पालीनेशिया तथा मेलानेशिया की सृष्टि सम्बन्धी कथाओं में कहा गया है कि पहले पृथ्वी और आकाश एक में चिपटे हुए थे और किसी ऐसे देवता ने उन्हें अलग-अलग कर दिया, जो सूर्य के समरूपी थे। इसका तात्पर्य भी यही प्रतीत होता है कि रात्रि के अन्धकार में पृथ्वी

और आकाश सचमुच एकाकार हो जाते हैं और दोनों को भिन्न करके देखना असम्भव-सा हो जाता है। जब सूर्योदय होता है तो दोनों को अलग अलग करके देखना सम्भव हो जाता है और प्रत्येक वस्तु स्पष्ट दिखायी पड़ने लगती है। इसीलिये पुराणों में कहा गया है कि सूर्य की किरणों से ही पृथ्वी का सृजन हुआ है। ऋग्वेद (६·७०,१) का कथन है कि, 'आकाश और पृथ्वी को अलग-अलग करने का कार्य वरुण ने किया है।' आगे चलकर ऋषि ने कहा है कि, 'अग्नि ने अपने ज्वलन्त प्रकाश से आकाश और सागरों का सृजन किया है (अजनयत्)।' इसी प्रकाश को या अग्नि को द्यौस का पुत्र कहा गया है। उसी अग्नि के विषय में (१·९६,२) कहा गया है कि उसी अग्नि या प्रकाश ने आकाश को जन्म दिया है या उद्घाटित किया है। ऐसी स्थिति में वैदिक ऋषियों की कल्पना का वरुण तथा ग्रीक पुराणों का यूरेनस समान रूपी प्रतीत होते हैं। अब हमें यह भी देखना है कि तमाम स्थितियों में क्या उनके नाम भी समान रूपी हैं।

तुलनात्मक पुराणशास्त्र की एक प्राचीनतम खोज यह है कि वरुण=यूरेनस। और इस खोज को ध्वन्यात्मक दृष्टि से भी और पौराणिक दृष्टि से भी बल मिला है। अतः इसे अविवेक पूर्ण कहकर अलग नहीं कर देना चाहिये। वास्तव में संस्कृत में 'वरण' शब्द अधिक विचारणीय है, परन्तु 'उणादि सूत्रों' को देखने से पता चल जाता है कि 'वरण' और 'वरुण' शब्दों में अर्थभेद नहीं है। अभी हम संस्कृत साहित्य का अल्पांश ही जानते हैं, विशेषतया स्थानीय प्रयोगों के विषय में तो हम बहुत ही कम जानते हैं। ऐसी स्थिति में इन सबल प्रमाणों को अविचारणीय नहीं मान सकते। भारतीय वैयाकरणों की उपेक्षा का काफी दण्ड उपेक्षाकर्ताओं को मिल चुका है। अब हम उनकी और उपेक्षा नहीं कर सकते। आप यह तो कह नहीं सकते कि सूत्रकारों ने सूत्र रचना काल में ही यह जान लिया था कि एक दिन उनके सूत्रों की सहायता से वरुण=यूरेनस को सिद्ध करना होगा।

डा० जूलियस वान फरविजर ने प्रमाणित किया है कि यदि वरुण और यूरेनस शब्दों के मूलरूप की खोज की जाय तो हम निस्सन्देह 'वरण' शब्द पर ही पहुँचेंगे और वरण इसी वरुण का समरूपी एवम् समानार्थी शब्द है। 'वरण' शब्द की 'वर' धातु ही यूनानी भाषा में 'यूर' हो जाती है, जिसका अर्थ होता है 'द्रष्टा'। इसी से ग्रीक शब्द

यूरेनस बना है, जिसका अर्थ होता है—पानी। जिन्द भाषा का 'वार' एवम् संस्कृत भाषा का 'वारि' शब्द इसी धातु से बने हैं, जिनका अर्थ होता है—पानी।

यह पूछने की तो आवश्यकता ही नहीं है कि वरण शब्द बाद में वरुण कैसे हो गया, क्योंकि दोनों ही शब्द यद्यपि एक ही धातु से निकले हैं, किन्तु उनकी उत्पत्ति अलग-अलग एवम् सर्वथा स्वतन्त्र रूप से हुई है। हमारे मित्रों को आगे से यह नियम जान लेना चाहिये कि संस्कृत में यौगिक शब्द बनाने के लिये 'अण' और 'उण' सूत्रों का समान रूप से प्रयोग होता है। उपरोक्त कुछ स्थितियाँ ऐसी हैं, जिनमें अनेक जातियों के देवों के नामों में ध्वन्यात्मक साम्य भी है और अर्थात्मक साम्य भी है, फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि उनका मूल उनकी जन्म स्थिति भी समान है। यह बात उन्हीं भाषाओं के विषय में लागू होती है जो सहमूलक या समानमूलक हैं। 'रा' एक ऐसा शब्द है जो पालोनेशिया की बोल चाल की भाषा में एवम् मिश्र की भाषा में सूर्य के लिये प्रयुक्त होता है, परन्तु कोई भी विद्वान् इस बात को नहीं मानता कि इन दोनों भाषाओं में किसी प्रकार का ऐतिहासिक या पितृमूलक सम्बन्ध है। यही बात पालोनेशियन शब्द मरू=वायु तथा वैदिक शब्द मरुत्=वायु के विषय में भी लागू होती है। सहमूलक भाषाओं के लिये भी यह आवश्यक नहीं है कि नाम साम्य वाले शब्द समानार्थी भी हों। अवेस्ता का 'वारेना चत्रुगाओशा' शब्द वैदिक 'वरुण चतुरश्रो या चतुर्नीक' का समरूपी है। वारेना तथा वरुण में ध्वन्यात्मक साम्य भी हैं, परन्तु अवेस्ता-वारेना एक सुंदर देश का नाम मात्र है, अहुर्मज्दा द्वारा स्थापित देशों में जिसका क्रम चौदहवाँ है। इस देश की स्थिति कैस्पियन सागर के दक्षिण में एक पर्वतीय प्रदेश के रूप में मानी गयी है। इस मान्यता में पौराणिकता का कोई हाथ नहीं है, सिवा इसके कि थ्रायतोवना का जन्म इसी देश में हुआ था और उसने अजदहाक नामक दुष्टात्मा का बध किया था।

ऐसी भी स्थितियाँ देखने में आती हैं जहाँ नाम भेद के होते हुए भी देवताओं की सह-उत्पत्ति प्रमाणित की जा सकती है। आज तक

१—वरणो वरुणो वृत्र भेदश्च; वरुणो दिस्पतो तरो। ३-४३ (अनु०)

मुझे किसी भी विद्वान द्वारा उठायी गयी किसी भी ऐसी आपत्ति का पता नहीं है जो मि० राथ एवम् डारमेस्टेटर द्वारा स्थापित की गयी इस मान्यता का खण्डन करती हो कि, 'वैदिक वरुण एवम् अवेस्ता के अहुर में कोई अन्तर नहीं है; क्योंकि वैदिक मित्रावरुणौ एवम् अवेस्ता के मिथ्रा अहुरा में कोई अन्तर नहीं है।

उधर अवेस्ता के अनुसार सूर्य अहुर की आँख है, इधर वैदिक वरुण की भी आँख सूर्य ही है। वरुण के पुत्र का नाम अथवन है और अहुर के पुत्र का नाम अतर है। वरुण एवम् अहुर दोनों की स्त्रियों के रूप में नदियों की कल्पना है। वरुण मित्र के साथ द्वन्द्व बनाता है और अहुर मिथ्र के साथ। अहुर का संस्कृत रूप असुर है जो संस्कृत में पद या वर्ग सूचक है, किन्तु अहुर एक व्यक्ति वाचक संज्ञा बन गया है; यही दोनों का अन्तर है। इस अन्तर के होते हुए भी संस्कृत एवम् अवेस्ता में ये दोनों रूप आज तक निर्बाध रूप से चले आ रहे हैं।

अन्त में हम लोगों को मान लेना चाहिये कि यद्यपि ध्वन्यात्मक नियमों में कोई त्रुटि नहीं है, फिर भी कभी-कभी यह पता लगना असम्भव हो जाता है कि कोई पौराणिक नाम किस धातु से निकला है। जीअस की पत्नी का नाम है 'हेरा' किन्तु यह पता लगाना प्रायः असम्भव ही है कि इस शब्द की उत्पत्ति स्वर (आकाश) धातु से है या वस् (चमकना) धातु से। वृत्रासुर को इन्द्र ने मारा तथा हेराकिलस ने अर्थाज को मारा, इस युग्म की समानता एवं एकाकारिता में कोई सन्देह नहीं है यद्यपि इनकी जननी धातुओं में साम्य खोजना सरल नहीं है।

यद्यपि मुझे बॉय, बर्नाफ, बेंनफे तथा थॉट जैसे प्राचीन तथा डारमेस्टेटर, माईकेल ब्रील, ओल्डेन बर्ग, ब्लूमफील्ड तथा विक्टर हेनरी जैसे आधुनिक विद्वानों का समर्थन प्राप्त है, फिर भी मुझे इत्यलम् नहीं कर देना है। तुलनात्मक पुराणशास्त्र के नीति-शास्त्रीय प्रणाली पर चलने वालों के प्रति मेरा सदैव से ही प्रेम रहा है। जब भी किसी ऐसी भाषा की जनकथाओं का कोई संग्रह मेरे हाथ लग जाता है जिसे मैं नहीं जानता तो मेरी आत्मा सन्तुष्ट हो जाती है। प्रत्येक छात्र जानता है कि वैदिक अवेस्तिक ग्रीक, रोमन तथा ट्यूटानिक भाषाओं के पुराणशास्त्र का विश्लेषण करते समय

अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं परन्तु अब तो हम ऐसी भाषा में काम कर रहे हैं, जिसे हम अपने जन्म से ही बोल रहे हैं, समझ रहे हैं तथा अध्ययन कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि भविष्य के शोधकर्ता इन विषयों पर अधिक अधिकृत निष्कर्ष निकाल सकेंगे और तब हम देख सकेंगे कि इन जनकथाओं में अनेक विचित्रताओं के होते हुए भी कुछ प्रभावपूर्ण समानताएँ हैं। तब इन कथाओं का अध्ययन एवम् विश्लेषण करना सहज हो जायगा।

जब भी हम दो जातियों के पुराण शास्त्र की तुलना करें तो हमें केवल समानताओं पर ही विचार न करना चाहिए वरन् उन समानताओं के कारणों पर भी प्रकाश डालना चाहिए। यदि दो व्यक्ति एक ही प्रकार का आचरण करे तो उनका समान आचरण महत्वपूर्ण नहीं है वरन् महत्वपूर्ण है उन समान आचरणों का नियमन करने वाले कारण। जब तक हम यह न बता दें कि किस कारण से प्राचीन काल में अनेक जातियों के पुराणों में वर्ग परिवर्तन (मनुष्य से पशु, वृक्ष, पत्थर हो जाना) की बातें कही गयी है तब तक इन बातों का कोई महत्व नहीं हैं और यदि हम कारणों की खोज नहीं करते तो वैज्ञानिक सत्य की खोज में एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते।

पुराणशास्त्र पर कुछ कहने के पूर्व हमें मि० लैंग द्वारा स्थापित समालोचना के ६ मानदण्डों पर विचार कर लेना चाहिए :—

१—न्यूजीलैंड वालों का एक ऐसे देव पर विश्वास है जो दूसरे को ग्रस लेता है, इससे क्रोनोस द्वारा अपने बच्चों के निगले जाने वाली कहानी पर प्रकाश पड़ता है। यह मान लेने पर भी कि ग्रस लेने की कथा के उदाहरण में न्यूजीलैंड की कथा रक्खी जा सकती है, क्या हम उसके रहस्य को समझ सकेंगे? यदि न्यूजीलैंड की कुंजी से माओरी जाति की कथाओं का रहस्य भेदन होता है साथ ही क्रोनस का ताला भी खुल जाता है तो प्रत्येक शोधकर्ता को सन्तोष मिलेगा। जब तक ऐसा न होगा तब तक ग्रीस का रहस्य भी रहस्य ही बना रहेगा और न्यूजीलैंड का भी और इस रहस्य के बने रहने तक तो कोई सन्तुष्ट होगा नहीं। प्राचीन काल के पुराणों में निगल जाने की अनेक कथाएँ हैं। भारत में तो चन्द्रमा और सूर्य भी ग्रस लिये जाते हैं, लोग असम्मान को निगल जाते हैं, हार खा जाते हैं, शर्म पी जाते हैं। अंगरेजी में भी सूर्य पानी को पी जाता है, ओस की बूदों को

खा जाता है, अँधेरा प्रकाश को निगल जाता है, सागर नदियों को आत्मसात कर जाता है। सम्भव है कि इसी प्रकार की व्यंजनाओं को पूर्व या पश्चिम में पौराणिक रंग दे दिया गया हो, परन्तु यदि हम जीअस या पेलॉप्स या टैंटेलस द्वितीय की कथाओं को पढ़ें तो उन पर न तो न्यूजीलैंड की कथाओं से प्रकाश पड़ता है न अफ्रीका की कथाओं से। यूनानी कथाओं में कहा गया है कि यद्यपि पेलॉप्स को देवताओं के लिए ही पका दिया गया था, परन्तु उन्होंने उसे खाना पसन्द ही नहीं किया। अन्त में देवताओं ने उसके कटे अंगों को फिर से जोड़ा, परन्तु चूंकि कंधे का अंग गायब था अतः हाथी-दाँत का कन्धा बना दिया गया। पेलॉप्स को भी जीअस की तरह क्रोनियस कह कर पुकारा गया। ऐसा प्रतीत होता है मानो नराहार उस परिवार की पैत्रिक प्रकृति ही थी; क्योंकि एट्रियस ने अपने भाई थीइस्टस के बेटे टैंटेलस नूरे को मार कर पका डाला और थीइस्टस से आग्रह किया कि वह उसे खाय। भला आस्ट्रेलिया की कथाओं से ग्रीस की इन भयानक कथाओं का रहस्य कैसे खुलेगा? यदि कोई कहे कि इन पौराणिक कथाओं के जन्म के समय ग्रीस में अपनी ही संतति को खा जाने की परम्परा थी, तो उन्हें ऐसा मानने दिया जाय, क्योंकि यह तो सिद्ध नहीं किया जा सकता कि यह मान्यता गलत है।

२—ग्रीक परिवार जीअस के वंशज हैं इस बात को भविष्य में टोटमिज्म या ओटमिज्म के सहारे समझाया जा सकता है, परन्तु हमें समझ लेना चाहिए कि इस विषय में टोटमिज्म का प्रयोग किस प्रकार हुआ है। कुछ दिनों पूर्व ही मैंने यह बताने का प्रयत्न किया था कि जिस प्रकार का टोटमिज्म उत्तरी अमेरिका के रेड इंडियनों में प्रचलित है, उसका स्वरूप यह है कि प्रत्येक कबीले के अधिकार क्षेत्र के प्रवेश-स्थल पर लट्ठों में बाँध-बाँधकर किसी पशु विशेष का चित्र लटकाया रहता था। धीरे-धीरे यह परम्परा सी चल गयी। एक कबीले वाले सदैव एक ही पशु का चित्र लटकाने लगे और कालान्तर में वे उसी प्रकार उस पशु का आदर करने लगे जैसे आज के लोग अपने अपने झंडों का आदर करते हैं। धीरे-धीरे उस पशु के प्रति उस कबीले वालों के मन में पवित्रता के भाव उदय होने लगे और आगे चल कर वे अपने को उसी पशु का वंशज कहने लगे। इसी परम्परा को टोटमिज्म कहते हैं। यह सारा विवरण मानवीय भी है और तर्क-संगत

भी। यह सम्भव है कि जो बात अमेरिका में हुई वह ग्रीस में भी हो सकती है, परन्तु सम्भावना के आगे हम नहीं जा सकते। हो सकता है कि ग्रीस वाले जीअस के वंशज हों किन्तु उनके इस प्रकार के विचार का कारण वही नहीं हो सकता जो रेड इंडिया के बारे में था। हम जानते हैं कि स्वयम् ग्रीस में भी ऐसे कारण मौजूद थे जिनसे इस प्रकार के विचारों की उत्पत्ति हो सकती थी। यह बात भी कुतूहल-जनक है कि लोडा के वंशजों को स्वान (Swans) कभी नहीं कहा गया, न यूरोप के वंशज बुल (Bull) कहलाये और न डेने के वंशज गोल्डशावर्स (Gold showers) ही कहलाये। आर्केडिया वाले भी जीअस को ही अपना आदि पुरुष मानते हैं परन्तु उन्होंने रीछ रूपधारी जीअस की उपासना कभी नहीं की। ऐसा विश्वास किया जाता है कि अर्कास की माँ कैलिस्टो मादा रीछ में परिवर्तन हो गयी थी, परन्तु यह परिवर्तन अर्कास के जन्म के बाद हुआ था। यदि हम ऐसा विश्वास करना पसन्द करें कि आर्केडिया निवासी रीछ को ही ओटम के रूप में मानते थे तो हम ऐसा विश्वास कर सकते हैं परन्तु हम जानते हैं कि उनके ऐसा करने के अनेक अन्य कारण भी थे। वास्तविक ओटमिज्म केवल उत्तरी अमेरिका में ही प्रचलित है। केवल इसी कारण पुराण शास्त्र पर विचार करने के लिए मैंने शब्द विचार प्रणाली को हितकर माना है। वास्तव में ओटम का शब्दार्थ ओटम कथाओं से अधिक सहायक है। हम जानते हैं कि संसार की अनेक जातियों ने संसार के अनेक पशुओं को पवित्र माना है, परन्तु उन्हें ओटम (जाति चिन्ह) कभी नहीं माना। संसार में कितनी ही ऐसी जातियाँ हैं जो पशुओं के नाम से पुकारी जाती हैं परन्तु उस जाति के लोग ओटम के विषय में कुछ भी नहीं जानते।

३—क्यूपिड तथा साइको व उर्वशी तथा पुरुरवा जैसी कहानियों का अर्थ निषेध भंग के सूत्र से समझाया जा सकता है, ऐसा कहा जाता है परन्तु हमें ध्यान रखना चाहिए कि निषेध को हम निषेध के रूप में ही लें। हर व्यक्ति अपने अधीनस्थों को किसी न किसी काम के लिये मना करता है तथा न मानने पर दंड भी निर्धारित किये रहता है परन्तु इस संदर्भ में हम निषेध शब्द का प्रयोग नहीं करते। तात्पर्य यह कि हमें प्राहिबिशन तथा टैबू (Prohibition and Taboo) के अर्थ भेद को ध्यान में रखना चाहिए। उर्वशी और पुरुरवा

में यह शर्त थी यदि पुरुरवा नंगे शरीर उर्वशी की दृष्टि में पड़ जायगा तो वह चली जायगी। इस शर्त को इस प्राकृतिक स्थिति से समझाया जा सकता है कि ज्योंही सूर्य अपने बादलों के वस्त्र को छोड़ कर सामने आता है, त्योंही ऊषा सामने से गायब हो जाती है या एक वैदिक ऋचा के अनुसार सूर्य को साँस लेते हुए देख कर ऊषा अन्तर्ध्यान हो जाती है। ऐसी शर्तों को निषेध के रूप में नहीं लिया जा सकता। ये तो परिस्थितियों के अनिवार्य परिणाम का ज्ञान हो जाने से पैदा हो जाती हैं। जहाँ तक क्यूपिड तथा साइकी की कथा का सम्बन्ध है, यह कथा पौराणिक कथा नहीं है वरन् दार्शनिक कथा है तथा जीअस व क्रोनस की कथाओं के बहुत बाद की है।

४—कहा जाता है कि विभिन्न कथाओं में अग्नि को चुरा ले जाने की बात कही गयी है, इस रहस्य को नृतत्व शास्त्री ही समझा सकते हैं। ऐसा हो सकता है, परन्तु यदि उन्होंने खोज लिया है कि सोम को चुराने वाला ही अग्नि को भी चुराने वाला है तो फिर उन्हें चाहिये कि वे उस मत-विरोध का भी शमन कर दें जो सोम की वास्तविक प्रकृति के विषय में प्रोफेसर हिल ब्रायट तथा प्रोफेसर ओल्डेन बर्ग के बीच उठ खड़ा हुआ है।

५—हम जानते हैं कि समस्त संसार की सभी सभ्य अर्द्धसभ्य या असभ्य जातियों में पितृलोक एवम् नरक की कल्पनाएँ की गयी हैं। वास्तव में ऐसा न होना ही एक विचित्र बात होती। इसमें सर्वाधिक रुचिपूर्ण है। विभिन्न जातियों की विभिन्न रूप में नरक विषयक कल्पना। प्रत्येक जाति के नरक की कल्पना अपने ही किस्म की है। शीतप्रधान देशों का नरक अत्यधिक ठंढा है तथा गर्म मुल्क वालों का नरक अत्यधिक गर्म है।

६—मृत्यु का जन्म होना प्रत्येक जाति में माना जाता है। कहीं पर निषेध भंग के फलस्वरूप उसका जन्म हुआ, कहीं पर जादूगरी के फलस्वरूप, कहीं पर सेब खाने से, कहीं निषिद्ध तालाब में स्नान करने से मृत्यु का जन्म हुआ है, परन्तु इन तमाम बातों से आर्टमिस तथा उसके भाई अपोलोन के बाणों की व्याख्या नहीं हो सकती। इस विषय में मृत्यु का जन्म होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितने महत्वपूर्ण हैं वे कारण, जिनसे इन कथाओं को जन्म मिला।

उपरोक्त सभी बातों को मैं मानता हूँ। यह भी मानता हूँ कि इन सभी बातों में सत्य का कुछ अंश अवश्य है, पर जब मैं देखता हूँ कि इसके प्रचारक लोग केवल इन्हीं ६ बातों से संसार भर के पुराणशास्त्र की व्याख्या करने का दम भरते हैं तो मुझे आश्चर्य होता है। मेरी समझ में तो यह आता है कि हमें पौराणिक कथाओं को नहीं समझना है, बल्कि समझना है इन कथाओं में निहित उनकी आत्मा को, उनमें निहित विचारों को।

संसार के कोने-कोने से हर प्रकार की पौराणिक कथाओं को संग्रहीत कर लिया गया है। शोध करने वालों के लिये इन कथाओं में समानताओं की कमी नहीं है, परन्तु जब तक इनके अन्तर्गत निहित विचारों को नहीं समझा जा सकेगा, तबतक हमें कोई ऐसी वस्तु नहीं प्राप्त होगी, जिससे हम संतोष कर सकें।

पुराणशास्त्र के विज्ञान का यही आकर्षण है और यही कारण है कि इस क्षेत्र में शोध करने वाले छात्र इसमें इतनी अधिक रुचि लेते तथा इतना अधिक परिश्रम करते हैं जब कि अन्य लोगों की राय में यह क्षेत्र बचपन से भरा हुआ है। मुझ पर प्रायः यह दोष लगाया जाता है कि मैंने इस क्षेत्र में अत्यधिक समय नष्ट किया है, परन्तु मुझे तो यही कहना है कि इस विषय ने मुझे जीवन भर आनन्द प्रदान किया है। अन्यों के लिये मैंने बहुत कुछ किया है अब अपने जीवन के सांध्यकाल में मैं अपने आनन्द के लिये अपनी रुचि का काम करना चाहता हूँ। मुझे पौराणिक व्याख्यानों में जो कुछ ऊपर से दिखायी देता है उससे बहुत अधिक पाने की आशा है और मेरा विश्वास है कि भविष्य में अन्य लोग भी मुझसे सहमत होंगे। मुझे प्रसन्नता है कि मैं इतना काफी दिनों तक जीवित रहा कि मेरे जीवनकाल में ही मेरे उन सिद्धान्तों को मान्यता मिल गयी, जिनका प्रारम्भ में अति प्रबल विरोध हुआ था। आज भी मेरा विश्वास है कि सत्य को सामने आ जाने की कोई जल्दी नहीं है। इसी लिये आज मैं एक बार पुनः इन निबन्धों को इस आशा के साथ पाठकों के समक्ष रख रहा हूँ कि शायद ये निबन्ध कुछ नये मित्र प्राप्त कर सकें और जो लोग मेरे विचारों से सहमत नहीं हो सके हैं वे एक बार फिर से वैसी ही सौहार्दपूर्ण आलोचना करने का अवसर पा सकें, जैसी आलोचनाओं से मुझे जीवन भर प्रेम रहा है। मेरा विश्वास है कि ऐसी आलोचनाएँ हमें

ज्ञान-पथ पर, सत्यान्वेषण के मार्ग पर आगे बढ़ा सकती हैं। केवल आलोचना के लिये की गयी आलोचना का कोई महत्व नहीं है, क्योंकि वे ज्ञान-पथ को अवरुद्ध कर देती हैं। लोग कहेंगे कि इन निबन्धों में अनेकों पुनरावृत्तियां हैं, परन्तु ऐसा कहने वालों को जानना चाहिये कि ये सभी निबन्ध न तो एक साथ लिखे गये हैं और न एक साथ प्रकाशित ही हुए हैं। एक बात यह भी है कि बार-बार एक ही प्रकार के प्रश्न मेरे सामने आते रहे हैं और उनका समाधान करने में पुनरावृत्तियाँ अनिवार्य हो गयी हैं। मुझे सत्य एवम् सत्य की स्थापना से प्रेम है। मुझे व्यक्तिगत विजय की कोई आकांक्षा नहीं है। पुराणशास्त्र का भविष्य उज्वल है, इसकी सम्भावनाएँ भी विशाल हैं और मेरा भी दृढ़ विश्वास है कि यह शास्त्र दर्शन को भी प्रभावित करने में समर्थ है और धर्म को भी। सम्भव है कि मैं अपनी तमाम इच्छाओं को पूर्ति होने के समय तक जीवित न रह सकूँ, फिर भी इस क्षेत्र में आज तक जो कुछ किया जा सका है, उससे मुझे सन्तोष है। मुझे विश्वास है कि आनेवाले समय में भी कुछ लोग अवश्य ही ऐसे होंगे जो इस कार्य को नवीन उत्साह के साथ आगे बढ़ावेंगे और उनके शोध कार्य में अधिक अध्यवसाय, अधिक विद्वत्ता एवम् अधिक बुद्धिमत्ता का समावेश होगा और उन्हें अधिक शानदार कामयाबी भी मिलेगी।

आक्सफ़ोर्ड, अगस्त १४,१८६५ एफ़० मैक्समुलर

—: * :—

तुलनात्मक पुराण-शास्त्र

(१८५६)

फोड्रस—क्या तू उस चौड़ी पत्तियों वाले उस ऊँचे पेड़ को देखता है?

सुकरात—निश्चय ही मैं देख रहा हूँ।

फो०—वहाँ छाया है, हवा भी तेज नहीं है, बैठने के योग्य घास भी है, जहाँ हम चाहें तो लेट भी सकते हैं।

सु०—तो वहीं ले चल।

फो०—हे सुकरात! मुझे बताओ कि क्या वह स्थान यहीं कहीं है, जिसके बारे में लोग कहते हैं कि इलिसास से बोरियस ने ओरीथिया को भगा लिया था।

सु०—ऐसा ही तो लोग कहते हैं।

फो०—क्या वह स्थान यही नहीं हो सकता? क्योंकि यहाँ की नदियाँ सौन्दर्यमयी हैं, पवित्र है, स्वच्छ सलिला हैं जैसे इनके तट लड़कियों के खेलने के लिये ही बने हों।

सु०—नहीं, वह स्थान यहाँ से थोड़ी दूर आगे है, जहाँ से अग्रा के मन्दिर को रास्ता जाता है और वहीं कहीं बोरियस के स्मारक में एक चबूतरा बना हुआ है।

फो०—मैं यह बात नहीं जानता था, परन्तु हे सुकरात, तुम्हें जीअस की शपथ है, तुम मुझे बताओ कि क्या तुम इस कथा की सत्यता में विश्वास करते हो?

सु०—यदि अन्य बुद्धिमान पुरुषों की तरह मैं भी इसकी सत्यता पर विश्वास नहीं करता तो मैं बहुत बड़ी गलती नहीं करता। इसकी व्याख्या के लिए एक स्पष्ट सिद्धान्त का निरूपण किया जा सकता है कि 'जब ओरीथिया अपनी सहेली फार्मेकिया के साथ खेल रही थी तो बोरियस (उत्तरी हवा) उसे उड़ा ले गया और इस उड़ान में चूंकि वह मर गयी अतः यह प्रसारित हो गया कि बोरियस उसे वहाँ से उठा ले गया। जहाँ तक मेरा प्रश्न है, मुझे ये व्याख्याएँ अच्छी लगती हैं परन्तु कठिनाई यह है कि इनको मानने के लिये सबल मस्तिष्क एवं सतत् अध्यवसाय की आवश्यकता पड़ती है। यदि एक व्यक्ति अकेली इस कथा की व्याख्या कर डाले तो उसे हेपाकंट्रर्स तथा शिमारा की व्याख्या भी करनी पड़ेगी। फिर इसके बाद तो एक के

बाद अनेक व्याख्याओं की आवश्यकता पड़ने लगेगी। उसके सामने गार्गस तथा पेगासुई खड़े हो जायँगे, साथ ही अनेक दानवों की पंक्ति खड़ी हो जायगी। उन दानवाकृतियों पर विश्वास न कर सकने वाला व्यक्ति यदि सबकी व्याख्या करना चाहे तो उसके लिए बहुत समय लगेगा। मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं इस विषय पर विचार कर सकूँ। एक कारण यह भी है कि अभी मैं अपने को ही नहीं जान सका हूँ। मुझे तब अवश्य आश्चर्य होता है जब मैं देखता हूँ कि अपने को ही न जान पाने वाला मनुष्य सहस्रों ऐसी बातों को जानने का प्रयत्न करता है, जिनसे उसे कोई मतलब नहीं रहता। अतः अन्य साधारण जनों की तरह मैं भी इन कथाओं पर विश्वास कर लेता हूँ और अपना समय अपने ही को जान सकने में लगाता हूँ कि कहीं मैं टाइफन से भी अधिक विचित्र और भयंकर दानव तो नहीं हूँ या मैं एक साधारण पालतू प्राणी हूँ और प्रकृति ने हमें जो कुछ दे दिया है उसी का उपभोग करने में मस्त रहता हूँ; परन्तु जब तक मैं इन बातों को कह रहा हूँ तब तक तुम यही बता दो कि क्या इसी पेड़ की ओर तुम इङ्गित कर रहे थे।

फो०—हां, यही वह पेड़ है।

उपरोक्त उद्धरण प्लाटो के 'फेड्रास' की भूमिका से लिया गया है। इसे प्रायः यह दिखाने के लिए उद्धृत किया जाता है कि ग्रीस के बुद्धिमान जनों का विचार समकालीन बुद्धिवादियों के प्रति कैसा था। प्रायः सभी देशों के बड़े नगरों के समान एथेंस में भी ऐसे व्यक्ति रहते थे, जो मानवेतर कार्यों में विश्वास नहीं करते थे। उनमें इतना नैतिक साहस तो नहीं था कि वे उन बातों का खुला विरोध करते, जिनमें उन्हें विश्वास नहीं था। अतः वे ऐसी बातों के लिये जन-रुचि के अनुकूल कोई समुचित व्याख्या की खोज में लग जाते थे और प्रयत्न करते थे कि परम्परा से चली आती रहनेवाली ऐसी प्राचीन कथाएँ तर्क की तथा प्रकृतिगत नियमों की सीमा में आ जायँ, जिन्हें कानून से मान्यता प्राप्त हो गयी थी तथा जिन्हें धार्मिक रूप से पवित्र मान लिया गया था। यद्यपि सुकरात पर भी लोक-विरोधी बातें कहने का अभियोग लगाया गया था। वह भी इन व्याख्या खोजियों को आदर की दृष्टि से नहीं देखता था। वह इनकी व्याख्याओं को उन पौराणिक कथाओं से भी अधिक तत्वविहीन तथा भ्रामक मानता था। अपनी प्रौढ़ावस्था में तो वह इस प्रकार के प्रयत्नों को असंगत, अपवित्र तथा अनधिकृत

चेष्टा के रूप में देखने लगा था। उसकी यह प्रवृत्ति उपरोक्त उद्धरण तथा 'प्लाटो व जेनाफन' के अन्य विवरणों से प्रगट होती है।

ग्रीस के इतिहास पर लिखते हुए मि० ग्रोटे ने उपरोक्त विवरण तथा अन्य समान विवरणों को इस विचार से उद्धृत किया है कि सुकरात को भी इतिहास-कर्ता तथा समालोचक मानकर यह सिद्ध किया जा सके कि 'ग्रीस की पौराणिक कथाओं में ऐतिहासिक सामग्री की खोज करना व्यर्थ है।' यदि इन विवरणों को उद्धृत करने में मि० ग्रोटे का यही उद्देश्य रहा हो तो हमारे पक्ष में सुकरात को जितना कहना चाहिये था, उससे कहीं अधिक वह कह गया है। ग्रीस देश की या अन्य किसी प्राचीन देश की पौराणिक कथाओं पर विचार करने का हमारा उद्देश्य उस उद्देश्य से एकदम भिन्न है, जिसके बारे में सुकरात को आपत्ति है। उसकी आपत्तियाँ हम पर लागू ही नहीं होतीं। तनिक सोचिये तो सही कि हम ग्रीक कथाओं के मूल की खोज में क्यों लगे हैं। लोग किसी देश का पुराकालीन इतिहास क्यों पढ़ते हैं? मृत भाषाओं का ज्ञान क्यों प्राप्त करते हैं? अपाठ्य प्राचीन लेखों को पढ़वाने का प्रयत्न क्यों करते हैं? कौन-सी ऐसी बात है जो लोगों को न केवल ग्रीस या रोम वरन् प्राचीन भारत, बेबीलोन, मिश्र तथा फारस सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा देती है? असभ्य एवं बर्बर जातियों की प्राचीन कथाओं में लोगों की रूचि क्यों जाग्रत हो जाती है? क्या हम नहीं जानते हैं कि वाल्टर स्कॉट के उपन्यास अपोलो डोरस के उपन्यासों से अधिक मनोरंजक हैं? हम यह भी जानते हैं कि पौराणिक सृष्टि-विज्ञान से अधिक ज्ञान बेकन की कृतियों में हैं। फिर ऐसी कौन-सी बात है जो हमें प्राचीनों के अध्ययन की ओर उन्मुख करती है? ऐसा कौन-सा लाभ है जिसे पाने के लिये आज का व्यस्तता-ग्रस्त मानव अपने विश्राम-काल में ऐसे अध्ययन में लग जाता है, जो वाह्य रूप में इतना अधिक आकर्षण विहीन लगता है? इसीलिये तो कि उसे इस ज्ञान से सन्तोष नहीं होता कि 'आज मानव क्या है' वह यह भी जानना चाहता है कि 'मानव क्या और कैसा रहा है।' यह एक ऐसा दृष्टिकोण है, जिससे सुकरात उसी तरह अपरिचित था जैसे समस्त यूरोप को बौद्धिक प्रेरणा देनेवाले तथा जाग्रत करनेवाले कोलम्बस, कोपर्निकस, केप्लर, गैलीलियो इत्यादि दर्शन-शास्त्र की निगमन प्रणाली से अपरिचित थे। यदि हम सुकरात के ही उस उद्देश्य को मान्यता दे दें कि 'दर्शन-शास्त्र का अन्तिम उद्देश्य स्वयम् को ही जानना है तो भी हमें मानना पड़ेगा कि उसके साधारण साधनों से इतने ऊँचे आदर्श की प्राप्ति नहीं

हो सकती। सुकरात के विचार से मनुष्य एक व्यक्ति मात्र है, न कि किसी शक्ति विशेष का प्रगटीकरण।' सुकरात की प्रणाली यह थी कि वह अपने मनस् पर ही अपने विचार को केन्द्रित करके मानव मात्र की प्रकृति के रहस्यों को जानना चाहता था। अपनी आत्मा, अपनी ही ज्ञानेन्द्रियों का अध्ययन करके वह ऐसे निष्कर्ष पर पहुँचना चाहता था कि जो सब मनुष्यों पर समान रूप से लागू हो सके और इसका अन्तिम परिणाम यह हुआ और यही होना भी था कि वह इतना ही जान सका कि वह कुछ भी नहीं जानता। हमारे मानव एक व्यक्ति मात्र नहीं हैं, वह अपने में ही पूर्ण नहीं है, वह स्वयम् पर्याप्त नहीं है। हमारे लिये मनुष्य अनेक बन्धुओं में से एक बन्धु है, एक वर्ग का सदस्य है, अतः यदि मनुष्य को समझना हो तो उसे इसी वर्ग की पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में ही समझना पड़ेगा। प्राचीनों के लिए पृथ्वी समझ के बाहर की वस्तु थी, क्योंकि वे उसे सौरमंडल के सन्दर्भ में न देखकर अकेली पृथ्वी का अध्ययन करना चाहते थे, परन्तु ज्योंही लोगों ने पृथ्वी को सौरमंडल के सदस्य के रूप में देखना शुरू किया उसके अनेक रहस्य हस्तामलकवत् हो गये। यही स्थिति मानव की भी है। ज्योंही हम मानव को एक ऐसे परिवार का सदस्य मानने लगते हैं, जिसके प्रत्येक सदस्य सुस्थापित मर्यादाओं से बँधा है, जिसके प्रत्येक सदस्य को एकही से साधन सुलभ हैं और उन समस्त साधनों का श्रोत एक ही है त्योंही मानव प्रकृति का एक सर्वथा नवीन रूप हमारे सामने खड़ा हो जाता है। विश्व इतिहास ने या और भी विस्तार में जायँ तो ब्रह्मांड के इतिहास ने सर्वथा नवीन मार्ग खोल दिये हैं और आज हम एक ऐसे शब्द को अपनी भाषा में स्थान देने लगे हैं जिसका प्रयोग न तो सुकरात ने किया था, न तो प्लाटो या अरस्तू ने। यह शब्द है 'मानव जाति'। जहाँ ग्रीक लोग बर्बरों को देखते थे वहीं हम बन्धुओं को, स्वजातियों को देखते हैं। जहाँ ग्रीक लोग महापुरुषों या नृदेवों (आधा मनुष्य आधा देवता) को देखते थे वहीं हम अपने पित्रों तथा पूर्वजों को देखते हैं जो निरंतर श्रम करते हैं, कष्ट सहते रहते हैं जिन्हें महासागरों ने अलग-अलग समूहों में विभाजित कर दिया था तथा राष्ट्रगत दुर्भावनाओं ने जिन्हें छिन्न-भिन्न कर दिया था, फिर भी वे स्वर्गीय नियमन के अन्तर्गत बराबर उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए बढ़ते रहे, जिसके लिये वे बनाये गये थे। उनका संसार मानो परमात्मा की मूर्ति ही था। अपने गन्दे पृष्ठों के साथ इतिहास हमारे लिये प्रकृति की किताब ही है और उसी के समान पवित्र भी है। दोनों में हम दैवी बुद्धिमत्ता के विचारों एवं नियमों को ढूँढ़ने

की चेष्टा करते हैं। जिस प्रकार प्रकृति में हम दानवों के हस्तक्षेप की बात को स्वीकार नहीं करते उसी प्रकार इतिहास में भी न तो हम दुर्योग की बात मानते हैं और न असर्यादित भाग्य की ही। हमारा विश्वास है कि न तो प्रकृति में कुछ अविवेक पूर्ण है और न ही इतिहास में। दोनों में ही मानव मस्तिष्क स्वर्गीय शक्ति की अभिव्यंजना देखता है। इसीलिये हमारी सर्वाधिक विकृति पूर्ण परम्पराएँ भो हमें प्रिय होती हैं, यहां तक कि सुन्दर से सुन्दर आधुनिक अध्याय भी उनके विरोध में हमें फीके लगते हैं। प्राचीन काल के प्राचीन लोगों का इतिहास भी हमें त्योंही प्रिय लगने लगता है ज्योंही हम जान पाते हैं कि यह हमारे ही पूर्वजों का इतिहास है अतः स्वयम् हमारा ही इतिहास है। कल्पना कीजिये कि हम एक ऐसा सन्दूक खोलते हैं जो बहुत दिनों से खोला नहीं गया था। पुराने पत्रों को निकाल कर पढ़ते हैं। उसी में एक पत्र ऐसा भी है जो कभी किसी अति प्रियजन को लिखा गया था परन्तु भेजा नहीं गया। हम उस पत्र को पढ़ते हैं तो हमें ऐसा नहीं लगता कि वह पत्र हमारा ही लिखा हुआ है, पत्र में लिखित पीड़ाओं को कभी हमी ने सहा है तथा उस पत्र के पात्र के साथ हमने सचमुच ही अनेक आनन्द उठाया है। धीरे धीरे हमारा ही अतीत हमारे ही सामने प्रकाशित होने लगता है, हम अपने ही अतीत के चलचित्रों को देखने में मग्न हो जाते हैं और एक बार फिर हम अपनी युवावस्था में पहुँच जाते हैं। करीब-करीब ऐसे ही आनन्द की अनुभूति प्राचीन इतिहास पढ़ते समय होती है। पढ़ना शुरू करने पर पहले तो हमें सब कुछ अपरिचित एवम् विचित्र ही लगता है, परन्तु उसे पढ़ने में ज्यों-ज्यों हम दत्तचित्त होते जाते हैं त्यों-त्यों हमारी भावनाएँ सुकुमार होने लगती हैं और धीरे-धीरे वही प्राचीनों का इतिहास अपने ही इतिहास का रूप लेने लगता है, उनके कष्ट हमारे कष्ट बन जाते हैं, उनकी पीड़ाएँ, उनकी सफलताएँ सब हमारी हो जाती हैं और धीरे-धीरे हम उसी में मग्न हो जाते हैं। बिना इस प्रकार की अनुभूति के इतिहास मृत-पृष्ठों के समूह के सिवा और कुछ भी नहीं है, उसे जला देने में भी कोई हानि नहीं है। यदि ऐसी अनुभूति जाग्रत हो जाय तो इतिहास न केवल विद्वानों के वरन् सर्वसाधारण के लिये भी रुचिपूर्ण बन जायगा।

हमारे सामने जीवन के तारतम्य के नाटक का ऐसा रंगमंच है, जिस पर कुछ अंक अभिनीत हो चुके हैं। सहसा हमारा बुलावा आता है और उसी रंगमंच पर हमें अपनी भूमिका निभानी पड़ती है। विश्वास मानिए

कि आप का अभिनय कभी भी हृदय-हारी न हो सकेगा यदि आप अपने अभिनय की पृष्ठ भूमि से परिचित न होंगे। आपको ज्ञात होना चाहिये कि पूरे नाटक में आप का क्या स्थान है और इसीलिये केवल अपना ही पाठ याद करने से काम नहीं चलेगा। आपको पूरे नाटक की जानकारी होनी चाहिये। आपको उन चरित्रों का भी ज्ञान होना चाहिये, जिनका स्थान आप लेने जा रहे हैं। ऐसी स्थिति में सहज ही हमारा ध्यान उन अंकों की ओर जाता है या जाना चाहिये, जिन पर अतीत का पर्दा पड़ चुका होता है, क्योंकि हम जानते हैं, कि पूरे नाटक में एक ही विचार-प्रणाली काम करती रहती है। यही दशा मानव इतिहास की भी है। वह भी एक नाटक ही है। इसके वर्तमान का रसास्वादन करने के लिये अतीत का ज्ञान अत्यावश्यक है, अनिवार्य है। इतिहास ही हमारे वर्तमान को अतीत से जोड़ता है। यह सत्य है कि उसके कुछ अंक इस प्रकार से खो गये हैं कि उनके फिर से प्राप्त होने की कोई आशा नहीं है। उसके आरम्भ के दृश्य अर्थात् मानव जाति के शिशु काल के दृश्य के कुछ क्रम-हीन पृष्ठ ही प्राप्त हैं। हमें एक शुद्ध जीवन चरित्र लेखक की दृष्टि से उन पृष्ठों को ही बहुमूल्य मानकर उनसे काम लेना चाहिये जैसे कोई लेखक नायक के बचपन में उसी द्वारा लिखित कुछ अंशों को प्रसन्नता पूर्वक प्रयोग में लाता है। वह लेख चाहे जिस भाषा में हो, हमें उसकी प्रत्येक पंक्ति को, उसके प्रत्येक शब्द को काम में लाना है। जीवन के प्रारम्भ का ज्ञान हमारे लिए अत्यावश्यक है। हमारे अजायब घरों में कितने ही महा पुरुषों के व्यक्तिगत प्रयोग में आनेवाली अनेक वस्तुओं का संकलन रहता है, उनमें उन वस्तुओं का भी स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं होता, जो किसी महापुरुष द्वारा अपनी किशोरावस्था में प्रयुक्त की गयी थी क्योंकि उन्हीं वस्तुओं से हम तत्कालीन जीवन का ज्ञान प्राप्त करते हैं। कितनी ही वस्तुएँ हमारी समझ की सीमा के बाहर हैं, प्राचीन विचारों को सुरक्षित रखनेवाली भाषा में तत्कालीन मानव मस्तिष्क की अर्द्धचेतन इच्छाओं का कुछ अंशमात्र ही शेष है, फिर भी धीरे-धीरे उसी अंशमात्र से मानव की आकृति उभरती चली आ रही है जो अति प्रारम्भ से ही अति पवित्र दिखायी पड़ती है। हम उनके द्वारा की गयी गलतियों को आज समझ पा रहे हैं और उनके स्वप्नों का अर्थ भी आज हमारी समझ में आता जा रहा है। इतिहास के धागे को पकड़ कर विपरीत गति से चल कर जब हम इतिहास के प्राचीनतम काल में पहुँचते हैं, जब मानव का विकास कम से

कम हुआ था, तो हम देखते हैं कि उस समय भी मानव में सम्पूर्ण एवं गम्भीर प्रतिभा की स्वर्गीय देन मौजूद थी। विकास-वाद में विश्वास रखने वालों का विचार है कि धीरे-धीरे पशुता से ही मानवता का विकास हुआ है; परन्तु इतिहास की इस साक्षी को देखते हुए वर्तमान शताब्दी में इस प्रकार के विकासवाद पर कोई भी विश्वास नहीं करेगा। मानव मस्तिष्क की आदिम कला कृतियाँ किसी भी साहित्यिक प्रमाण-पत्र से अधिक प्राचीन हैं। उस समय किसी भी परम्परा का सूत्रपात तक नहीं हुआ था। तत्कालीन भाषा ही मानव की सर्वाधिक श्रेष्ठ कलाकृति थी और भाषा का वह धागा आदि काल से लेकर अब तक अविच्छिन्न है। आज भी हम वही भाषा बोलते हैं, जिसे हमारे प्राचीनतम पूर्वज बोलते थे और हमारी वही भाषा विकास-वाद के विरुद्ध प्रमाण देती है। भाषा की रचना, धातुओं का सृजन और उन धातुओं को निश्चित अर्थों में ढालना, व्याकरण के विभिन्न नियमों की स्थापना, ये तमाम बातें आज की भाषा में भी देखी जा सकती हैं और ये सब बातें ही सिद्ध करती हैं कि मानव प्रारम्भ से ही विवेकशाली रहा है, वह कभी पशुत्व की सीमा में नहीं था।

जिस कालावधि में अत्यावश्यक विचारों के लिये अभिव्यंजना के साधनों अर्थात् शब्दों की रचना हुई और सर्वनाम, सम्बन्ध वाची शब्द गिनतियाँ और सामान्य घरेलू व्यवहार के शब्द बने, वही युग मनुष्य का सर्व प्रथम युग है। यह कहना अधिक समीचीन होगा कि अधिक से अधिक इतिहास शोधकों की दृष्टि वहीं तक जा सकती है। उसी भाषा में सभी तूरानियन, आर्यन तथा सेमेटिक भाषाओं के बीजाणु मौजूद थे। इसी युग को हम रहेमेटिक युग कहते हैं। इसी युग के व्याकरण को हम योगिक कालीन (जब योगिक शब्दों का प्रचलन प्रारम्भ ही हुआ था) व्याकरण कह सकते हैं।

इसके बाद आता है दूसरा युग। हमें मान लेना पड़ेगा कि इस युग में कम से कम दो भाषाओं अर्थात् आर्यन तथा सेमेटिक भाषाओं ने अपने खाना-बदोशपन को छोड़ दिया और उस निश्चित रचना प्रणाली में प्रवेश किया, जो उन्हें आज भी तूरानियन भाषा से अलग रखती है। तूरानियन भाषा ने अपनी अस्थिरता को, घुमक्कड़पन को कायम रक्खा और कुछ अर्थों में उसका यह घुमक्कड़पन आज तक कायम है और इसलिये इस परिवार की भाषाएँ आज भी बँधी-सी हुई हैं। यही कारण है कि चीन से पेरीनीज, केप कमोरिन से काकेशस तक फैली हुई तूरानियन भाषाओं तथा इटैलियन, हेलेनिक, ईरानिक तथा इंडिक भाषाओं के साथ ही अरेबियन, आर्मीनियन तथा हिब्रू भाषाओं में

वह पारिवारिक साम्य नहीं दिखायी पड़ता (इटैलियन से लेकर हिब्रू तक गिनायी गयी भाषाएँ एक ही परिवार की दो विशेष प्रणालियाँ हैं)। इस युग को हम स्थानीय भाषा का युग कह सकते हैं।

इन दो युगों के बाद किन्तु राष्ट्रीय साहित्य की रचनाओं के युग के पहले एक और भी युग था और इस युग की सारे संसार में एक सी प्रवृत्ति रही। इस युग को हम पौराणिक युग या पुराण काव्य युग कह सकते हैं। मानव जाति के इतिहास में यह एक ऐसा युग था, जिसे समझ पाना सर्वाधिक कठिन है। इस युग को देख कर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इन दिनों मानव प्रतिभा के प्रगति पथ में ये अलंघ्य अवरोध उपस्थित हो गया था और मानव प्रतिभा का विकास कुछ दिनों के लिये एकदम अवरुद्ध हो गया था। हम तत्कालीन भाषा के मूल के विषय में पर्याप्त स्पष्ट मत स्थिर कर सकते हैं, काल क्रम से विकसित व्याकरण की रचना को देख सकते हैं और भाषाओं तथा स्थानीय भाषाओं की परम्पराच्युति को भी देख सकते हैं। उस युग के राजनैतिक केन्द्रीकरण, नियमों एवम् परम्पराओं की स्थापना और प्राथमिक धर्म एवम् काव्यों की संरचना को समझ सकते हैं, परन्तु इन दोनों युगों के बीच एक ऐसी खाई देखते हैं, जिसे पाट पाना किसी भी दर्शन के लिये एकदम असम्भव जान पड़ता है। हम इसे पुराण-युग कहते हैं और हमने ऐसा विश्वास करने की आदत-सी बना ली है कि (उदाहरण-स्वरूप) ग्रीस वालों की जैसी चारित्रिक विशेषताओं का पता हमें होमर की कविताओं से चलता है अर्थात् ललित कलाओं में उनकी प्रगति, जीवन के सुधरे हुए विलास-साधन, जैसे कि हमें मेनिलाओस तथा अलक्निनूज़ के महलों में मिलते हैं, नेस्टर की परिपक्व बुद्धिमत्ता, हेलेना का वैभव, नौसिका का सौन्दर्य इत्यादि जिस समय की बातें हैं उसके थोड़ा ही पहले ग्रीस में ऐसे भी मानव हुए जिनका मुख्य मनोरंजन यही था कि वे देवताओं तथा मानवेतर आकृतियों वालों जीवों के विषय में तत्व रहित तथा समझ में न आ सकने वाली कथाओं को जन्म देते रहें। यद्यपि परवर्ती कवियों ने इन कथाओं में से कुछ को काव्य के रंग में रँग कर सौन्दर्यमय कर दिया है, फिर भी यदि इन कथाओं को उनके काव्यगत सौन्दर्य से हटा कर देखा जाय तो उनमें से अधिकांश तत्वविहीन एवम् विवेक-हीन ही मालूम पड़ेंगी चाहे विचार प्रणाली के नियमों की दृष्टि से या धार्मिकता अथवा नैतिकता की दृष्टि से उनका मूल्य आँका जाय; जबकि पारम्परिक इतिहास की किरणें ग्रीस पर जब से पड़ने लगीं, तभी से हम उन्हें धार्मिकता एवम् नैतिकता को पथ-प्रदर्शक के रूप में देखते हुए पाते हैं। प्रश्न

होता है कि इन कथाओं को जन्म किसने दिया ? मज़ा तो यह है कि इस प्रकार की कथाओं की रचना ग्रीस में ही नहीं वरन् भारत, फारस, इटली, किंबहुना संसार के प्रत्येक देश में की गयी। क्या हम यह मान लें कि प्रत्येक देश में एक अस्थायी उन्माद-पूर्ण-युग आया था, जिससे होकर प्रत्येक देश को गुजरना पड़ा ? क्या यह उन्माद दक्षिण भारत से लेकर आइसलैंड के उत्तरी भाग तक के क्षेत्र में समान रूप से फैला था ? ऐसा विश्वास करना तो असम्भव ही है कि जिस जाति ने थेल्स, हेराक्लीट्स तथा पाइथागोरस जैसे विचारकों को जन्म दिया, उसी जाति में केवल कुछ सदियों पूर्व ऐसे उन्मादग्रस्त लोग रहते थे। यदि हम पौराणिक कथाओं के उस भाग को ही लें जो सृष्टि का वर्णन करती है, मनुष्य तथा ईश्वर के बीच के सम्बन्ध को निर्धारित करती हैं अथवा जन्म-मृत्यु तथा भलाई-बुराई का विवेचन करती हैं, जो प्रायः परवर्ती काल की रचनाएँ हैं तथा जिनमें कुछ गम्भीर विचार पाये जाते हैं या कुछ शुद्ध एवं ऊँचे भाव पाये जाते हैं, तो हम देखते हैं कि वे भी इस योग्य नहीं हैं कि उन्हें होमर तथा उस पंक्ति के अन्य कवियों या उनके पूर्वजों की रचना कहा जा सके। जबकि ओलम्पियन पुराण-प्रणाली से अपरिचित चरवाहा यूमास ओडीसस से कहता है कि, 'जो कुछ यहाँ है, खाओ और मौज करो, क्योंकि भगवान एक वस्तु देता है, पर दूसरी देने से इनकार कर देता है। वह वही देता है, जो उसके मन में है, क्योंकि वह सर्वशक्तिशाली है' तो हमें उसकी वाणी अपनी-जैसी ही लगती है। हम मान सकते हैं कि होमर-कालीन ग्रीस को यही जन-भाषा है। इसे हम ऊंचे ढंग की अभिव्यंजना कह सकते हैं, यदि हम इसकी तुलना ग्रीक पुराण-शास्त्र के उस अंश से करें जो एक अत्युच्च अभिव्यञ्जना मानी जाती है। ज़ीअस अपनी सर्वशक्तिमत्ता प्रगट करने के लिये देवताओं से कहता है, "यदि एक रस्सा ले लिया जाय और तमाम देवता-गण उसे एक ओर को खींचे तो भी वे हमें हमारे स्वर्ग से भूमि पर नहीं ला सकते, किन्तु हम चाहें तो अकेले सबको ऊपर खींच सकते हैं तथा इस ससागरा पृथ्वी को ओलिम्पस की चोटी से लटका दे सकते हैं।" एक पौराणिक कथा के अनुसार मानव की सृष्टि ड्यूकालियन तथा पाइरा से हुई जो पत्थर फेंकते चलते थे। इससे अधिक उपहास्य और क्या हो सकता है ? इससे अच्छा तो हेराक्लिट्स का ही कथन है कि, 'मनुष्य मर्त्य देव है और देवता अमर्त्य मानव।' हमें उस युग की बात सोचनी चाहिये, जिसने लिकरगस तथा सोलन जैसे लोगों को जन्म दिया था, जिन्होंने एरोपेगस तथा ओलम्पिक खेलों की नींव डाली थी, फिर हम

कैसे कल्पना कर लें कि उनके समय से कुछ पीढ़ियों पहले ही परमात्मा की सर्वोच्च भावना की अभिव्यंजना के लिये क्रोनस द्वारा यूरेनस के छिन्नभिन्न किये जाने तथा क्रोनस द्वारा अपने बच्चों के खाये जाने, एक पत्थर निगल लेने तथा बाद में सबको जीवित उगल देने वाली कथा की जरूरत ही थी। सभ्यता के निम्नतम स्तर पर रहने वाले अफ्रीका एवं अमेरिका के निवासियों में भी ऐसी घृणित एवं प्रकृति विरोधी कल्पना तक देखने को नहीं मिलती। यदि हम मि० ग्रोटे के स्वर में स्वर मिला कर यह कहना चाहें कि 'ये कथाएँ उस अतीत की हैं जो अब वर्तमान नहीं रहा' तो मानो हम अनेक कठिनाइयों की ओर से आँखें मूँद लेते हैं और यह कहना तो अतर्क संगत ही होगा कि मानव जाति के इतिहास में एक समय ऐसा भी आया था जब समस्त मानव जाति को एक बार प्रभु के दर्शन उसी प्रकार हुए थे। ये कथाएँ इतिहास के किसी युग विशेष में मनुष्यों द्वारा ही कही गयी थीं। एक समय ऐसा था जब इन कथाओं का जन्म हुआ था और वह युग स्थानीय भाषाओं के युग तथा राष्ट्र भावना युग के बीच में था। हमें ध्यान रखना चाहिये कि स्थानीय भाषाओं के युग में केवल भाषाएँ अपनी जन्मदात्री भाषा से अलग हो गयी थीं, उस समय तक मानव का पृथक्करण राष्ट्रों के रूप में नहीं हुआ था। राष्ट्र भावना युग में राष्ट्र भावना प्रबल पड़ चुकी थी और भारत, फारस, ग्रीस, इटली तथा जर्मनी के नाम से भाषाएँ चल पड़ी थीं और उनमें साहित्य रचना हो रही थी। तथ्य हमारे सामने हैं और हमारे सामने दो ही रास्ते हैं:—(१) या तो हम उनकी तर्क सम्मत व्याख्या करें या (२) यह मान लें कि जैसे पृथ्वी के रचना काल में ज्वालामुखियों के उद्गार के अनेक दृश्यों ने पृथ्वी के समस्त धरातल को उलट-पुलट करके रख दिया वैसे ही मानव विकास के क्रम में इतिहास के धरातल के नीचे कुछ ऐसी मानसिक क्रान्तियाँ आयीं, जिनके प्रभाव में पड़कर इन कथाओं का जन्म हुआ।

यदि हम मानसिक क्रान्ति की बात को अस्वीकृत करके जिस स्थिति में ये पौराणिक कथाएँ प्राप्त हैं उसी स्थिति में उनकी उनके ढंग तथा रचना की तर्क संगत व्याख्या करने में समर्थ हो सकें तो निस्संदेह हम बहुत कुछ प्राप्त कर सकते हैं। यद्यपि इन कथाओं का जीवन भी तथा उनका एक देश से दूसरे देश में संचार भी कई प्रकार की विचित्रताओं से घिरे हुए हैं, फिर भी ये बातें ऐसी नहीं हैं जिन्हें सुलझाया ही न जा सके। मानवीय मस्तिष्क की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वह अपने अतीत को प्यार करता है और उसका यह प्यार जन्मजात है। वर्तमान का अतीत के प्रति यह प्यार बहुत कुछ वैसा ही

है जैसा प्यार पुत्र का अपने पिता के प्रति होता है। दोनों का श्रोत भी समान ही है। हो सकता है कि प्राचीन परम्पराएँ हमें विकृत या उपहास-जनक लगें। हम उन्हें जंगली मस्तिष्क की उपज भी कह सकते हैं, हमारे देखने में वे अनैतिक तथा सम्भावना के विपरीत भी जान पड़ सकती हैं, फिर भी प्रत्येक पीढ़ी उन परम्पराओं को स्वीकार कर लेती है या कभी-कभी लोकभावना के अनुसार उनमें यत्किंचित परिवर्तन करके उन्हें सहनीय बना लेती है और उन्हीं परम्पराओं में लोग सत्य और गूढ़ अर्थ की खोज करते हैं। भारत के कितने ही ऐसे विद्वान हैं, जिनकी यूरोपीय विज्ञान में अच्छी गति है और वे प्रकृतिगत शुद्ध नैतिकता को अच्छी तरह जानते-बूझते हैं, फिर भी वे शिव एवम् विष्णु की मूर्तियों के सामने ससम्मान सर झुकाते हैं और उनकी उपासना करते हैं। वे समझते हैं कि ये मूर्तियाँ पत्थर के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। वे यह भी मानते हैं कि आर्य ग्रन्थों में इन देवों के जैसे चरित्र दिखाये गये हैं, उसे देखकर भावनाओं में इनके प्रति विद्रोह उठ खड़ा होता है, फिर भी भारत में ऐसे ब्राह्मण हैं जो इन कथाओं में गम्भीर अर्थों का होना बताते हैं, क्योंकि अमरों की संगति अनैतिकता के संग नहीं बैठती अर्थात् जो अमर है वह अनैतिकता पूर्ण नहीं हो सकता। उनके अनुसार इन कथाओं में कुछ ऐसा गूढ़ार्थ निहित है जिसे केवल उन्नत एवम् विकसित मस्तिष्क वाले ही समझ सकते हैं। इतना ही नहीं जिन स्थानों में ईसाई मिशनरियों को सफलताएँ मिली हैं, जहाँ ईसाई मजहब की पवित्रता ने लोगों के हृदयों को निर्मल कर दिया है और यह सिद्ध कर दिया है कि पौराणिक कथाएँ निराधार एवम् तत्व विहीन हैं, वहाँ भी लोगों के अन्तर में अपना प्राचीन विश्वास जड़ जमाये रहता है और उचित अवसर पाने पर प्रगट होता रहता है। स्वयं रोमन चर्चों में कितनी ही कथाओं ने प्रवेश पा लिया है। प्राचीन इतिहास में कितने ही ऐसे संकेत मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि स्वयम् ग्रीस निवासी भी अपने देवताओं की कथाओं को सुनकर व्यथित होते रहे हैं, फिर भी वे कथाएँ ज्यों की त्यों हैं और उन कथाओं के नायक देवताओं का सम्मान भी अक्षुण्ण ही है। वास्तविकता यह है कि अधिकांश मनुष्यों की आस्था प्रभु या सत्य में न होकर अन्यों की, पूर्व पुरुषों की आस्थाओं में होती है। हम समझ सकते हैं कि क्यों सुकरात जैसा व्यक्ति भी उन आस्थाओं को अस्वीकृत नहीं कर सका, जिन्हें उसके पूर्वजों ने स्वीकार किया था। वास्तविकता यह थी कि ज्यों-ज्यों पूर्वजों के मन में ईश्वर सम्बन्धी भावना का विकास होता गया त्यों-त्यों पूर्णत्व का अर्थ लोग यह लगाते गये कि जो पूर्ण है उसके लिये नैतिकता एवम् अनैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऑटफ्रीड मुलर ने बताया है कि पिंडार ने कितनी

ही कथाओं को इस लिये परिवर्तित कर दिया कि वे उसकी ईश्वर सम्बन्धी धारणाओं से मेल नहीं खाती थीं और इसी लिये वे विकृति-मात्र थीं। कुछ-कुछ ऐसी ही भावना के वशीभूत होकर प्लाटो ने इरॉस सम्बन्धी परम्पराओं का खण्डन-मण्डन किया था। सिम्पोजिअम में हम देखते हैं कि प्रत्येक वक्ता इस भावना के साथ बोलता है कि सारी बातें वहीं तक सत्य हैं जहाँ तक वे उनकी इरॉस सम्बन्धी भावनाओं से मेल खाती हैं। फेड्रॉस उसे ज्येष्ठतम कहता है और अगाथन उसे कनिष्ठतम् और दोनों ही अपनी-अपनी बात को प्राचीन कथाओं द्वारा ही सिद्ध करते हैं। इसी प्रकार ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता एवम् सर्वत्रस्थिति (सर्व व्यापकता) पर विश्वास करने वाले लोगों ने जीअस की व्यभिचार-प्रियता एवम् पितृ-हत्या को भुलाकर कहा है:—'जीअस ही प्रारम्भ है, जीअस ही अन्त है तथा जीअस ही सबका उद्गम है।' ग्रीस में ऐसे भी कवि हुए हैं जिनमें ईश्वर की प्रार्थना की भावना प्रबल थी तथा ईश्वर की सहायता एवम् ईश्वरदत्त सुरक्षा पर प्रबल विश्वास था। वे यह भी भूल गये थे कि एक बार स्वयम् जीअस को टाइटन के सामने पराजित होना पड़ा था तथा हर्मस की सहायता से उसे पुनः प्रतिष्ठा मिली थी। एस्किलस जीअस को सम्बोधित करते हुए कहता है, 'यदि जीअस को यही नाम पसन्द है और उसे इसी नाम से पुकारा जाना प्रिय हो तो मैं उसे इसी नाम से सम्बोधित करता हूँ, क्योंकि जीअस के अतिरिक्त चाहे मैं जिस वस्तु पर विचार करूँ परन्तु मेरे विचारों का भार कम नहीं होता।'

वास्तविकता यह है कि इन पौराणिक नामों का सातत्य, इन कथाओं का लम्बा जीवन और अनेक पीढ़ियों की धार्मिक, नैतिक एवम् काव्यगत भावनाओं को सन्तुष्टि देने की इनकी शक्ति यद्यपि विचित्र एवम् चौंका देने वाली है, फिर भी यह कोई कठिनाई नहीं है। अतीत आकर्षणमय है तथा परम्पराओं को भाषा से सदैव मित्रता रही है। हम आज भी कहते हैं कि 'सूर्य उदय होता है, अस्त होता है, इन्द्रधनुष उगता है, बिजली गिरती है इत्यादि।' ऐसा इसलिये होता है कि ऐसे ही कहने की परम्परा चली आ रही है। हम इनको प्रयोग में लाते हैं यद्यपि उनमें विश्वास नहीं करते। कठिनाई तब आती है जब हम यह सोचना शुरू करते हैं कि मनुष्य ने ये कल्पनाएँ कीं किस तरह; वस्तुओं, दृश्यों एवम् कार्यों के नाम कैसे पड़े। जब तक हम इन प्रश्नों का उत्तर नहीं दे लेते तबतक हम इस मान्यता को एक सिद्धांत का रूप नहीं दे सकते कि 'मानव प्रतिभा सभी कालों, देशों एवम् स्थितियों में समान रूप से आगे बढ़ती रहती है।'

यदि हम आर्यों के उस समय की बात करें जब वे विभिन्न शाखाओं में विभाजित नहीं हुए थे तो हम यह नहीं कह सकते कि हम उस युग के विषय में

कुछ नहीं जानते। आर्यों की अनेक पौराणिक कथाएँ इसी युग की देन हैं। यदि हम उस गहरे साये को देख सकें जो यूनान वासियों के मस्तिष्क पर अपने राजनैतिक एवं साहित्यिक इतिहास के अति प्रारम्भ काल से छाया हुआ है तो भी हम यूनान वासियों के उस युग की प्रकृति के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं, जो यूनान में राष्ट्रीय साहित्य के उदय काल का पूर्ववर्ती था। जिस समय ओटफ्रीड मुलर ने कहा था कि, 'पौराणिक अभिव्यंजनाएँ, जो प्रत्येक पदार्थ को जीवनमय मानती हैं और सभी सम्बन्धों को कार्यरूप में अभिव्यंजित करती हैं, अवश्य ही मानव जाति के इतिहास के किसी विशेष युग की देन होंगी; उस समय तक वे उन बातों से परिचित नहीं थे जो तुलनात्मक भाषा विज्ञान[1] ने उस समय तक लोगों के सामने रक्खा था। तुलनात्मक भाषा विज्ञान ने उस विशेष युग को प्रमाणिक स्वरूप प्रदान कर दिया है। इस विज्ञान ने हमें एक ऐसा दूरदर्शक यंत्र दे दिया है कि जहाँ पहले हम धुंध मात्र देख पाते थे, वहाँ हमें अब निश्चित रूपरेखाएँ दिखायी पड़ने लगी हैं। इतना ही नहीं, इस विज्ञान ने हमें उस समय की विचार-प्रणाली का परिचय दिया है, जब संस्कृत भाषा संस्कृत नहीं थी, ग्रीक भाषा ग्रीक नहीं थी, बल्कि ये दोनों ही लैटिन, जर्मन तथा अन्य आर्यन स्थानीय भाषाओं से मिलकर एक ही जननी भाषा के गर्भ में उसी प्रकार निहित थीं जैसे एक दिन फ्रेंच, स्पैनिश एवम् इटालियन भाषाएँ लैटिन भाषा के गर्भ में अविभाज्य रूप से निहित थीं।

अभी हमने ऊपर जो कुछ कहा है, उसको कुछ विस्तृत रूप में समझाने की आवश्यकता है। यदि हम यह न जानते हो कि कभी लैटिन नाम की भी कोई भाषा थी; यदि १५वीं शती के पूर्व के सभी ऐतिहासिक प्रमाण खो जायँ; यदि सभी प्राप्त साहित्य रोमन साम्राज्य के विषय में मौन रह जायँ; फिर भी इटैलियन, वालेशियन, रैटिकन, स्पेनिश, पोर्चुगीज तथा फ्रेंच भाषाओं के सविचार अध्ययन से ही हमें पता चल जायगा कि कभी एक ऐसी भाषा आवश्यक थी जिससे इन सभी स्थानीय भाषाओं का जन्म हुआ था, क्योंकि इन भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से जिन तथ्यों की प्राप्ति होती है, उनकी व्याख्या बिना उपरोक्त मान्यता के हो ही नहीं सकती। यदि हम नीचे लिखी गयी कुछ सहायक क्रियाओं का अध्ययन करें तो वे हमारे सामने इस प्रकार प्रगट होंगी :—

१— पाठकों को भाषा विज्ञान (Phylology) तथा भाषा गत विज्ञान (Secience of languages) के अन्तर का ध्यान सदैव ही रखना होगा।

स० क्रिया	इटैलियन	वालेशियन	रेटिकन	स्पेनिश	पोर्चुगीज	फ्रेंच
मैं हूँ	सोनो	सम	संट	स्वाय	सू	सुस
तू है	सी	एस	इस	इरिस	एस	एस
वह है	ई	ई	ई	एस	ही	एस्ट
हम हैं	सियामो	संटेमू	एसेन	सोमोस	सोमोस	समस
तुम हो	सिईटे	संटोते	एसेस	सोइस	सोइस	ईटेस (इस्टेस)
वे हैं	सोनो	संट	इयान(सन)	सॉन	साओ	सॉएट

उपरोक्त सहायक क्रियाओं के तुलनात्मक रूपों को देखने से निम्नांकित बातें स्पष्टतया समझ में आ जाती हैं:—१—कि सभी सहायक क्रियाएँ किसी एक ही क्रिया के अलग अलग रूप हैं; २—कि उपरोक्त ६ स्थानीय भाषाओं में से किसी भी भाषा की सहायक क्रिया के बारे में हम यह नहीं कह सकते कि अमुक क्रिया ही मूल क्रिया है तथा शेष क्रियाएँ उसी से निकली हैं; ३—उपरोक्त ६ भाषाओं में से किसी भी भाषा में इस क्रिया को जन्म देने वाली धातु का पता नहीं है।

उपरोक्त प्रक्रिया को और भी अधिक स्पष्ट करने के लिये एक और उदाहरण लीजिये।

क्रिया	संस्कृत	लिथुआनियन	जिन्द	प्राचीन स्लाव	लैटिन	गोथिक	आर्मीनियन	डोरिक
मैंहूँ	अस्मि-	एस्मि	अह्मि	एस्मे	एम्	इम	एम	
तू है	असि	ऐसि	अहि	एसि	एस	इज	एस्	
वह है	अस्ति	एस्ति	आति	एस्तो	एस्ट	इस्ट	ई	
हम दोनों हैं	स्वः	इस्व	—	ऐस्व	—	सिज़ु	—	
तुम दोनों हो	स्थः	एस्टा	स्थो	एस्ता	—	सिज़ुत्स	—	
वे दोनों हैं	स्तः	एस्ति	स्तो	एस्ता	—	—	—	
हम हैं	स्मः	एस्मि	ह्माहि	एस्मो	समस	सिज़ुम	एम्क	
वे हैं	सन्ति	एस्ति	हेन्ति	सम्ते	सण्ट	सिन्द	एन	
तुम सब हो	स्थ	एस्ते	स्ता	यस्ते	यस्टिस	सिज़ुथ	यक	

इस भाषा के शब्द अनुवादक से पढ़े न जा सके।

यदि उपरोक्त तालिका को सावधानी से देखा जाय तो इससे भी वही तीनों निष्कर्ष निकलेंगे जो इसके पूर्व वाली तालिका से निकले थे। अर्थात् १—सभी

शब्द एक सर्व सामान्य शब्द के परिवर्तित रूप हैं; २—इन रूपों में से किसी एक को भी मूल रूप नहीं माना जा सकता; ३—उपरोक्त भाषाओं के व्याकरण में इन शब्दों को सिद्ध करने वाले तत्व नहीं हैं। बहुत से विद्वानों की मान्यता है कि संस्कृत ही शेष सात भाषाओं की जननी है, परन्तु यह बात अब भ्रान्त सिद्ध हो चुकी है। अब यह माना जाने लगा है कि ग्रीक भाषा में उसकी कतिपय आदिमकालीन विशेषताएँ अब तक अवशिष्ट हैं। कुछ अर्थों में लैटिन में भी कितने ही अवशेष ऐसे हैं जो संस्कृत में नहीं मिलते।

ऐसी स्थिति में ये सभी भाषायें एक ऐसी भाषा की ओर इंगित करती हैं जो इन सबसे अधिक प्राचीन थी। शायद उस भाषा में किसी स्थायी साहित्य की रचना नहीं हो सकी, जिसके अवशेष आज उसके कभी जीवित रहने का प्रमाण देते। शायद उस भाषा की मृत्यु इन ८ पुत्रियों को जन्म देने में ही हो गयी। यदि तर्कशास्त्र की निगमन प्रणाली में कुछ भी सत्य है तो ऐसी भाषा कभी जीवित थी, इसमें सन्देह नहीं। यह भाषा एशिया में एक छोटे से जन द्वारा बोली जाती थी। शायद वह जन मात्र एक परिवार ही रहा हो और वह परिवार एक ही छत के नीचे रहता रहा हो, जैसे वाल्तेयर तथा दान्ते की भाषा एक बार टिब्रिस के समीप सात पहाड़ियों पर झोपड़ों में रहने वाले कुछ किसानों द्वारा ही बोली जाती थी। यदि हम उपरोक्त दोनों तालिकाओं की तुलना करें तो हम देखेंगे कि वेद की भाषा तथा बर्लिन के समीप रहने वाले लिथु-आनिया निवासी रंगरूटों की भाषा में उससे अधिक साम्य है जितना साम्य फ्रेंच तथा इटैलियन भाषाओं में हैं। बॉप द्वारा 'तुलनात्मक व्याकरण' लिखे जाने के बाद यह स्पष्ट हो गया है कि व्याकरण के जितने भी आत्यावश्यक अंग हैं वे सब आर्य परिवार के विभाजन के पूर्व ही बन गये थे।

यदि हम तुलनात्मक भाषा विज्ञान की देनों से काम लें तो हम आदिम-कालीन अविभक्त आर्य परिवार के विषय में बहुत कुछ जानकारी प्रात कर सकते हैं। इस कार्य में भी हम स्थानीय भाषाओं की सहायता से ही प्राचीनतम् आर्य जाति के विषय में जान सकेंगे। यदि फ्रेंच भाषा में हमें पॉण्ट (Pont) शब्द मिलता है, ईटालवी भाषा में पॉण्टे (Ponte), स्पेनिश भाषा में पोएण्टे (Puente), तथा वलेशियन भाषा में पॉड (Pod) शब्द मिलता है, तो राष्ट्रीय प्रवृत्ति-जनक विचित्रताओं को अलग कर देने से हम कह सकते हैं कि ये सभी शब्द लैटिन पॉन्स (Pons) शब्द से निकले हैं, जिसका अर्थ होता है 'पुल।' ऐसी स्थिति में निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उस समय भी, वे पुल

शब्द तथा उसकी रचना को जानते थे जब ये स्थानीय भाषाएँ अलग-अलग नहीं हुई थीं। भले ही रोम राज्य तथा लैटिन भाषा के बारे में कुछ न जानें, पर तुलनात्मक भाषा विज्ञान के बल पर हम इतना तो कह ही सकते हैं कि पुस्तकें, रोटी, शराब, मकान, गांव, कस्बे, नगर, मीनार तथा फाटक इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान उन लोगों को (चाहे वे कोई भी रहे हों) अवश्य ही था जो वह भाषा बोलते थे, जिससे इन भाषाओं का जन्म हुआ था। यह सत्य है कि इतनी ही सामग्री से हम रोमन जाति के लोगों का पूर्ण बौद्धिक चित्र प्रस्तुत नहीं कर सकते, फिर भी हम यह तो सिद्ध ही कर सकते हैं कि ऐसी जाति कभी थी। पूरी सूचनाओं के अभाव में क्या हम उन झलकियों को भी छोड़ दें जो हमें यत्र-तत्र से प्राप्त हो सकती है ?

हमें एक सावधानी भी बरतनी पड़ेगी। उपरोक्त तर्क का यह अर्थ हमें कदापि न निकालना चाहिये कि सभी स्थानीय भाषाओं में जो शब्द समान रूप में न पाये जाँय तो उनका अस्तित्व ही नहीं था या उन लोगों को उस वस्तु का ज्ञान ही नहीं था। उदाहरण के लिये १०वीं शताब्दी के पूर्व ही कागज का ज्ञान उन लोगों को था; परन्तु कागज को इटालियन भाषा में कार्टा (Carta) कहते हैं किन्तु फ्रेंच भाषा में कागज को पेपियर (Papier) कहते हैं।

चूँकि हम आर्य जाति के उस समय के इतिहास के बारे में कुछ नहीं जानते जब वे भारतीय, जर्मन, यूनानी, रोमन, स्लाव, ट्यूटनिक तथा केल्टिक जातियों में विभाजित नहीं हुए थे। अतः भाषा के सहारे प्राचीन काल का इतिहास तैयार करने से एक सुविधा तो अवश्य ही होगी कि इतिहास उस युग को ऐतिहासिक वास्तविकता में ला देगा जिसके विषय में कहा जाता है कि 'वह अतीत जो कभी भी वर्तमान नहीं था'।[1] भाषा-जनित विवरणों से सांगोपांग इतिहास प्राप्त होने की आशा नहीं करना चाहिये। हम इतना अधिक नहीं प्राप्त कर सकते कि होमर तथा वेद के समय के भी पहले के युग की सभ्यता का पूर्ण विवरण उपस्थित कर सकें, परन्तु इसी आधार पर हम मानव के बौद्धिक विकास के इतिहास में एक ऐसे युग का अस्तित्व तो प्रमाणित कर ही सकते हैं, जिसे हम पौराणिक युग या पुराण-गाथा युग कह सकते हैं। जिन कारणों से हमने इस कार्य को सम्भव माना है, उनकी स्पष्टता आगे चल कर पाठकों की समझ में आ जायगी।

---

१. मि० ग्रोटे 'हिस्ट्री आफ ग्रीस'— अनु०

शब्द	संस्कृत	जिन्द	लैटिन	गोथिक	स्लाव	आइरिश	अंग्रेजी	ग्रीक
पिता	पितर्	पितर	पेटर	फाडर	—	अथिर	फादर	अनुवादक पढ़ नहीं सका
माता	मातर्	मातर	मेटर	—	माति	मथिर	मदर	
भ्राता	भ्रातर्	बातर	फ्रेटर	ब्रदर	ब्रात्	ब्रथिर	ब्रदर	
श्वसा	श्वसर्	क्न्हर	सटर	स्वितर	स्वेस्त्र	सिउर	सिस्टर	
दुहिता	दुहितर्	दुग्धर	—	डॉटर	दक्ते(लिथु)	—	डाटर	

उपरोक्त तालिका को देखने से स्पष्ट हो जायगा कि पिता, माता, भ्राता श्वसा, दुहिता इत्यादि, शब्द सभी आर्यन भाषाओं में समान हैं। यह बात सरसरी दृष्टि से देखने पर साधारण-सी लगती है, परन्तु ध्यान से देखने पर इस तथ्य से महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं। सभी भाषाओं में पिता शब्द का पाया जाना यह सिद्ध करता है कि उस अति प्राचीन काल में ही लोगों में पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित हो चुका था अर्थात् स्त्री-पुरुष का स्थायी सम्बन्ध मान्य हो चुका था और अपनी स्त्री से उत्पन्न सन्तान को लोग पुत्र कह कर स्वीकार करने लगे थे। अन्यथा पिता शब्द की आवश्यकता ही क्या थी ? पितर् शब्द 'पा' (पालन करना) धातु से बना है, इसका मतलब यह हुआ कि पिता में पैदा करने वाला भाव न होकर पालन करने वाला भाव अधिक था। 'पा' धातु के कई अर्थ हैं यथा, पालना, रक्षा करना, सहायता देना, भोजन देना इत्यादि, परन्तु जन्म देने का अर्थ 'पा' धातु से नहीं ध्वनित होता। पिता के पैदा करनेवाले, जन्म देनेवाले रूप को स्पष्ट करने के लिये एक अन्य शब्द था जनितर; परन्तु पालन करने वाले को पितर् ही कहते थे। इसीलिये वेद में पिता तथा जनिता शब्द का साथ-साथ प्रयोग हुआ है। लैटिन में भी पेटर तथा जेनिटर शब्द का साथ प्रयोग है। यथा, वैदिक ऋषि का कथन है 'द्यौ में पिता जनिता' (१-१६४-३३) तथा लैटिन में जोविस मइ पेटर जेनिटर'।

इसी प्रकार मातर्, मदर को जनित्री (ऋग्वेद ३-४८, २) कहा गया है, जिससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कालान्तर में मातर् शब्द के शाब्दिक अर्थ या अभिधात्मक अर्थ का लोप हो गया और यह शब्द अधिकांश में सम्मानसूचक बन गया। प्रारम्भिक आर्यों में मातर् शब्द का शाब्दिक अर्थ था बनानेवाला, जो 'मा' धातु से बना है, जिसका अर्थ होता है बनाना, सुधारना। तब तक इस शब्द को स्त्री-लिंगीय रूप नहीं मिला था; क्योंकि वेद में इसका प्रयोग पुल्लिंग रूप में हुआ है। उदाहरण के लिये 'सः माता पूर्वयम् पदम' अर्थात् वरुण प्राचीन स्थान का बनानेवाला है।

अब यह देखना हमारा कर्तव्य हो जाता है कि मातर् तथा पितर् उन अनेक शब्दों में से एक हैं, जो माता तथा पिता का अर्थ देने के लिये रचे गये थे। यदि हम अपने को पा (पालन करना) धातु तक ही सीमित रक्खें और यह मानें कि पिता अपने पुत्रों का पालन करता था तो पिता का अर्थ देने के लिये कई समान अर्थ वाले शब्द बनाये जा सकते थे। वास्तव में ऐसे अनेक शब्द बने भी थे। संस्कृत में रक्षक या पालक का अर्थ देने के लिये 'पा' धातु में केवल तर् प्रत्यय लगाकर पितर् शब्द ही नहीं बन सकता था। बल्कि अन्य प्रत्ययों के बल पर पाल, पालक, पायु इत्यादि शब्द भी बनते हैं और सबका अर्थ होता है रक्षक ही। इतने सम्भव शब्दों के होते हुए सभी आर्यन भाषाओं के शब्द-कोषों में केवल पिता शब्द को ही स्थान मिला। इससे प्रगट होता है कि विभाजन के पूर्व ही आर्यों की भाषा में पारम्परिक शब्दों के प्रयोग की प्रथा चल पड़ी थी। 'पा' धातु के अतिरिक्त और भी धातुएँ थीं, जिनसे पिता का अर्थ देने वाले अन्य अनेक शब्द बन सकते थे, जैसे 'जन' धातु से उत्पन्न जनितर् शब्द भी उतना ही व्यापक हो सकता था। ग्रीक भाषा की 'तक्' धातु से तथा लैटिन भाषा की 'पैर' धातु से भी पिता बोधक शब्द बन सकते थे और विभाजन के बाद ऐसे शब्द बने भी। ग्रीक भाषा का टॉकेस तथा लैटिन भाषा का प्रैरेंस शब्द इसके उदाहरण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पुत्र के साथ पिता के सम्बन्ध का अर्थ देने वाले बहुत से अन्य शब्द बन सकते थे। संस्कृत का जनक शब्द भी बाद में ही बना। यदि स्थानीय आर्यन भाषाओं में से प्रत्येक भाषा ने पिता शब्द के लिये विभाजन से पूर्व प्रयोग में आनेवाली एकही धातुओं से पिता बोधक शब्द की रचना की होती तो हम कह सकते थे कि इन विभिन्न भाषा-भाषियों में प्रायः आवागमन व इन भाषाओं में पारस्परिक आदान-प्रदान होता रहता था, किन्तु इतिहास इस बात का साक्षी नहीं है, अर्थात् ऐतिहासिक रूप से इस आवा-गमन, आदान-प्रदान की पुष्टि नहीं होती।

प्रायः ऐसा भी होता है कि किसी भी सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में कुछेक आर्यन भाषाएँ अपने एकाध प्राचीन पारिभाषिक शब्द को छोड़ देती हैं और अपने प्रयोग के लिये अन्य सुविधा-जनक शब्द की रचना कर लेती हैं। भाई और बहन के लिये जो भी सर्व सामान्य शब्द रहा होगा, वह ग्रीक भाषा में नहीं मिलता। इस तथ्य से यह निष्कर्ष निकाल लेना भूल ही होगी कि जब ग्रीसवालों के पूर्वज अपने मूल स्थान को छोड़कर ग्रीस की ओर चल पड़े थे उस समय तक मूल-भाषा में भाई तथा बहन का

भाव प्रगट करनेवाले शब्द की रचना ही नहीं हुई थी। ऐसा कोई कारण नहीं मिलता, जिसके आधार पर हम यह मान लें कि सर्व प्रथम ग्रीक लोगों ने ही अपने मूल स्थान को छोड़ा था और ग्रीस की ओर प्रयाण कर दिया था। हम जानते हैं कि केल्टिक और ट्यूटनिक जातियों ने जिस समय अपने मूल स्थान को छोड़ा, उसके बाद भारतीय आर्यों से उनका पुनः संसर्ग नहीं हुआ, उधर हम पोर्चुगीज तथा वलेशियन भाषा में भाई शब्द के लिये वही शब्द पाते हैं जो संस्कृत में भाई के लिये आता है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि पोर्चुगीज तथा वलेशियन भाषायें लैटिन की पुत्रियाँ हैं। भाई बोधक यह शब्द अन्य रोमन स्थानीय भाषाओं[1] में नहीं मिलता। इससे भी सिद्ध होता है कि उस मूल भाषा में उस समय भाई-बोधक शब्द बन चुका था, जब रोमन आर्य अपने मूल स्थान से चले थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भाषा का विकास अपरिवर्तनशील सिद्धान्तों के आधार पर होता है, परन्तु संयोग का जितना विचार विज्ञान की इस शाखा में किया जाना चाहिये, उतना प्रकृति विज्ञान की दूसरी किसी भी शाखा में नहीं। सम्भव है कि कोई ऐसा नियम मिल जाय, जिसके आधार पर किसी भाषा से संयोगत; कोई शब्द गायब हो जाता हो। सम्भव है कि ऐसे ही किसी संयोग के कारण ग्रीक भाषा में से भाई तथा बहन का अर्थ देने वाले शब्द गायब हो गये हों; परन्तु ऐसा सर्वदा ही नहीं होता। हम प्रायः ऐसी ही स्थिति अधिक देखते हैं कि मूल आर्यन भाषा में जिन शब्दों का होना सर्व-सम्मत रीति से सिद्ध किया जा सकता है, वे ही शब्द किसी-किसी स्थानीय भाषा में नहीं पाये जाते।

उस प्राचीनकाल में भाई बहन का सम्बन्ध पवित्रता की परिधि में आ चुका था और इन अर्थों को देने वाले शब्द उस समय के पूर्व ही परिपक्वता को प्राप्त हो चुके थे, जब मूल आर्य जाति अपने विभिन्न परिवारों में विभाजित हुईं। उस समय तक भ्राता शब्द मेरे विचार से वहन करनेवाले तथा सहायक के अर्थ में प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार स्वसा (बहन) शब्द प्रसन्न करनेवाली अथवा धीरज देनेवाली के अर्थ में प्रयुक्त होता था, क्योंकि संस्कृत में 'स्वस्ति' शब्द कल्याण अथवा प्रसन्नता के अर्थ में प्रयुक्त होता है।

---

१. इटैलियन, वलेशियन, रहैटिकन, स्पेनिश, पोर्चुगीज तथा फ्रेंच भाषाएं रोमन की स्थानीय भाषाएं हैं। अनु०—

उस युग में पुत्री-बोधक अर्थ में दुहितर शब्द का प्रयोग होता था। यह शब्द भी विभाजन के पूर्व ही परिपक्वता को पहुँच चुका था और पारम्परिक शब्द बन चुका था। संयोग की ही बात है कि यह शब्द इसी रूप में प्रायः सभी स्थानीय भाषाओं[1] में पाया जाता है केवल लैटिन में यह शब्द नहीं मिलता, परन्तु अकेली संस्कृत ही ऐसी भाषा है, जिसमें दुहितृ शब्द का प्रयोग इसके पारम्परिक अर्थों में हुआ है, शेष भाषाओं में इस शब्द मे वह शक्ति नहीं रह गयी है। पाश्चात्य विचारकों में प्रोफेसर लासेन ही सर्वप्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने बताया कि दुहितर शब्द की उत्पत्ति 'दुह' (संस्कृत में दुहना) धातु से हुई है। परिवार में पुत्रियों को यही नाम दिया गया था, जिससे तत्कालीन आर्यों के चरवाहों के जीवन का पता चलता है। अपने विवाह के पूर्व पितृगृह में कन्या का मुख्य कार्य होता था दूध दुहना। यद्यपि सुता शब्द भी चल चुका था, परन्तु दुहिता शब्द को पारम्परिक रूप देना मानो तत्कालीन आर्यों की सुकुमार भावना एवं विनोद-प्रियता का बोधक है। ऐसा प्रतीत होता है कि विभाजन होने के पूर्व ही इस शब्द के इस (दुहने वाली) अर्थ को आर्य लोग भूल चुके थे या पीछे छोड़ चुके थे। उस समय तक दुहितर शब्द की विनोद-प्रियता समाप्त हो चुकी थी और पुत्री के लिये यह शब्द पारम्परिक बन चुका था। कितने ही अन्य शब्द ऐसी ही अन्य भावनाओं के अनुसार बने थे और वे वहीं तक सामान्यता की स्थिति में रहे जब तक आर्यों का चरवाहा स्वरूप बना रहा। इस बात के काफी प्रमाण हमें आगे मिलेंगे। विचित्रता तो वहाँ दिखायी पड़ती है जहाँ हम देखते हैं कि कोई शब्द अपने मूल रूप में किसी विशेष अर्थ के लिये बनाया गया था, परन्तु धीरे-धीरे वह सामान्य अर्थ का बोधक हो गया। दुहितर् शब्द पहले व्यक्ति वाचक संज्ञा के रूप में रहा होगा परन्तु धीरे-धीरे वह जाति वाचक संज्ञा के रूप में आ गया। यह भी एक आश्चर्यजनक स्थिति परिवर्तन है, जिसमें पड़ कर प्राचीन शब्द अपने धातुगत अर्थों को छोड़ कर सर्वथा नवीन अर्थ देने लगते हैं। हम ऐसे ही अनेक शब्दों का उदाहरण दे सकते हैं, जिनके मूल रूप शब्द रचना के विचार से आर्यों के उस जीवन की ओर इंगित करते हैं जब वे चरवाहों का जीवन व्यतीत करते थे, परन्तु आज वे शब्द हमारे नैत्यिक प्रयोग में अत्यन्त सामान्य अर्थों में व्यवहृत होते हैं। आज के अंग्रेजी शब्द पेक्यूलियर (Peculiar) को ही उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। आज हम

१—संस्कृत, लिथु आनियन, जेन्द, डोरिक, ओल्डस्लाव, लैटिन, गोथिक तथा आर्मीनियन ये ८ भाषाएं आयन स्थानीय भाषाएं हैं।—अनु०

पेक्यूलियर शब्द को अकेला, विचित्र तथा असामान्य के अर्थ में ग्रहण करते हैं परन्तु अति प्रारम्भ में यह शब्द 'व्यक्तिगत' (सम्पत्ति) के रूप में व्यवहृत होता था, अर्थात् जो सबका न हो। इस शब्द की उत्पत्ति पेक्यूलियम (Peculium) शब्द से हुई है। लैटिन भाषा में पेक्यूलियम शब्द पेक्थूडियम (Pecudium) के स्थान पर प्रयुक्त होता है (जैसे Conselium शब्द Consedium के स्थान पर आता है)। पेक्यूलियम शब्द निकला है पेकस, पेक्यूडिस (Pecus, Pecudius) से, जिनका मूल अर्थ होता पशु तथा चल सम्पत्ति। पशु विशेष सम्पति होते हैं चरवाहों के या खेतिहरों के। अब यह हमारे समझने की बात है कि किस प्रकार मनोगत भावों से गुजरता हुआ यह शब्द व्यक्तिगत पशु या व्यक्तिगत चल सम्पत्ति के अर्थ को त्याग कर 'विचित्र' का अर्थ देने लगा। इस भावना को और भी स्पष्ट करने के लिये हमें इसी (Pecu) धातु से उत्पन्न पेक्यूनिया (Pecunia) शब्द को देखना चाहिये, जिसे मूलतः पशु-समूह का अर्थ देना चाहिये था, धीरे-धीरे यह शब्द धन (Money) का अर्थ देने लगा। जो परिवर्तन आज हमारी भाषा में तथा शब्दार्थों में होते रहते हैं, उन्हीं से मिलते-जुलते परिवर्तन अतीत में भी अवश्य होते रहे होंगे। पशुओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण पशु थे—गाय तथा बैल। इनको उस समय मुख्य धन के रूप में समझा जाता था तथा सांसारिक वैभव के प्रतीक भी यही थे। गाय तथा बैल दोनों के लिये संस्कृत में 'गो' शब्द जिसका बहुवचन होता है 'गावः'। गावः शब्द अनिवार्य ध्वन्यात्मक परिवर्तनों से गुजरता हुआ प्राचीन हाई जर्मन भाषा में चुओ हो गया, जिसका बहुवचन है चुओई। स्लाव भाषा से उत्पन्न कई भाषाओं में यह शब्द अब भी शेष है। लेटिन भाषा में गो को गुअस (guws) कहते हैं तथा स्लाव में गो समूह को गोव्याडो (govyado) तथा सर्वियन भाषा में गवेडर (govedar) कहते हैं। संस्कृत भाषा में गोप शब्द मूल रूप में गो-समूह के लिये प्रयुक्त होता था; पर कालान्तर में गो-पालक के लिये व्यवहृत होने लगा। और भी आगे चल कर गोप शब्द से एक क्रिया बन गयी गोपपति = छिपाता है। इस नवीन क्रिया के अर्थ में गोप शब्द के मूल अर्थ का कहीं पता ही नहीं चलता। गोप का अर्थ होता है गऊ को पालने वाला; परन्तु संस्कृत में गोत्र शब्द का अर्थ होता था वह बाड़ा जिसमें रात को गौएँ बांधी जाती थीं या घेर दी जाती थीं। गोत्र शब्द के व्याकरण-सम्मत अर्थ का अब सर्वथा लोप हो गया है। अति प्राचीन काल में योरप तथा एशिया के बीच शक्ति संतुलन के लिये तो युद्ध होते नहीं थे।

उनकी आवश्यकता पड़ती थी केवल अच्छे चरागाहों को अधिकृत करने के लिये। गायों की सुरक्षा भी एक समस्या थी। अतः वैभवशाली लोगों के बाड़ों ने मोर्चाबन्द स्थानों का स्वरूप पाना शुरू कर दिया और यही मोर्चे-बन्द स्थान कालान्तर में कोट, गढ़ी, गढ़ के रूप में आ गये और एक ही बाड़े, कोट, गढ़ी या गढ़ में रहने वाले एक ही गोत्र के कहे जाने लगे। फिर तो गोत्र शब्द कुटुम्ब, फिरका, बिरादरी के अर्थ में व्यवहृत होने लगा। वेद में यह शब्द अपने प्राचीन अर्थ में ही प्रयुक्त है।

यथा :—"नचिह एषाम् निन्दिता मर्त्येषु
ये अस्माकम पितराः गोषु योधाः

इन्द्रा एषाम द्रिन्हिता माहितावान्
उत् गोत्राणि ससृजे दंशनावात्"

अर्थात् मनुष्यों में उन पितरों की निन्दा कोई भी नहीं कर सकता जो गौओं के लिये लड़े थे। शक्तिशाली इन्द्र उनका रक्षक है, वही हमारे अधिकृत स्थानों की वृद्धि करता है।

'गौओ में या गौओं के लिये लड़ना'-गोषु-युध का प्रयोग वेद में योद्धा के लिये हुआ है (१-११२-२२) और युद्ध के लिये आनेवाला मुख्य शब्द है 'गविष्टि' जिसका अर्थ है 'गायों के लिये प्रयत्न'। परवर्ती संस्कृत में गवेषणा का प्रयोग केवल शोध के अर्थ में होता है चाहे वह खोज भौतिक हो या दार्शनिक, क्योंकि गवेष् = जांचना, पूछना। गोष्ठ का अर्थ होता है गायों के बांधे जाने का सुरक्षित स्थान, परन्तु समय एवं सभ्यता की प्रगति के क्रम में गोष्ठी का अर्थ होने लगा सभा (छोटा रूप) या वाद-विवाद करने वालों का सम्मेलन।

गो शब्द के मेल से अन्य कितने ही शब्द बने हैं, पर जितने शब्दों का विचार हम कर चुके हैं, उतने के ही आधार पर इस निष्कर्ष पर निर्भ्रान्त रूप से पहुँच सकते हैं कि जिन लोगों ने इन शब्दों को जन्म दिया वे खानाबदोश भी थे और चरवाहे भी। ऐसी स्थिति में हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार दुहितर शब्द कालान्तर में पुत्री बोधक के रूप में व्यवहृत होने लगा। भाषा को विज्ञान तथा उस भाषा-भाषी लोगों के आचार का मानचित्र कहा जाता है। यदि हम किसी ऐसी जाति की भाषा का अध्ययन करें जो सागर तट निवासिनी हो तो उस भाषा के अधिकांश सामान्य शब्दों का मूल रूप सम्बन्धित होगा—जहाज से, पानी से, नाव से।

अब अगली पंक्तियों में हम ऐसे शब्दों पर विचार करेंगे जिनकी सहायता से हम उस समय की सामाजिक स्थिति का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, जब आर्य जातियाँ अलग-अलग नहीं हुई थीं और हमें आशा है कि इस विवरण से प्राप्त चित्र अधिक स्पष्ट होगा।

अभी हम पुत्र बोधक शब्दों की व्याख्या को छोड़ देते हैं, क्योंकि वह हमारे अधिक काम की नहीं है। वैसे पुत्र-बोधक शब्दों का अर्थ होता है—उत्पन्न। इन शब्दों को छोड़ देने का एक और भी कारण है कि पुत्र या पिता के धन, जायदाद का उत्तराधिकारी की भावना पुत्री, बहन या भ्राता की भावना की पूर्ववर्ती है। पिता-माता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहन, के सम्बन्ध प्रकृतिगत नियमों से निर्धारित हुए थे और भाषा में इनको तद्वत् स्वीकार कर लेने से सभ्यता की कोई प्रगति नहीं हो सकी थी, चाहे इन नामों को चुनने में कितनी ही अधिक सावधानी क्यों न बरती गयी हो। बाद में अन्य सम्बन्धों को भी मान्यता प्राप्त हुई, जिनकी रचना में परम्परा का हाथ अधिक था और जिनका जन्म समाज के नियमों के अन्तर्गत हुआ था। अंगरेजी भाषा में इन ला (In-law) लगाकर जो शब्द बने हैं। जैसे फादर इन ला (श्वसुर) मदर, सन, डाटर, ब्रदर तथा सिस्टर इन ला) हम उन शब्दों की बात कर रहे हैं। यदि आर्यों की आदिम कालीन सामाजिक स्थिति में हम इन शब्दों को पाया जाना सिद्ध कर सकते तो हमारा बहुत कुछ लाभ हो सकता था, हालाँकि अफ्रीका या आस्ट्रेलिया की शायद ही कोई भाषा ऐसी हो, जिसमें उपरोक्त सम्बन्धों का अर्थ देने वाले शब्द न हों और शायद ही कोई ऐसी जंगली जाति हो, जिसमें पिता, माता, भाई, बहन, पुत्र-पुत्री इत्यादि सम्बन्धों को मान्यता न मिली हो, फिर भी ऐसी भाषाएँ हैं जिनमें विवाहोत्पन्न सम्बन्धों की अभिव्यंजना नहीं हुई है और ऐसे भी फिरके भी हैं जहाँ ऐसे शब्दों का अर्थ भी लोग नहीं जानते।

अगली पंक्तियों में दी गयी तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि विभाजन के पूर्व ही आर्यों में विवाहोत्पन्न सम्बन्धों की अभिव्यंजना हो चुकी थी। यद्यपि तालिका के कुछ स्थान अवश्य ही रिक्त रह गये हैं फिर भी दिये गये शब्दों की समानता हमें महत्वपूर्ण निष्कर्ष की ओर ले जाती हैं।

शब्द	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	गोथिक	स्लाव	केल्टिक
ससुर	श्वसुर्		सोसर	स्वैहर्	स्वेक्र्	ह्विजरेन
सास	श्वश्रू		सोस्त्रस	स्विजर[1]	स्वेक्री	ह्वेजर
दामाद	जामातृ		जेनर	....	जेती	जेवर
पतोहू	स्नुषा		नरस	स्नुरा	स्नुचा	...
देवर	देवर		लेविर	टेकर	डेवरिस[2]	...
ननँद	(नानँदर)		ग्लॉस	...	जेल्वा[3]	...
जेठानी	यातरस		जैनिट्रिस	...	जेत्र्यू	...
साला	श्यालः		...	...	...	...
साली	श्यालिः		..	...	....	...

यदि हमें संस्कृत में पत्नी के भाई के लिये श्यालः शब्द मिलता है और ग्रीक भाषा को छोड़ कर अन्य किसी भी आर्यन् भाषा में यह शब्द नहीं मिलता है तो इस संयोग की व्याख्या तब तक नहीं हो सकती, जब तक हम यह न मान लें कि यह शब्द उसी समय प्रयोग में आने लगा था जब समूचा आर्य परिवार एक ही साथ रहता था और इसकी विभिन्न शाखाएँ अलग-अलग नहीं हुई थीं।

वर्तमान काल में यदि कोई शब्द दो या कई आधुनिक भाषाओं में समान रूप में पाया जाय तो हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि इन दो भाषाओं को बोलने वाले लोगों में आवागमन है और विचारों का आदान-प्रदान होता रहता है, परन्तु आर्य जाति की दक्षिण-गामी शाखा ने जब से भारत में पैर रक्खा तथा उत्तर-गामी आर्यों ने जब से योरप की भूमि को स्पर्श की तब के बाद सहस्रों वर्षों तक इन दोनों के बीच न तो आवागमन ही हुआ और न भाषाओं का आदान-प्रदान ही हुआ। जब हम ग्रीक भाषा में जामातर शब्द के लिये यम्ब्रास या ममारा शब्द पाते हैं, जिसका मौलिक अर्थ होता था वर या दूल्हा और बाद में जो दामाद शब्द का अर्थ देने लगा तो हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन दोनों शब्दों की उत्पत्ति एक ही धातु से हुई है और वे दोनों ही समान भाव की अभिव्यंजना करते हैं, यद्यपि दोनों के ध्वन्यात्मक रूपों में अन्तर है। यह नाममात्र का अन्तर उस समय अनिवार्य हो जाता है जब एक ही मूलभाषा से दो या अधिक स्थानीय भाषाओं का जन्म होता है। देश-काल स्थिति के कारण शब्दों के मूल रूप में कुछ न कुछ अन्तर तो आ ही जाता है। एक भाषा के बोलने वालों को एक रूप सुविधाजनक प्रतीत होता है तो

१—ओल्ड हाई जर्मन भाषा २—लिथुआनियन भाषा ३—ओल्ड बोहेमियन भाषा

दूसरों का दूसरा। संस्कृत तथा ग्रीक दोनों भाषाओं ने जामातर भाव के लिये जम् (Zam) धातु को पसन्द किया, जिससे ग्रीक शब्द यमरॉस बना और संस्कृत भाषियों ने 'तर्' प्रत्यय लगाकर यभरा या जमरा के स्थान पर जामातर शब्द बना लिया। लैटिन भाषा-भाषियों ने इसी धातु को जम् को जेन (gen) बना लिया और उनका शब्द बन गया जेनर। ऐसा प्रायः होता है कि कोई शब्द तो किसी भाषा में नहीं रहता परन्तु उससे उत्पन्न या यौगिक शब्द उसी भाषा में पाये जाते हैं उसी यौगिक शब्द से मूल शब्द की स्थिति स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। प्राचीन ग्रीक भाषा में पौत्र का अर्थ देने के लिये नेपॉस (Nepos) शब्द नहीं है। संस्कृत में इस भाव को प्रगट करने के लिये 'नपात्' शब्द है, जर्मन भाषा में नेफॉस शब्द है, परन्तु ग्रीक भाषा में पितामह बोधक शब्द नेपियॉस है। इसी प्रकार चचा-बोधक शब्द है एवनकलस (avenculus) जो मूल रूप में एवन से ही उत्पन्न है। नेपियास शब्द उसी प्रकार बना है, जैसे कनसाब्रिनस अर्थात कनसोरोरिनस शब्द लैटिन में बना हैं। इटैलियन शब्द कजिनो (भतीजा) यद्यपि लैटिन शब्द से ही उत्पन्न है परन्तु इसमें लैटिन शब्द सोरोर की गंध तक नहीं मिलती। एनेपियोस शब्द से सिद्ध होता है कि ग्रीक भाषा में भी शिशु-बोध शब्द के लिए नेपस अवश्य ही रहा होगा।

अभी अन्य कितने ही शब्द हैं जिनसे आर्यों की कौटुम्बिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। विधवा की स्थिति का पता भाषा से भी चलता है और परिवार विधान से भी; परन्तु उस आदिम काल में भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि सद्यः विधवाओं को अपने पति के साथ जला दिया जाता था। यदि उस समय-सती प्रथा रही होती तो विधवा शब्द की ही क्या आवश्यकता थी और यदि यह शब्द बना ही था तो इसमें उस प्रथा की गंध अवश्य ही पायी जाती। संस्कृत में पति या पुरुष के लिये 'धव' शब्द मिलता है। यह एक ऐसा शब्द है जो अन्य किसी भी आर्यन भाषा में नहीं मिलता, क्योंकि केल्टिक शब्द 'डिया' जो मि० पिक्टेट के अनुसार व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता है, उसे किसी भी विद्वान ने सही नहीं माना है। संस्कृत भाषा के इसी धव शब्द में 'वि' उपसर्ग तथा स्त्रीलिंग सूचक 'आ' की मात्रा लगा कर विधवा शब्द बनता है, जिसका अर्थ होता है पुरुष या पति-विहीन स्त्री। यद्यपि मूल शब्द धव किसी भी आर्यन भाषा में नहीं मिलता, फिर भी इस मूल शब्द से बने यौगिक शब्द अन्य भाषाओं में मिलते हैं। इससे पता चलता है कि यद्यपि धव शब्द प्रचलन में कम आया,

परन्तु विधवा शब्द अति प्राचीन काल से अर्थात् विभाजन से पूर्व ही परिपक्वता को प्राप्त हो चुका था। यह शब्द केल्टिक भाषा में फीदब, है परन्तु गोथिक भाषा में विड़तो है, स्लाव भाषा में विडोवा (vidova) है, ओल्ड-जर्मन भाषा में विड्डव (widdewu) है तथा लैटिन में विडुवा (vidua) है। यदि पुराकालीन समाज में सती-प्रथा का प्रचलन होता या सिद्धान्त रूप में इसकी मान्यता ही होती तो विधवाओं की स्थिति ही न होती और फलतः इस शब्द का या तो जन्म ही न हुआ होता या यदि हुआ भी होता तो इतना अधिक प्रचलित न होता कि सभी आर्यन भाषाओं में इसे स्थान देने की आवश्यकता समझी गई होती। ऐसी स्थिति में इतिहास ही इस बात का प्रमाण है कि विभाजन-पूर्व-कालीन आर्यों में न तो कोई ऐसी प्रथा ही थी और न किसी ऐसे नियम को स्वीकृति ही प्राप्त थी, जिसके अनुसार मृत पुरुष की स्त्री को उसके साथ जल जाना पड़ता रहा हो।

यह सत्य है कि मुगल बादशाह जहांगीर ने इस प्रथा को बन्द करने का प्रयास किया था। उसी भावना से प्रेरित होकर जब लार्ड विलियम बेंटिक ने भारत में सती प्रथा को निषिद्ध करार दे दिया तो ऐसा प्रतीत हुआ मानो समूचे भारत में क्रान्ति ही हो जायेगी। ब्राह्मणों ने तर्क देना शुरू कर दिया कि सती प्रथा का जन्म आदिकालीन है क्योंकि वेद में इसके प्रमाण मिलते हैं। बृटिश सरकार का भारतीयों से वादा था कि वह किसी भी प्रकार का धार्मिक हस्तक्षेप नहीं करेगी। इसी वादे को आधार बनाकर ब्राह्मणों ने प्रचारित किया कि सती प्रथा को कानूनन निषिद्ध करना हिन्दुओं के धर्म में हस्तक्षेप करना है। रघुनन्दन तथा अन्य विद्वानों ने वेद की सूक्त का नाम तथा उस ऋचा की संख्या तक बताया जिसमें सती प्रथा को धर्म का अंग माना गया था तथा पाश्चात्य संकृत-विद्वानों में अग्रगण्य मि० कोल ब्रुक ने उस ऋचा का अँगरेजी में अनुवाद किया था, जो पाठकों के लिये नीचे दिया जाता है।

'ये स्त्रियाँ विधवा न हों- भली स्त्रियाँ सिंदूरादि से सुसज्जित होकर हाथ में घृत लेकर अग्नि में प्रवेश करें। अमर, पुत्रवती, सौभाग्यवती, माणिक मुक्तादि से सुसज्जित वे अग्नि में प्रवेश करें, जिनका मूल तत्व जल है।'

इस बात का शायद यह सर्वाधिक निन्दनीय उदाहरण है कि गलत ढंग से काम करने वाला पुरोहित वर्ग कितने निम्नस्तर तक जा सकता है। इधर तो प्रति वर्ष लाखों निरपराध जीवों की आहुति दी जाय और यदि शासन उसे विधानतः रोकने का प्रयत्न करे तो उसे धार्मिक हस्तक्षेप कहकर धार्मिक क्रांति की धमकी दी जाय। तारीफ तो यह है कि हिन्दुओं में ईश्वरकृत्-मान्य वेद की

ऋचाओं में भी उलट-फेर करके उसका अंट-शंट अर्थ लगाया जाय। यदि उस समय का कोई विद्वान तथा कथित ऋचा की प्रामाणिकता की जाँच करता तो ब्राह्मणों की तलवार स्वयम् उन्हीं के गले पर जा पड़ी होती। इतना ही नहीं, शायद उनकी आध्यात्मिक श्रेष्ठता भी भूमिस्पात् हो गयी होती। आज प्रतिशत एक भी ब्राह्मण जिस वेद को यथावत् पढ़ पाने में समर्थ नहीं हैं; उसी वेद में सती-प्रथा को मान्यता देने की कौन कहे, इस प्रथा के विरोध में ही काफी प्रमाण मिलते हैं। वेद को देखने मात्र से पता चल जाता है कि पुरा कालीन आर्य-समाज में इतिहासतः—सिद्ध-सती प्रथा कभी भी नहीं थी। ऋग्वेद की ऋचा के अनुसार या गृह्यसूत्रों में दिये गये यज्ञ-कर्मों के अनुसार मृत व्यक्ति की पत्नी शव-यात्रा में चिता के पास तक जाया करती थी। चिता में आग लगाने के समय के लिये ऋग्वेद में एक ऋचा है, जिसके अनसार स्त्री को आदेश दिया जाता था कि वह अपने पति को छोड़ दे और जीवितों के संसार को लौट आवे। इस ऋचा में कहा गया है कि, 'हे स्त्री उठो, जीवितों के संसार में आवो, जिसका जीवन समाप्त हो गया है, तुम उसके साथ सोती रही हो। अब हमारे पास आवो। यहाँ तक साथ आकर तुमने उस पति के प्रति स्त्री-धर्म का पालन कर लिया है, जिसने तुम्हारा हाथ पकड़ा था और तुम्हें माँ का पद दिया था।'

जिस ऋचा का भ्रान्त उद्धरण ब्राह्मणों ने दिया था, वह ठीक इसके पूर्व की ऋचा है। इस ऋचा का पाठ सन्देह से परे है। जिस भाव में हम पाठान्तर शब्द को लेते हैं उस भाव में वेद में पाठान्तर की सम्भावना ही नहीं है। हमारे सामने वेद भी है, उस पर भाष्य भी हैं, सूत्रों का संग्रह भी है परन्तु कहीं पर पाठान्तर की गुंजाइश नहीं है। यह ऋचा उन अन्य स्त्रियों को सम्बोधित की गयी है जो सद्यः विधवा के साथ श्मशान तक जाती हैं और जिनके जिम्मे चिता में तैल तथा घी डालने का काम रहता है।

'अच्छे पति से युक्त सधवाएँ तैल और घृत लेकर आगे आवें। जो माताएँ हो चुकी हैं वे पहले चिता के पास आवें, उनकी आँखों में आँसू न हों, उन्हें दुख न हो, वरन् वे माणिक-मुक्तादि से सुसज्जित हों।'

'माताएँ पहले चिता के पास आवें।' इस वाक्य को संस्कृत में इस प्रकार लिखा गया है:—

'आरोहन्तु जनयो योनिम अग्रे,'

ब्राह्मणों ने इसे बदल कर इस प्रकार कर दिया :—

'आरोहन्तु जनयो योनिम् अग्नेः';

परिवर्तन बहुत मामूली है, परन्तु उससे कितने बड़े अनर्थ का समर्थन होने लगता है और यही समर्थन लक्षशः स्त्रियों को कराल अग्नि की दाढ़ों में झोंक देने में समर्थ हैं।

बृहद्देवता नामक ग्रंथ में एक श्लोक है, जो स्पष्टतः इस प्रथा का विरोध करती है। यदि अन्यों के लिये नहीं तो ब्राह्मण जाति के लिये तो यह श्लोक स्पष्टतः सती-प्रथा का विरोध करती है। वह श्लोक इस प्रकार है :—

उदीर्ष्वा नारीति अनया मृतम् पत्नी अनुरोहति,
भ्राता कनीयान् प्रेतस्य निगद्याप्रतिषधति;
कुर्याद् एतत् कर्म हाता, देवरो न भवेद् यदि,
प्रेतानुगमनम् न स्याद इति ब्राह्मणशासनात्।
वर्णानाम् इतरेषाम् च स्त्रीधर्मोऽयम् भवेन्नवा।

जिस छन्द में कहा गया है कि 'हे स्त्री उठो" उसके पठन पर मृत-व्यक्ति की स्त्री चिता पर चढ़ने को आगे बढ़ती है। मृत व्यक्ति का अनुज उपरोक्त श्लोक को पढ़कर उसे चितापर चढ़ने से मना करता है। होता पुरोहित उस कार्य को सम्पन्न करता है यदि देवर न हो या उपस्थित न हो, ऐसा ब्राह्मणों का नियम कहता है। दूसरे वर्ण की स्त्रियों के लिये यह लागू हो या न हो।'

इतने विषयान्तर के पश्चात् हम फिर पुराने विषय की ओर लौटते हैं। हमने पीछे कहा है कि भाषा ही एक ऐसा स्रोत है जिससे प्रागैतिहासिक युग का इतिहास जाना जा सकता है। विधवा शब्द के अर्थ में हमने कहा है कि विधवा पति-विहीना स्त्री को कहते हैं। अब यदि इस पति शब्द पर ही विचार करें तो स्पष्ट हो जायगा कि यह शब्द प्रायः सभी आर्यन भाषाओं में ध्वन्यात्मक अन्तरों के साथ एक ही रूप में प्राप्य है और ऐसी स्थिति में पति शब्द अवश्य ही विभाजन के काफी पहले प्रचलन में आ गया रहा होगा। संस्कृत में यह शब्द पति है, जिसका मूल अर्थ था 'मजबूत, बलिष्ट'। लैटिन में पोटिस या पोटेंस (potis या potens)। लिथुआनियन भाषा में यह शब्द बिलकुल इसी रूप में है, पतिस। यदि ग्रिम्स के नियमों को पतिस शब्द पर लागू करें तो यह शब्द गोथिक भाषा में फैथ्स (faths) हो जायगा और इसी से बनता है ब्रथफैथ्स (Bruthfaths)। ग्रीक भाषा में पोटिश के स्थान पर पोडस शब्द मिलता है। संस्कृत में पति का स्त्रीलिंगीय रूप होता है पत्नी और उसमें कोई शक नहीं कि ओल्ड जर्मन का पट्टिन तथा ग्रीक भाषा का पोट्निया शब्द केवल पत्नी शब्द के रूपान्तर मात्र है।

घर में पति की जो स्थिति होती है अर्थात् वह जिस प्रकार अपने कुटुम्ब का स्वामी तथा रक्षक होता है, ठीक उसी प्रकार अपनी जनता में राजा की स्थिति होती है। वह भी जनता का स्वामी तथा रक्षक होता है। संस्कृत में जनता के लिये एक सामान्य शब्द है 'विश'। इसी विश से हिन्दुओं के तृतीय वर्ण का बोधक वैश्य बना है। वैश्य शब्द विशो का अपत्य वाचक रूप हैं। इसी विश से संस्कृत शब्द वेश बना जो मकान के अर्थ में प्रयुक्त होती है। यही शब्द ग्रीक भाषा में ओइकस, वाइकस है, गोथिक में वीज है, जर्मन में विश है। संस्कृत में विशपति राजन् के अर्थ में व्यवहृत होता है अर्थात् जनता का स्वामी। यह निश्चित-सा है कि विभाजन के पूर्व मूल भाषा में राजन् शब्द प्रतिष्ठापित हो चुका था। यह तथ्य इस तरह प्रमाणित होता है कि लिथुआनियन भाषा में एक शब्द मिलता है—वीज-पतिस (wieszpatis) जिसका अर्थ होता है स्वामी और जिसका स्त्रीलिंगीय रूप होता है वीज-पतने (wiesz-patene) जैसे संस्कृत में विशपति तथा विशपत्नी होता है। इन सब बातों से पता चलता है कि उस प्रारम्भ काल में ही आर्यों का कौटुम्बिक जीवन ही सुसंगठित नहीं था, वरन् वे राज्य की भावना को भी भली-भाँति हृदयंगम कर चुके थे और धीरे-धीरे कौटुम्बिक जीवन नागरिक-जीवन का रूप ले रहा था। राज्य सम्बन्धी पारम्परिक पदों का अर्थ देने वाले शब्दों की रचना ही इस तथ्य की मूक-साक्षी है। हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस समय के करीबन दो सहस्र वर्षों बाद योरोप में कैसर शब्द सुना गया।

जनता के लिये दूसरा नाम था दास या दस्यु और दासपति शब्द भी निस्सन्देह राजन् के अर्थ में ही व्यवहृत होता था। विश और दास में एक महत्वपूर्ण अन्तर यह था कि विश का अर्थ होता है 'जन' और दास का अर्थ होता है आधीन अर्थात् विजित जन। दास या दस्यु शब्द मूलतः शत्रु के अर्थ में प्रयुक्त होता था। वेद में दस्यु का अर्थ है शत्रु। जेन्द अवेस्ता में यही शब्द आता है जो सूबा या प्रदेश के अर्थ में व्यवहृत हुआ है। बादशाह दारा अपने को शाहे-परिशिया तथा शाहे-सूबा कहता था। (क्षायथीय मारसेया क्षायथीय दह्युनाम्)। ऐसी स्थिति में यह स्वीकार किया जा सकता है कि ग्रीक भाषा का डियोपोटिस शब्द वही है जो संस्कृत भाषा का दासपति अर्थात् राजन् है। कर्टियस ने इस शब्द के लिये शब्द रचना के पाँच अनुमान प्रस्तुत किये थे परन्तु उनमें 'दम्-पति' ही विद्वानों को सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुआ। बेनेफे साहब ने इसी दम्पति शब्द से सम्बन्धित किया है ओल्ड स्लाव भाषा के गासपॉड, गॉसपॉडिन (Gospod, gospodin) को, लिथु-

आनियन भाषा के गास्पैडोरस (Gospodorus) से, पालिनेशियन भाषा के गॉस्पोडार्ज (Gospodarz) से तथा बोहेमियन भाषा के हॉसपोडार (Hospodar) से। यद्यपि उन्होंने यह नहीं बताया कि संस्कृत भाषा का त इन भाषाओं में ड कैसे हो गया।

वेद में इसी अर्थ के लिये एक तीसरा शब्द भी है 'राज', जो लैटिन में रेक्स, रेजिस (Rex, Regis) है। लोग यह मानते हैं कि गोथिक भाषा का रीक्स (Reiks King) शब्द केल्कि भाषा से लिया गया है, परन्तु गोथिक भाषा का रेइकी (Reiki) शब्द ही यह प्रदर्शित कर देता है कि यह शब्द ट्यूटनिक जातियों में भी प्रचलित था। राज अपने जन्म काल में नेता बोधक शब्द था जो ऋज धातु (फैलाना) से निकला, जिससे ऋजु (सीधा) शब्द बना है। संस्कृत या राजन् शब्द भी इसी ऋज् से बना है।

राजा और रानी के लिये एक चौथा नाम भी था। पिता और माता। संस्कृत जनक पिता का बोधक है जो जन् (पैदा करना) धातु से निकला है। वेद में एक सुप्रख्यात राजा का नाम ही जनक है। ओल्ड जर्मन भाषा का चुनिंग तथा अँगरेजी का किंग शब्द जनक के ही रूपान्तर हैं। माता के अर्थ में जनी शब्द है, गोथिक में किनों (Qino), स्लाव में जेना (Zena) तथा अंगरेजी में क्वीन है। अतः क्वीन का मूल अर्थ हुआ माँ। यहाँ भी हम देखते हैं कि किस प्रकार कौटुम्बिक शब्द राजनैतिक बाना धारण कर लेते हैं। कुटुम्ब का भ्रातृत्व ही आगे चलकर राज्य का फ्रैट्रिया (ग्रीक, अर्थ भ्रातृत्व) बन गया।

हम देख चुके हैं कि आर्य जब अपने मूल स्थान में रहते थे और उनकी उत्तरगामी एवम् दक्षिणगामी शाखाएँ अलग नहीं हुई थीं, तभी उनमें गृह बोधक शब्द का प्रचलन था। यदि हम संस्कृति दम शब्द की तुलना ग्रीक शब्द डोमस, स्लाव शब्द डोमु, केल्टिक शब्द डायम्ह से करें तो हम गृह की कल्पना का दृढ़तर प्रमाण दे सकते हैं। प्राचीन काल में गृह का मुख्य अंग होता था द्वार। शत्रुओं तथा चोरों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए इसका मजबूती से बन्द होना आवश्यक माना जाता था। संस्कृत में द्वार शब्द आज भी सुरक्षित है, जिसका गोथिक रूप है दौर, लिथुआनियन रूप है दरीस, ईरानियन रूप है डोरस, ग्रीक रूप है स्वरा तथा लैटिन रूप है फोरस। ग्रीक भाषा का शब्द अगेतु की तुलना संस्कृत शब्द वास्तु (घर) से की जा सकती है। इससे भी अधिक परिणाम-दायक शब्द है संस्कृत का 'पुरी' जिसे ग्रीक भाषा ने पोलिस के रूप में सुरक्षित

रक्खा है। राजपथ भी उन दिनों अज्ञात नहीं थे। संस्कृत के पथ पथि, पन्थन् तथा पाथः शब्द सड़क के लिये आये हैं। ग्रीक शब्द पैटॉस तथा गोथिक शब्द फैड इसी पथ शब्द के रूपान्तर मात्र हैं।

यदि हम प्राचीन भाषा के अवशिष्ट शब्दों की तुलना करने बैठ जायँ तो उसके लिये एक अलग ग्रंथ की ही आवश्यकता पड़ेगी और प्रत्येक नया शब्द हमारी इस मान्यता को पुष्ट करता जायगा कि भाषा के ही सहारे हम तत्कालीन आर्यों के विषय में बहुत कुछ जान सकते हैं। पिछले कई पृष्ठों में हमने जिन प्रमाणों को प्रस्तुत किया है, उन्हीं से सिद्ध हो जाता है कि जिन लोगों ने इन शब्दों को जन्म दिया वे न तो शुद्ध रूपेण खाना-बदोश ही थे और न शत-प्रतिशत शिकारी ही। हम यह भी देखते हैं कि पीछा करने के लिये तथा युद्ध के विभिन्न अंगों का बोध कराने के लिये विभिन्न आर्यन भाषाओं में विभिन्न शब्द पाये जाते हैं किन्तु शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के कार्यों को प्रगट करने के लिये जो भी पाये जाते हैं वे सभी प्रायः प्रत्येक आर्यन भाषा में अपने अपने रूपों में समान ही है। यह तथ्य प्रगट करता है कि विभाजन के पूर्व बहुत दिनों तक आर्य लोग अपने मूल स्थान में सुख, शान्ति व व्यवस्था पूर्वक रहे। उनमें स्थानीय विशेषताएँ तभी आयीं जब वे विभक्त होकर अलग-अलग देशों में बँट गये। इस बहिर्गमन के बाद जिस जाति के सामने जैसी परिस्थितियाँ आयी वैसे ही उनके विचार बने और वैसी ही भाषा में उन विचारों की अभिव्यंजना हुई। यही कारण है कि शान्ति एवम् सुव्यवस्था सूचक शब्द सभी भाषाओं में समान रूप से पाये जाते है और यही कारण है कि युद्धात्मक अभिव्यंजनाओं में इतनी अधिक विषमता है। हम देखेंगे कि गृहस्थी के पशुओं के नाम भारत और इङ्गलैण्ड में समान ही हैं परन्तु जहाँ तक जंगली जानवरों के नामों का प्रश्न है ग्रीक तथा लैटिन जैसी पड़ोसी भाषाओं में भी कम अन्तर नहीं है। मैं केवल एकाध सूची मात्र दे सकता हूँ जो अपनी कहानी आप ही कहेगी, क्योंकि इतने अधिक शब्दों पर विस्तृत विचार करने का न तो स्थान है और न तो समय, यद्यपि मैं जानता हूँ कि इन शब्दों पर जितना ही विस्तृत विचार किया जायगा, आर्यों की घरेलू, कौटुम्बिक, सामाजिक एवम् राजनैतिक जीवन का उतना ही स्पष्ट चित्र हमारी आँखों के सामने बनता जायगा। फिर भी स्थानाभाव से सूची मात्र देकर मैं संतुष्ट हूँ।

जंगली पशुओं में से आर्यों ने कुछ का नामकरण तो अवश्य कर लिया

विशेषतया जो पशु एशिया तथा योरोप दोनों में पाये जाते थे। इन नामों में से हम भेड़िया; रीछ तथा सर्प शब्द की तुलना करेंगे :—

(१) शब्द	संस्कृत	ग्रीक	इटैलियन	ट्यूटनिक	स्लाव	केल्टिक
रीछ	रिस	आर्कटस	उरसस	...	...	ईरा० अर्ट
भेड़िया	वृक	ल्यूकॉस	लूपस (a) इरपस	जर्म०बुल्फ	लिथु०विल्क	...
साँप	अहि	इजिस	अंगुइस	ओ०हा०जर्मन ?,, अंगिस		...
	सर्प	इर्पेटन	सर्पेंस	अंक		सर्फ

(२) शब्द	संस्कृत	जिन्द	ग्रीक	इटैलियन	ट्यूटनिक	लिथुआनियन	स्लाव	केल्टिक
बैल,गाय	गो	गाओ	बोक्स	बॉस	ओ०हा०ज०	(लेटिश गाव	गवेडो	ईरा०बो
पशु	पशु	पसु	...	पेक्यू	ज०फैथूप्रो० (प्रशन) हा०ज०फिहूँ	पेकू	...	...
बैल	अक्षन	अक्षन	...	...	ज० ओह्सा	...	...	...
घोड़ा	अश्व	अश्य	...	इकुअस	एहू	अज्व	...	इपास
कुत्ता	श्वान	स्पा	ओटक	कैनिस	हण्ड	स्जू	सोवक	क्यू
भेंड़	अवि	...	ओइस	ओविस	इव	अविस	ओव्जा	ओइ
बछड़ा	वत्स	...	इतुलोस	विटुलस	...	...	...	फिथल
बकरा	...	...	कैप्रस	केपर	हफर	...	...	कमर
बकरी	अजा	...	...	...	....	ओजिस	...	अज
सुअर	शूकर	हू	बस	सस	सू	...	स्विनिया	....
चूहा	मूष	....	मुस	मस	मूस	...	माइस	....
हंस	हम्स	...	ज़न्व	अन्सर	कंस	जसी	हस	...
बत्तख	आति	...	बनुआ	अनास	ऑएट	ऐंटिस	...	...

(३) हम उन नामों को छोड़ देते हैं जो पालतू बनकर आर्यों की गृहस्थी में आ चुके थे। शेष कुछ ऐसे थे जिनसे चरवाहा पेशा वालों को भय होना स्वाभाविक ही था। इस स्थान पर हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि उस आदिम काल में भी आर्यों ने जोतना, पीसना, बुनना तथा बहुमूल्य धातुओं का लाभदायक उपयोग करना सीख लिया था।

(४) हल जोतने का भाव प्रगट करने के लिये संस्कृत भाषा में अर शब्द है, यही शब्द लैटिन में अरेर हो गया है, ग्रीक भाषा में एरोवन है, ओल्ड स्लाव भाषा में ओराति है, गोथिक में अर्जन है, लिथुआनियन में अर्ति

है और गेलिक भाषा में अर है। ग्रीक भाषा के एरोवन शब्द से हल के लिये ग्रीक भाषा में अराट्रम, ओल्ड सैक्सन में एरिडा, ओल्ड नार्स में अर्धे, ओल्ड स्लाव में ओरेलो, लिथुआनियन के अर्क्ला, वेल्स के अरेदिर तथा कार्निश भाषा के अरेदर शब्द निकले। सम्भावना इस बात की भी हो सकती है कि संस्कृत का 'रथ' शब्द भी अर का ही यौगिक हो। लिथुआनियन रत, लैटिन का रोट, ओल्ड आइरिश का रोथ शब्द प्रमाणित करते हैं कि आर्यों को पहियेदार गाड़ी का ज्ञान था। ग्रीक भाषा का अरोरा तथा लैटिन भाषा का अर्वम शब्द भी अर् धातु से ही उत्पन्न हैं।

यह बात तो स्वतः सिद्ध है कि जो अन्न आर्यों के मूल स्थान में पैदा होता रहा होगा, वह और भी उत्तर के देशों में पैदा नहीं हो सकता था। कुछ अन्नों के नाम सुरक्षित हैं। सम्भव है कि इन नामों से समान अन्नों की अभिव्यंजना न होती हो, परन्तु समान नामों से अभिहित किये जाने वाले अन्नों में बानस्पति एकता अवश्य ही है। संस्कृत का यव, रूपान्तरित होकर ग्रीक में जिया हो गया है। संस्कृत में श्वेत (सफेद), गोथिक में ह्वीट, ओल्ड हाई जर्मन में विज तथा ऐंग्लो सेक्सन ह्विट समान रूप से श्वेत रंग के लिये उपयुक्त होते हैं। रंग के कारण ही सफेदी लिये हुए जो अन्न होता था उसका नाम ही श्वेत हो गया जैसे: – गोथिक ह्वैटी, लिथुआनियन में क्वेटी तथा अँगरेजी में ह्वीट अर्थात् गेहूँ। श्वेत शब्द को श्वित् शब्द से अलग नहीं किया जा सकता। मूलतः अन्न का नाम पीसे जाने वाले अर्थ में रक्खा गया। इस प्रकार संस्कृत के चूर्ण शब्द का अर्थ होता है पिसा हुआ तथा जीर्ण का अर्थ होता है कुटा हुआ या पिसा हुआ। इसी शब्द से रशन भाषा का जरनो, गोथिक का करुन तथा लैटिन का ग्रेनम बना। लिथुआनियन में जिरना कहते हैं जाँता (चक्की) के पत्थर को तथा बहुबचन जिरनोस कहते हैं हाथ से चलायी जानेवाली चक्की को। चक्की के पत्थर को रशन (रूसी) भाषा में जर्नोव कहते हैं और पीसने वाली मशीन को गोथिक भाषा में क्वैर्नस कहते हैं, जिसे बाद में क्विर्न कहने लगे। इसी भाँति अँगरेजी के मिल शब्द पर ही विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि यह शब्द भी अति पुराकालीन है, क्योंकि यह शब्द न केवल ओल्ड हाई जर्मन भाषा में मुली रूप में मिलता है, वरन् लिथुआनियन भाषा में मालुना, बोहेमियन में म्लिन, वेल्स भाषा में मेलिन, लैटिन में मोला तथा ग्रीक में मुलन रूप में मौजूद है।

भोजन बनाने से सम्बन्धित अनेक शब्दों का उदाहरण दिया जा सकता है और इससे यह प्रमाणित किया जा सकता है कि जिस प्रकार वैदिक

ऋषियों ने कच्चा मांस को खाना घृणित माना है, उसी प्रकार तत्कालीन पाश्चात्य विचारकों ने भी माना है। परन्तु स्थानाभाव के कारण हम उस विषय के विस्तार में नहीं जा सकते। यदि फिर कभी अवसर मिला तो मानव जीवन के उस पक्ष पर अधिक प्रकाश डाल सकूँगा।

पहनने के कपड़ों का नाम भी समस्त आर्यन भाषाओं के समान ही हैं। संस्कृत का वस्त्र, गोथिक का वस्ति, लैटिन का वेस्टिस, आइरिश का फसराध, वेल्श का ज्विस्क इसके उदाहरण हैं। इसी से यह भी प्रमाणित होता है कि आर्य लोग कपड़ों का बुनना व पहनना भी जानते थे। संस्कृत में बुनने के लिये वभ् धातु है और इसी से उत्पन्न शब्द ऊर्णावाभि शब्द है, जिसका अर्थ होता है मकड़ी या ऊन का बुनने वाला।

सीने के लिये संस्कृत में सिव् धातु है, जिससे सूत्र (सूत,धागा) शब्द बना है। यही धातु लैटिन में सुओ, गोथिक में सिउजा, ओ०हा०ज० में सिऊ अँगरेजी में सिउ तथा लिथुआनियन सिउव रूप में आज भी वर्तमान है। करीब-करीब इसी अर्थ में संस्कृत की नह् धातु है जो नभ एवम् नध रूप में भी प्रयुक्त होती है। नह् को हम लैटिन में नियो तथा नेक्टो, ग्रीक में निउ, जर्मन में नाहन के रूप में सीने के अर्थ में ही पाते हैं। केवल कुछ ही शब्दों पर विचार करके यह प्रमाणित किया जा सकता है कि जिस समय आर्य अपने मूल स्थान में ही रहते थे और वे विभाजित नहीं हुए थे, उस समय भी कुछ धातुओं का उन्हें न केवल ज्ञान ही था वरन् वे उन्हें प्रयोग में भी लाते थे। यह सत्य है कि धातुओं के नाम विभिन्न भाषाओं में विभिन्न हैं और इससे यह प्रमाणित होता है कि इन धातुओं का नामकरण विभाजन के बाद की घटना है, परन्तु लोहे पर विचार करने से पता चलता है कि यह धातु विभाजन के पूर्व ही आर्यों द्वारा प्रयुक्त होने लगी थी। लोहे का मूल्य रक्षात्मक भी था और आक्रमणात्मक भी। इसका मूल भाषा में चाहे जो भी नाम रहा हो, किन्तु यह स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा का अयस् शब्द, लैटिन एहस, गोथिक का एअर, ओ०हा०ज० का एर तथा अँगरेजी का आइरन इत्यादि शब्द ऐसे हैं जो एक ही उपादान से तथा एक ही साँचे में ढले हैं और विभिन्न देशों के मोर्चे (जंग) ने इस पर इतना कम प्रभाव डाला है कि इसकी एकरूपता तनिक भी अस्पष्ट नहीं हुई है। सोने और चाँदी जैसे धातुओं के नाम अवश्य ही कई देशों एवम् कई पीढ़ियों के हाथों में घिस-पिट गये हैं। फिर भी केल्टिक शब्द एअरजियोड में संस्कृत के रजस् शब्द की स्पष्ट छाया मिलती है और ग्रीक भाषा का

अर्गुरास, लैटिन के आर्जेंटम में भी रजस की आभा दीख पड़ती है। गोथिक भाषा के गुल्थ (स्वर्ण की एकरूपता) स्लाव भाषा के ज्लैटो रशन के जोलाटो, ग्रीक के जखुस तथा संस्कृत के हिरण्यम् शब्द के साथ स्थापित की जा सकती है। यद्यपि इन शब्दों की धातुओं में स्पष्ट अन्तर है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन शब्दों की धातु हर् है और संस्कृत में इसी से हरित् शब्द बना है जो सूर्य तथा ऊषा का रंग है। इसी प्रकार आरोरा के रंग की समानता के कारण ही ऑरम (Aurum) नाम रक्खा गया। पत्थर के या धातु के ऐसे औजार भी थे जो या तो कृषि के काम में आते थे या युद्ध के कामों में। इनके समान-नाम अब तक विभिन्न भाषाओं में सुरक्षित हैं। यह एक आश्चर्यजनक समानता है कि संस्कृत का परशु तथा ग्रीक का पेलेकस (कुल्हाड़ी) समान रूपी है, संस्कृत का असि (तलवार) तथा लैटिन के एनासिस में भी वही समानता है, संस्कृत का इषु (बाण) तथा ग्रीक का इओस (तीर) समरूपी हैं तथा संस्कृत के क्षुर तथा ग्रीक के ज़ुरोव में अद्भुत साम्य हैं।

नये विचारों को शीघ्र ही मान्यता नहीं मिल जाती। हमारे मनस की यह एक प्रवृत्ति है कि वह नये विचारों का प्रतिरोध तहाँ तक और तब तक करता है, जहाँ तक और जब तक कर सकता है। अतः यदि हम चाहते हैं कि लोग इस स्थापना को मान लें कि जब ग्रीक ग्रीक नहीं थी, संस्कृत-संस्कृत नहीं थी तब एक ऐसी भाषा बोली जाती थी जो तमाम आर्यन भाषाओं की जननी थी, और इन आर्यन भाषाओं की सृष्टि के पूर्व एक ऐसा भी युग था जब हम सब (जो अपने को आर्य कहते हैं) के पूर्वज एक ही स्थान पर रहते थे और बहुत दिनों तक अविभक्त रूप में रहकर तब उस परिवार के विभिन्न जन, विभिन्न निवास योग्य स्थानों की खोज में उत्तर तथा दक्षिण की ओर चल पड़े। दक्षिणगामी आर्यों को समीप ही भारत मिल गया और वे वहीं बस गये, परन्तु उत्तर तथा पश्चिमोत्तरगामी आर्य सुविधा पूर्ण निवास की खोज में मेसोपोटामियाँ, मिश्र, यूनान तथा डेन्मार्क तक बढ़ते चले गये और उस मुल्क को यूरोपा नाम दिया। इस बहिर्गमन के पूर्व वे एशिया के केन्द्र स्थान में ही रहते रहे होंगे, जहाँ से वे दक्षिण, उत्तर तथा पश्चिमोत्तर की ओर फैले। इस मान्यता का एक अनिवार्य परिणाम यह भी होगा कि एशिया के केन्द्रीय भूमि में रहनेवाले आर्यों ने विभाजन के पूर्व समुद्र को न देखा रहा होगा। यदि हमारी स्थापनाएँ सही हैं तो हमको यह भी मानना पड़ेगा कि समुद्र सम्बन्धी शब्दों की रचना विभाजन के बाद की है। प्रसन्नता इस बात की है कि यह बात भी प्रामाणिकता प्राप्त कर

चुकी है। इतना ही नहीं, सागर सम्बन्धी शब्द सभी स्थानीय भाषाओं में तब ही बने जब उन भाषा-भाषियों ने समुद्र का दर्शन किया। यह सत्य है कि ग्रीक नामों तथा उन्हीं भावों को प्रगट करनेवाले लैटिन नामों में साम्य है परन्तु आर्यों की दक्षिण-पूर्वी शाखा की भाषाओं में तथा पश्चिमोत्तरशाखा की भाषाओं में इन नामों का समान रूप में पाया जाना अपवाद मात्र है, सामान्य नहीं। विशेषतया सागर बोधक नामों में तो अत्यधिक अन्तर है। हम तो यह भी देखते हैं कि लैटिन तथा ग्रीक भाषाओं में सागर बोधक शब्द हैं वे भी उपमा-मूलक हैं अर्थात् उन्होंने सागर को देखा, उसके नामकरण के लिए उन्होंने अपने प्राचीन शब्द भंडारको टटोला औरउसी भंडारमें जो शब्द उन्हें सर्वथा उपयुक्त प्रतीत हुआ वे सागर को उसी नाम से पुकारने लगे। यही बात अन्य भावों शब्दों के सम्बन्ध में भी ठीक है। लैटिन का पोंटस तथा ग्रीक का पोंटास उसी भाव में समुद्रबोधक हो जाते हैं। पोंटस शब्द की उत्पत्ति उसी मूल से हुई है, जिससे पांस या पोंटिस शब्द बना है अर्थात् यह शब्द यदि पाथः का रूपान्तर नहीं है तो पंथा शब्द का रूपान्तर तो अवश्य ही है। उन लोगों के सामने सिन्धु किसी बाधा के रूप में नहीं वरन् आवागमन के सुगम साधन के रूप में था और व्यापारादि के लिये सड़क से अधिक उपयोगी था। ऐसी स्थिति में प्रोफेसर कर्टियस का यह कहना ठीक ही प्रतीत होता है कि ग्रीक भाषा के 'पोन्टस एलॉस पोलिस' तथा 'थालोआ पोन्टोव में पोंट्रस भाव का ही स्फुरण है। संस्कृत सर, लैटिस साल तथा ग्रीक शब्द आल्स या अलोस से यह प्रमाणित नहीं होता कि आदिम कालीन आर्यों का समुद्र से परिचय था। सर शब्द संस्कृत में मूलतः जलबोधक था फिर जल-जनित-लवण के लिए इसका उपयोग होने लगा। इससे यह अवश्य प्रमाणित होता है कि नमक युक्त पानी के जलांश को भाप रूप में उड़ाकर नमक बना लेने की क्रिया आर्यों को ज्ञात थी। संस्कृत सर या सलित तथा ग्रीक आल्स या साल से इससे अधिक काम नहीं लिया जा सकता। इन शब्दों से सागर बोधक अर्थ बाद में निकलने लगा। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समुद्र बोधक शब्दों की रचना विभाजन की परवर्ती घटनाएँ हैं। लैटिन का मेयर (Mare) शब्द शान्त, स्थिर जल का बोधक है। वास्तव में लैटिन मेयर का अर्थ होता है मृत और पानी का गुण है बहना। अतः जो जल बहता नहीं वह मृत है। जो मृत है वह स्थिर है। इसीलिए स्थिर पानी को मृत पानी या केवल मृत (मेयर) कहने लगे। ऐसी नामकरण परम्परा संस्कृत में भी दिखायी देती है। भूमि में गुण है उत्पन्न करने का, इसीलिए वह रत्नगर्भा है। यदि उसमें कुछ पैदा नहीं होता या हो सकता तो वह भूमि मृत है या मरु (भूमि) है।

यद्यपि गोथिक मारेइ, अँगरेजी की मियर, स्लाव का मोर, आइरिश का म्यूर शब्द जल बोधक ही है, परन्तु क्षेत्रीय भाषाओं में ये ही शब्द सागर बोधक हो गये। यह भी सत्य है कि यद्यपि आर्य लोग विभाजन के पूर्व सागर से परिचित नहीं थे, फिर भी नाव खेने की बात वे लोग तब भी जानते थे जब मूल भाषा की पुत्रियों (क्षेत्रीय भाषाओं) का जन्म भी नहीं हुआ था। संस्कृत में नौः, नावः, लैटिन का नाविस, ग्रीक का नावस, ओ० हा० ज० का नाको तथा ऐंग्लो सैक्सन भाषा का नाका इस बात को प्रमाणित करते हैं।

यह असम्भव है कि कोई पिछले पृष्ठों में प्रस्तुत शब्दों को देखे और उसके मन में यह कल्पना या भावना न उठे कि अवश्य ही ये सभी शब्द किसी भाषा के अंग हैं। विश्वास मानिये कि यदि अवकाश होता तो मैं ऐसे शब्दों के पोथे तैयार कर देता। भाषा के अस्तित्व की भावना होते ही भाषा-भाषियों के भी अस्तित्व को स्वीकार करना आवश्यक हो जायगा। साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि शायद ही इतिहास का कोई शोधकर्ता उस प्राचीनता की गहराई में डुबकी लगाने को प्रस्तुत होगा, जिसकी हम बात कर रहे हैं। आप लोग देख ही रहे हैं कि हमारे हाथ में कितने सबल प्रमाण हैं। आज हम लोग ठीक उन्हीं शब्दों को प्रयोग में ला रहे हैं, जिन शब्दों को हमारे आदिम कालीन पूर्वज प्रयोग में लाया करते थे। यदि कुछ परिवर्तन हुआ भी है तो वह परिवर्तन ध्वनि का है न कि शब्दों के रूप का। हम इन शब्दों के आधार पर कह सकते हैं कि हम आज भी अपने उन सुदूर पूर्वजों के उतने ही समीप हैं जितने समीप आज के फ्रांसीसी तथा इटैली वाले अपने रोमन पूर्वजों के हैं। यदि इस बात को मानने के लिये और प्रमाणों की आवश्यकता प्रतीत हो कि विभाजन के पूर्व भी आर्यों का कोई युग था, तो हमें अपने उन अंकों की ओर ध्यान देना चाहिये जिन्हें हम सब अपने दैनंदिनीय कार्यों में प्रयोग करते हैं। इन नम्बरों के आधार पर तत्कालीन आर्यों की बौद्धिकता का अकाट्य प्रमाण उपस्थित कर सकते हैं। हमें तत्कालीन आर्यों में ही उस दशमलव प्रणाली के दर्शन मिलते हैं जो स्वयम् अपने में ही मानव मस्तिष्क के एक भाव-मय कृतित्व को छिपाये हुए हैं; जिसका नियमन शुद्ध दार्शनिक वर्गीकरण की भावना से हुआ है और मजा तो यह है कि यह प्रणाली उस समय आर्यों के जगत में साकार हुई थी जब ग्रीक, रोमन, स्लाव या ट्यूटनिक जातियों के पैर योरप पर पड़े भी नहीं थे। यह ५ प्रणाली अवश्य ही किसी छोटे से फिरके द्वारा निकाली गयी होगी। भाषा के विषय में तो हमें मानना ही पड़ेगा कि कोई शब्द तब तक सार्थक शब्द का रूप नहीं लेता

जब तक किसी भी समय के अधिकांश जन उसे स्वीकार करके उसका प्रयोग न करने लगें, परन्तु अंकों के मामले में यह आवश्यकता और भी बढ़ जाती है। आर्यों के एक से लेकर सौ तक की गिनती की रचना करने एवम् उसका सर्वमान्य रूप निर्धारित करने में उनकी बौद्धिक श्रेष्ठता का दर्शन होता है। यदि हम कल्पना करें कि किस प्रकार आर्यों ने एक, दो, तीन इत्यादि अंकों की कल्पना की, उनका नामकरण किया, उनका रूप स्थिर किया तथा उन्हें सर्वमान्य रूप प्रदान किया तो हमें अवश्य ही आश्चर्य की अनुभूति होगी। हम किसी भी भौतिक पदार्थ के स्वरूप की अभिव्यंजना सरलता से कर सकते हैं, क्योंकि हमारे सामने एक वस्तु होती है, जिसका वर्णन करना होता है और हम उसका वर्णन उपमा या उस पदार्थ के गुण द्वारा कर सकते हैं। हम सागर को 'खारा पानी' कह सकते हैं क्योंकि सागर का पानी खारा होता है, वर्षा को आकाशीय या स्वर्गीय जल कह सकते हैं, क्योंकि वह ऊपर से गिरता है और नदियों को धरती की पुत्री कह सकते हैं, क्योंकि वे धरती की गोद में क्रीड़ा करती हैं; परन्तु अंकों की बात ही और होती है। हामरे समक्ष पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की सीमा में आ सकने योग्य कोई पदार्थ तो होता नहीं जिसके गुणों या स्वरूप का सहारा लेकर हम उसका नामकरण कर दें। हमें शुद्ध भावमय-संसार में काम करके एक ऐसा शब्द खोजना पड़ता है जो संख्यात्मक विचार की अभिव्यंजना कर सके। एक या दो की कल्पना करने के लिये हमारे सामने कम कठिनाइयाँ आ सकती हैं और यही कारण है कि एक या दो के लिये विभिन्न आर्यन भाषाओं में एक से अधिक नाम मिलते हैं, परन्तु इससे हमारी विचार-प्रणाली में एक कठिनाई आ खड़ी होती है। हम सोचने लगते हैं कि यदि एक ही संख्या के लिये विभिन्न जन विभिन्न नामों का व्यवहार करने लगें तो नामकरण का उद्देश्य ही असफल हो जाता है। यदि हम संख्या ५ की अभिव्यंजना किसी ऐसे शब्द से करें जिसका अर्थ खुला हाथ (पाँचों उगलियाँ दिखाई पड़ सकें) हो और कुछ लोग उसकी अभिव्यंजना के लिये एक बोधक शब्द के सामान्य बहुवचन का ही प्रयोग करने लगे या 'अंगुली' शब्द के बहुवचन रूप को ही ५ की संख्या का बोधक मान लें तो विचारों के आदान-प्रदान में बड़ी बाधा उपस्थित हो जायगी और ये तीनों ही नामकरण तब तक बेकार बने रहेंगे, जबतक इन तीनों को सर्वमान्य रूप न प्राप्त हो जाय। इसी प्रकार यदि उंगली शब्द के बहुवचन रूप को कुछ लोग पांच का और कुछ लोग दस का और कुछ लोग बीस का बोधक मानने लगें तो सारे व्यापारिक कामों में व्याघात

उपस्थित होना शुरू हो जायगा। अतः प्रत्येक कार्य को सुचारु रूप देने के लिये यह आवश्यक था कि सारी आर्य जाति के लोग किसी संख्या के लिये एक ही शब्द बोलें और उस शब्द के बोलने पर एक ही संख्या का बोध हो। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार का शब्द-विषयक समझौता सदैव ही अचेतन संसार का विषय होता है। भाषा के अन्य शब्दों के विषय में इतनी दृढ़ मान्यता का प्रश्न नहीं उठता। यही कारण है कि जैसे प्राचीन काल में वैसे ही आजकल की भाषाओं में समानार्थक एवम् अनेकार्थक शब्दों का बाहुल्य है। साहित्यिक एवं प्रायोगिक शब्दों की घिसाई-पिटाई इसलिये हो जाती है कि हम सुविधा प्रेमी हैं, अतः किसी भी ऐसे भार को दूर कर देना चाहते हैं जो हमारे सर पर व्यर्थ पड़ा रहता है। हम चाहते तो यही हैं कि एक वस्तु का एक ही नाम हो और एक शब्द का एक ही अर्थ हो। पुराकालीन आर्यों ने जब संख्या बोधक शब्दों को मान्यता दी होगी तो वे शब्द इस प्रकार की घिसाई-पिटाई से गुजर चुके रहे होंगे और वह समय अवश्य ही उसके पूर्व रहा होगा, जब मूल भाषा की पुत्रियों का जन्म नहीं हुआ रहा होगा। आगे की पंक्तियों में दी गयी तालिका से हमारा तर्क स्पष्ट हो जायगा।

संख्या	संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	लिथुआनियन	गोथिक	अंगरेजी
१	एकः	एइस	यूनस	वीनस	एइंस	वन
२	द्वौ	दुव	डुवो	डु	ट्वाइ	टू
३	त्रयः	त्रेइस	ट्रेस	ट्राइस	थ्रीइस	थ्री
४	चत्वारः	टेरेस	क्वाटुअर	केट्वरी	फिद्वर	फोर
५	पंचः	पेन्टे	क्विंक	पेंकी	फिम्फ	फाइव
६	षस्		सेक्स	जेसी	सैह्स	सिक्स
७	सप्त	एप्टा	सेप्टम्	सेप्टिनी	सिबुन	सेवेन
८	अष्ट	आक्टो	ऑक्टो	अश्तुनी	अह्तौ, अह्टो	एट
९	नवः	एन्निया	नोवम	डेविनी	नियन	नाइन
१०	दशः	डेका	डेसेम	डेजिम्ट	तैहुन	टेन
११	एकादश	एंडेका	अनडेसिम	वीनोलिका	ऐन्लिफ	इलेविन
१२	द्वादश	ड्विडेका	ड्वोडेसिम	ड्वइलिका	त्वालिफ	ट्वेल्व
२०	विंशति	एलकूल	विजिंटी	ड्वि-डेजिम्ति	ट्वैटिग्जस	ट्वेंटी
१००	शतः	एकाटॉन	सेंटम	जिमतस	तैहून तैहुन्द	हंड्रेड
१०००	सहस्रः	जिलिओइ	मिली	टक्स्टैटिस	थजण्डी	थाउजेंड

यदि हम फ्रेंच, इटैलियन, स्पेनिश, पोर्चुगीज एवं वलेशियन भाषाओं में संख्या बोधक शब्दों की समरूपता को देखकर यह निष्कर्ष निकालते हैं कि ये सभी भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से अर्थात् लैटिन भाषा से निकली है तो उपरोक्त तालिका में संख्या बोधक शब्दों की एकरूपता को देखकर यह निष्कर्ष क्यों नहीं निकाल सकते कि तालिकोक्त सभी क्षेत्रीय भाषाएँ किसी एक ही स्रोत से निकली हैं। ये शब्द उस भाषा में पहले से ही मौजूद थे जिससे संस्कृत, ग्रीक लैटिन इत्यादि भाषाएँ निकलीं, परन्तु यह मान्यता केवल १०० तक के अंकों के लिए ही सही है। शायद उस समय सहस्र की कल्पना करने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी थी, क्योंकि हम देखते हैं कि सहस्र बोधक शब्दों में कोई समानता नहीं है। इससे आर्यों के इतिहास के विषय में एक नयी बात मालूम होती है। हम देखते हैं कि संस्कृत का सहस्र एवम् जिन्द भाषा का हजत्रा प्रायः एक ही हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि विभाजन के बाद भी ब्राह्मणों एवम् पारसियों के पूर्वज कुछ दिनों तक साथ रहे या विभाजनान्तर भी उनमें विचारों का आदान-प्रदान होता रहा। यदि हम सहस्र बोधक शब्दों को गोथिक तथा ओल्ड जर्मन भाषा के थजण्डी तथा टुसिम्टंस साथ ही लिथुआनियन भाषा के टक्स्टैंटिस को देखें और यह भी देखें कि ग्रीक एवं लैटिन भाषा के सहस्र बोधक शब्दों का इनसे कोई मेल नहीं है तो हम एक बार फिर इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पश्चिमोत्तरगामी आर्यों की विभिन्न शाखाओं में से गोथिक, जर्मन, लिथुआनियन एवं स्लाव भाषा-भाषियों का सम्पर्क विभाजन के बाद भी कुछ दिनों तक बना रहा, जबकि ग्रीक एवं लैटिन भाषा-भाषियों से उनका सम्पर्क टूट गया।

विभाजन पूर्व के इस युग को हमने पौराणिक युग के नाम से इसी लिए अभिहित किया है कि इस समय में रचे गये एक-एक शब्द हम लोगों के लिये एक-एक पुराण से कम नहीं है। शुरू-शुरू में भाषा का प्रत्येक शब्द नाम बोधक ही था जो किसी न किसी पदार्थ, दृश्य या क्रिया के कई गुणों में से किसी एक के नाम को प्रगट करता था। यदि हम कहें कि 'अनुभूति की प्रभाव पूर्ण अभिव्यंजना ही कला (काव्य) है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इन अर्थों में प्रारम्भ का प्रत्येक शब्द ही एक काव्य था, कला का रूप था। शब्दों की यह कलात्मकता हमारे आज के काव्य में अवश्य खो गयी सी दीखती है।

यदि आर्यन भाषाओं से प्राप्त इन तमाम प्रमाणों का अध्ययन करें तो हम देखेंगे कि आर्यों का तत्कालीन जीवन खाना-बदोश खेतिहरों का था। इसी तथ्य को हम योगी कह सकते हैं। कि विभिन्न जातियों (भारतीय, पारसी, यूनानी, रोमन, केल्टिक इत्यादि) में विभाजित होने के पूर्व वाले युग में आर्यों का

जीवन उन प्राचीन जर्मनों की तरह था, जिनका वर्णन टैसिटस ने किया है। वे खेत जोतने की कला जानते थे, सड़कें, गाड़ियाँ, नाव बनाना जानते थे। कपड़ों को बुनने का, सिलने का, मोर्चेबन्द निवेश बनाने का उन्हें ज्ञान था। वे गिन सकते थे और अपने साल को उन्होंने महीनों में विभाजित किया था। खेती या दूध के लिये महत्वपूर्ण पशुओं को वे पालने लगे थे। आवश्यक धातुओं का उन्हें ज्ञान था। साथ ही वे कटार और तलवार का प्रयोग करते थे, यह प्रयोग शान्तिपूर्ण कामों के लिए भी और युद्धात्मक कार्यों के लिए भी था। वे अपने मुखिया या राजा की आज्ञाओं का पालन करते थे और समय-समय पर बनाये नियमों तथा क्रमागत परम्पराओं का निर्वाह करते थे। स्वर्गीय शक्ति की स्थिति को वे मानते थे और इस शक्ति को उन्होंने विभिन्न नाम दे रक्खा था। भावागत प्रमाणों के ही आधार पर यह भी जाना जा सकता है कि विभाजन के काफी पहले ही आर्य लोग सभ्यता के उस स्तर से भी आगे पहुँच चुके थे, जिसका प्रमाण हमें भारतीय, यूनानी एवं रोमन साहित्यों से चलता है, क्योंकि अब यह मान लिया गया है कि ऋग्वेद की ऋचाएँ उस समय रची गयीं, जब आर्य लोग सप्तसिंधु देश में बस चुके थे, क्योंकि इन ऋचाओं में सप्त-सिन्धुओं का वर्णन एकाधिक बार आया है तथा वे ऋचाएँ ही इस बात का सबल प्रमाण उपस्थित करती हैं कि उनके रचयिताओं में खाना-बदोशपन का भाव था। वैदिक ऋचाओं से ही यह भी पता चलता है कि उन्होंने आजकल के पंजाब को सर्वोत्तम चरागाह की दृष्टि से देखा था और इसके लिए उन्हें न केवल परकीयों से वरन् स्वकीयों से भी युद्ध करना पड़ा था। डा० कुन (Kuhn) के अनुसार वेद ही आर्य जाति या यों कहें कि मानव जाति का सर्वप्रथम साहित्यिक अभिलेख है, जिसके द्रष्टाओं ने पशु-पालन से ऊब कर खेती-बारी का काम शुरू कर दिया था।

भारत में बसने वाले आर्यों की प्रारम्भिक कालीन स्थिति के विषय में उपरोक्त मान्यता ऋग्वेद की ऋचाओं से ही समर्थन प्राप्त करती है। ऋग्वेद का अनुवाद करते हुए प्रोफेसर विल्सन ने अनेक बार इस तथ्य को सामने रक्खा है कि इन ऋचाओं के द्रष्टा ऋषिगण जिस जाति में उत्पन्न हुए थे उसके अधिकांश जन खानाबदोश थे परन्तु उससे अधिक वे खेतिहर थे।

भाषा उसी प्रकार इतिहास का उद्घाटन करती है जैसे पृथ्वी के स्तरों में दबे अनेक जीवों के अस्थि-पिंजर। कलाकार जब अपनी कृतियों की रचना के लिए मिट्टी को गूँधता है तो उसे यह पता नहीं रहता कि उस मिट्टी में कितने प्रकार के जीवों के अवशिष्ट मिले हुए हैं, उसी प्रकार जब हम अपनी भाषा में

पिता को सम्बोधित करते हैं तो यह नहीं समझते कि हम उसे जनक न कहकर रक्षक कहकर सम्बोधित कर रहे हैं। इसी प्रकार जब ग्रीक भाषा-भाषिणी अपने पति के अनुज को डैम्प कहकर पुकारती है तो वह यह नहीं समझती कि वह अपने पति के उस अनुज को पुकार रही है जो उस समय उसकी रक्षा के लिए, संगति के लिए उसके साथ घर में बना रहने का कर्तव्य पूरा करता था जब उसका पति जीविका की खोज में या युद्धार्थ बाहर जाया करता था। संस्कृत में देवर शब्द का मूल अर्थ हुआ करता था 'खेल का साथी'। इस शब्द की पृष्ठ भूमि में एक कथा थी, एक पुरा-कथा थी, परन्तु ग्रीक भाषा में यह शब्द अपनी व्यौत्पत्तिक शक्ति को छोड़कर सामान्य संज्ञा शब्द रह गया है, फिर भी ग्रीक भाषा में डैम्प शब्द का स्त्रीलिंग वाची रूप नहीं बनाया गया, जिस प्रकार संस्कृत मे जाया शब्द का पुल्लिग नहीं बनाया गया।

पारम्परिक बन जाने पर जिस प्रकार किसी भी वस्तु की मौलिक शक्ति समाप्त हो जाती है वही दशा भाषा की भी हुई। इसके शब्दों की भी व्यौत्पत्तिक शक्ति कम होती गयी और धीरे-धीरे क्षीण होकर पारम्परिकता में बदल गयी। उदाहरण स्वरूप यदि हम लैटिन विडुआ शब्द को लें तो हम देखेंगे कि इस शब्द का मौलिक अर्थ था पति-विहीना स्त्री, परन्तु जब हम इसी शब्द से उत्पन्न विडुअस शब्द को देखते हैं तो यह उसी प्रकार अर्थ हीन लगता है जैसे ट्यूटनिक भाषा का विडोअर शब्द। हमें यह मानना ही पड़ेगा कि प्राचीन लैटिन भाषा में विडुअस नाम था आर्कस का, जिसका मन्दिर रोम के बाहर था। इस स्थिति में संस्कृत के विधवा एवम् लैटिन के विडुआ शब्द के रूपसाम्य एवम् ध्वनिसाम्य को देखते हुए भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दोनों शब्दों का सहमूलक होना सन्देहास्पद है। हर स्थिति में हमें यह मानना ही पड़ेगा कि विडुआ शब्द से एक क्रिया विडुअरे बनी थी और बाद में इसी शब्द से एक सामान्य विशेषण बना विडुअस जो सामान्य लैटिन भाषियों के लिये केवल व्यक्तिगत (सम्पत्ति) बोधक है, इससे अधिक कुछ नहीं।

यह प्रश्न हो सकता है कि आर्यन भाषाओं में समान भावों या वस्तुओं के समान नामों एवम् शब्दों के होते हुए भी यह कहाँ सिद्ध होता है कि आर्यन भाषाओं के परिवार में पौराणिक भाषा की भी स्थिति थी। इससे मानव मस्तिष्क की उस स्थिति की तो व्याख्या नहीं होती जिसके भँवर में पड़ कर मानव ने असामान्य कथाओं को जन्म दिया, जिसके नायक एक ओर यदि देवता या देवरूप मनुष्य थे तो दूसरी ओर मानवेतर आकार युक्त अनेक प्रकार के अविवेक पूर्ण चरित्र युक्त जीव, जिन्हें न तो उन मनुष्यों

ने कभी देखा ही होगा और न यह सम्भावना ही हो सकती है कि कोई भी स्वस्थ मस्तिष्क ऐसी कल्पनाएँ कर सका होगा।।

उपरोक्त प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमें शब्द रचना की कुछ प्रारम्भिक बातों पर विचार करना होगा। यद्यपि यह कार्य थोड़ा कठिन दिखायी देगा, परन्तु विचार क्रम में ही हम देखेंगे कि पुराकथाओं पर छाया हुआ धुन्ध धीरे-धीरे हट रहा है और हम विचारों एवम् भाषा के प्रारम्भिक कालीन बादलों को हटते हुए देखकर उनके पीछे वह सब देख सकेंगे, जिन्हें पुरा-कथाओं ने या तो सर्वांशतः ही छुपा रक्खा है या फिर उन्हें परिवर्तित वेष में रक्खा है।

अब तक हमने जिन शब्दों पर विचार किया है वे सम्बन्धित थे इन्द्रिया-नुभूत पदार्थों से। उन सब की स्थिति है, उन सब शब्दों से किसी वस्तु दृश्य या पदार्थ की अभिव्यंजना होती है। प्रारम्भिक अवस्था में किसी भी भाषा के लिये यह सम्भव भी नहीं है कि हम संज्ञाओं के सिवा अन्य भावों का नाम-करण कर सकें। ऐसी स्थिति में हम परिभाषा की परिभाषा देना ही चाहें तो उसका रूप इस प्रकार का होगा, 'पंचेन्द्रियों की अनुभूति की वाणी द्वारा सचेष्ट अभिव्यंजना ही भाषा है।'

आज भाववाचक संज्ञाएँ हमारे लिये इतनी अधिक सामान्य बन गयी हैं कि हम पुराकालीन उन लोगों की उन कठिनाइयों का आभास भी नहीं पा सकते, आदिम काल में भाववाचक संज्ञाओं को जन्म देने में जिन कठिनाइयों का अनुभव हुआ था। आज तो कोई भी भाषा ऐसी नहीं है, जिसमें भाव-वाचक संज्ञाएँ न हों परन्तु भाषा विकास-क्रम में समय के धागे को पकड़कर विपरीत दिशा में हम जितना ही पीछे चलते जायेंगे, भाववाचक संज्ञाओं की संख्या उतनी ही कम होती जायगी। जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है, भाव-वाचक संज्ञाओं को रूप देने के लिये किसी विशेषण को संज्ञा का रूप देना पड़ता है, परन्तु विचार संसार में बिना किसी विषय के ही संचरण करना अवश्य ही एक कठिन काम है और तार्किकों की भाषा में तो असम्भव ही है। यदि हम कहें कि 'हमें पवित्रता प्रिय है' तो हम पवित्रता का शायद ही कोई निश्चित मानदण्ड निर्धारित कर सकें। पवित्रता कोई जीव या वस्तु या दृश्य तो है नहीं कि हम उसको प्यार कर सकें। पवित्रता न तो व्यक्ति है न व्यक्तिगत, न क्रियाशील है न हमारे मनस् को स्वयमेव प्रभावित करने वाली। वास्तव में पवित्रता एक लम्बे विचार पथ का संक्षिप्त मार्ग है, एक टेढ़े-मेढ़े रास्ते के लिये काग-उड़ान-पथ है। जब मनुष्य ने पहले पहल कहा,

"मैं पवित्रता को प्यार करता हूँ" तो उसका वास्तविक उद्देश्य था कि "मैं उन सभी वस्तुओं को प्यार करता हूँ, जिनके संयोग से व्यक्ति ईमानदार बनता है, मानवोचित बनता है या पवित्र बनता है" इस बड़ी अभिव्यंजना को एक शब्द 'पवित्रता' में बाँधा गया है।

हमारी रोज़ की बोल-चाल में लिखने पढ़ने में प्रतिदिन अनेकों ऐसे भाव-वाचक शब्द मिलते हैं, जो भाववाचक तो हैं पर जिन्हें हम भाववाचक की संज्ञा नहीं देते। हममें से अधिकांश जानते ही नहीं कि ये भाववाचक शब्द हैं। हमारा तात्पर्य दिन-रात, बसन्त-ग्रीष्म, उषा-गोधूलि जैसे शब्दों से है। क्योंकि जब हम इन शब्दों का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य क्या होता है ? हमारी आपकी समझ से ये सब की सब जातिवाचक संज्ञाएँ हैं, परन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि हम कहें कि दिन और रात समय के विभाजन हैं तो समय से हमारा क्या मतलब होगा। समय न तो कोई व्यक्ति है, न स्थान और न ही कोई वस्तु। यह एक गुण है, भाव है, जिसे भाषा ने जातिवाचक संज्ञा का रूप दे दिया है। ऐसी स्थिति में यदि हम कहें कि 'दिन निकालता है', 'रात आती है', 'तूफ़ान मचलता है' तो हम ऐसे तत्व को कर्मरत बनाते हैं, जो कर्म कर ही नहीं सकते। हम एक ऐसी बात कहते हैं जो तार्किक विश्लेषण से असम्भव है, अर्थविहीन है।

यही विचार पद्धति कितने ही शब्दों पर लागू हो सकती है। आकाश, पृथ्वी, ओस, वर्षा, नदी और पर्वत ये सब क्या हैं गुणवाचक शब्द ही तो हैं। जब हम कहते हैं कि 'धरती मानव को पोषण प्रदान करती है' तो हम अन्नोत्पादिनी मिट्टी की बात नहीं करते वरन् पृथ्वी के सम्पूर्णरूप की बात करते हैं। इसी प्रकार आकाश से हमारा तात्पर्य क्षितिज के उस छोटे से घेरे से नहीं रहता, जो हमारी दृष्टि सीमा में रहता है। आकाश कह कर हम एक ऐसी स्थिति की बात करते हैं जो इन्द्रियानुभूति से परे है। फिर भी भाषागत वास्तविकता यही है कि हम चाहें समग्र की बात करें, शक्ति के गुण बतावें या किसी विचार को ही प्रगट करें, हम अनजाने ही उन शब्दों को व्यक्तित्व का रूप प्रदान कर देते हैं।

प्रत्येक प्राचीन भाषा में इन शब्दों में से प्रत्येक को किसी न किसी लिंग में मान लिया गया है, फलतः उसके विपरीत लिंग की भी आवश्यकता होनी स्वाभाविक ही थी। इस प्रकार इन शब्दों में केवल व्यक्तित्व की ही भावना नहीं है, अपितु लैंगिक भावना भी है। उस समय एक भी शब्द ऐसा

नहीं बना जो स्त्रीलिंग या पुलिंग न हो। नपुंसक लिंग कालान्तर में विकसित भावना है सो भी वह भावना केवल कर्ता[1] तक ही सीमित है।

आखिर इसका परिणाम क्या होता है? जब तक मनुष्य भाषा में सोचता है अर्थात् जब तक वह भावमय जगत् में प्रवेश नहीं करता तब तक वह केवल पुल्लिग और स्त्रीलिंग की भावना के बिना न प्रातः-सायम् को बात सोच सकता है और न धरती आकाश को। ये पदार्थ उसकी भावना में या तो 'कुछ नहीं' होते या 'कुछ' होते हैं। शक्ति की अनुभूति शक्तिमान् की अनुभूति की परवर्तिनी होती है। आज हम प्रकृति की शक्तियों को जानते मानते हैं; फिर भी प्रकृति की कल्पना करते समय हम उसके शक्तिमान् स्वरूप की ही कल्पना करते हैं। अति प्राचीन काल में प्रकृति गुणवाचक शब्द था न कि पदार्थ वाचक। उसकी कल्पना माता रूप में की गयी थी, जन्म तथा पोषण देना ही जिसका गुण था। आखिर प्रकृति को हम इसी रूप में तो देखते हैं। हम आज के ही कवियों को देखें तो हमें पता चलेगा कि वे जब भी कभी भौतिक उपादानों की बात करते हैं तभी वे उन पदार्थों को जीवन मय मानकर ही चलते हैं। हम भी उनकी कविताओं को पढ़ते समय उनके जीवन्त रूप को ही ग्रहण करते हैं जो प्रकाश एवम् मोहक रंगों से आवृत्त है। विश्वास मानिये कि यदि वे सूर्य, चन्द्रमा, ऊषा को निर्जीव मानकर चलें तो अवश्य उनकी भावना को ठेस तो पहुँचेगी ही, साथ ही उनका स्वयम् का आकर्षण भी समाप्त हो जायेगा। आइये हम वर्डसवर्थ को ही देखें। हम निचली पंक्तियों में देखेंगे

१. हमारे व्यक्तिगत जीवन की बातें ही संसार पर भी लागू होती है, क्योंकि जब हम बचपन को जवानी के पीछे तथा जवानी को प्रौढ़त्व के पीछे छोड़ देते हैं तो हम उन अनुभूतियों को भी पीछे छोड़ देते हैं जो विविध वस्तुओं ने हमें दिया था। हमारी गम्भीरता बढ़ जाती है और हमारी कल्पना शक्ति बढ़ जाती है। एक छोटे बच्चे को अनुभूति यही होती है कि न केवल चेतन प्राणियों में वरन् अचेतन पदार्थों को भी वह स्वानुरूप मानता है। उसके विचार में बिल्ली मौसी होती है और चन्दा मामा होता है। यदि किसी कुर्सी से उसके मत्थे पर चोट लग जाती है तो वह उसे भी बदले में मारता है और क्षणिक आवेग समाप्त हो जाने पर फिर उससे मित्रता स्थापित करता है। उसे जलानेवाली आग शैतान होती है, वह जाड़े को, घाम को सम्बोधित करता है। प्रत्येक जड़ चेतन पदार्थ उसकी दृष्टि में पुरस्कार व दण्ड का अधिकारी होता है। अविकसित मस्तिष्क में ये भावनाएं युवा तथा वृद्धावस्था में भी मानव का साथ नहीं छोड़तीं। यही कारण है कि सभी आदिम भाषाओं में केवल स्त्री व पुरुष ही होते हैं। वहां नपुंसक लिङ्ग की भावना ही नहीं है। अशिक्षित तथा अविकसित मस्तिष्क युक्त वयस्क प्राणी भी नपुंसक की कल्पना नहीं कर पाता। उसे इसकी आवश्यकता ही नहीं प्रतीत होती।

कि शायद ही कोई गुणवाचक शब्द ऐसा हो, जिसे सजीव न माना गया हो। उसके मजहब, हेमन्त तथा तूफान नामक कविताओं की कुछ पंक्तियों के अनुवाद नीचे दिये जाते हैं: —

मजहब

पवित्र मजहब परम्पराओं एवम् भय की जननी,
परिवर्तनीय सम्मानों का निष्करुण निर्णायत्र है,
(वह) नवीन रिवाज की व्यवस्था कर देता है, जब प्राचीन रिवाज भ्रष्ट हो जाते हैं।
या जब अस्थिर चित्त उपासकों को आनन्द देने की(उनकी)शक्ति समाप्त हो जाती है।

हेमन्त

मानवता यह देखकर आनन्द प्राप्त करती है
जब उसकी क्षरण-शीलता की प्रतिच्छाया (अर्थात् मनुष्य क्षरण-शील है अतः वह सबको क्षरणशील मानता है)
हेमन्त को एक वृद्धत्व प्राप्त यात्री के रूप में चित्रित करती है
जो एक लाठी के सहारे चलता है........इत्यादि

तूफान तथा ऋतुएँ

ओ तूफान, तुम अपने राजा की प्रशंसाओं को फिर से दुहराओ।
और ओ मृदु ऋतुओ तुम गर्म जलवायु में
किसी पहाड़ी की आधी ऊँचाई पर...........
...............हेमन्त का विजयगान गाओ।

उपरोक्त पंक्तियों को हम वाणी विलास मानते हैं और हम उनमें कथित अतिशयोक्तियों को प्रसन्नता के साथ ग्रहण करते हैं, परन्तु स्वयम् कवि उन्हें अतिशयोक्ति नहीं मानता और न ही प्राचीन कवियों ने उन स्तवनों को अतिशयोक्ति माना था, जिनमें इन्द्र, कुबेर, यम, वरुणोत्यादि की प्रार्थनाएँ गाई गयी थीं। यह मानी हुई बात है कि काव्य जगत गद्य जगत् का पूर्ववर्ती है और भावमय वाणी सदैव ही उस अभिव्यंजना से कठिन रही है, जिसमें कवि की प्रकृतिगत सहानुभूति प्रगट की गयी होती है। एक बार फिर वर्डसवर्थ को ही देखिये। वह कहता है, 'ओ पर्वतो, वादियो तथा तूफानों, मैं निवेदन करता हूँ कि तुम समुचित अवज्ञा में सहभागी बनो,' और वह फिर 'उस अन्तिम गिरि-शिखा' की बात करता है जो 'अस्तंगत दिवाकर से संभाषणरत होती है।' ये अभि-

व्यंजनाएँ अवश्य ही उस आदान प्रदान का परिणाम थीं, जो उसके और प्रकृति के बीच हुआ करता था। यह एक ऐसा विचार है जो आज तो अवश्य ही गद्य की परिधि से परे हैं, परन्तु यह एक ऐसी अभिव्यंजना है, जिसे प्राचीन जन अपने सामान्य भाषण में प्रयोग में लाते थे और ऐसे प्रयोगों में उन्हें तनिक भी संकोच नहीं होता था।

कुछ ऐसी भी कविताएँ हैं जो आधुनिक प्राचीन युग की है और इन्हें हम पौराणिक काव्य कह सकते हैं, हमें कहना ही चाहिये; किन्तु इनका उद्धरण थोड़ा स्थगित करके कुछ ऐसे उद्धरण पाठकों के समक्ष रखते हैं, जिसे हम तो कुछ कम समझेंगे, पर प्राचीन हिन्दू या ग्रीक उन्हें आसानी से समझ जाते।

'ओ तमसावृता रात्रि के उज्वल विजेता !

तू जिस प्रकार हिमाच्छादित शिखरों को वैभव प्रदान करता है,
उसी प्रकार विनयावतत् घाटी को भी सौन्दर्य प्रदान करना नहीं भूलता,
तू, जो अखिल जगत की शीत जनित उपज को उष्णता प्रदान करता है,
प्राचीन पवित्र गायकों से अपूजित नहीं रहा है;
ओ सर्वजन-हृदय-आनन्द दाता सूर्य, मैं तेरा स्वागत करता हूँ,
तेरा आज का मार्ग आनन्द-पूर्ण हो और हमारी यह कामना असफल न हो[१]।'

जब हम आज भी प्रेम व मानव-सुलभ आत्मनिवेदन पूर्वक सूर्य, वायु, सागर, आकाश को इस प्रकार पुकारते मानो वे हमारे निवेदन को सुन सकते हों, आज जब हमारे विचार इतने अधिक विकसित हो चुके हैं तब भी हम उपरोक्त तत्वों को मानवानुभूति युक्त मान कर उन्हें सम्बोधित करते हैं बल्कि इतना ही नहीं उन्हें अपने से अपेक्षाकृत अधिक सशक्त मानकर आत्म निवेदन करते हैं (क्योंकि हम मानते हैं कि सूर्य के इतना न तो हम देख सकते हैं और न बादल के समान जोर की ध्वनि ही उत्पन्न कर सकते हैं) तो उन प्राचीन जनों के इसी प्रकार के आत्म निवेदन को बाल-सुलभ या तत्व-विहीन कहने का हमें क्या हक है, जिनकी भाषा अभी जन्म ही ले रही थी तथा जिनकी भाषा के सभी आवश्यक अंगों का विकास भी नहीं हुआ था। आज हम जानते हैं कि वर्षा का जल, ओस, बिजली की चमक तथा बादल की गरज क्या है, तब भी हमारी अभिव्यंजना इस स्तर की है तो हमें उनकी अभिव्यंजनाओं पर छी-छी करने का क्या हक है जो अभी विकास पथ पर कुछ ही कदम चलने का अवसर पा सके थे। आज भी यदि इन तत्वों के गुणों को उनके नाम से अलग कर दिया

१—अंगरेजी से अनूदित है यह कवि या आधुनिक युग की है। अनु०

जाय तो इनका सौंदर्य, इनकी काव्यात्मकता, इनकी वास्तविकता का प्रायः लोप ही हो जायगा। आज भी जन सामान्य के लिये ये वस्तुएँ नहीं हैं, जो होमर के लिये थीं।

अब हमें प्राचीन भाषाओं में प्रयुक्त सहायक क्रियाओं का अध्यापन करना है। इन्द्रियानुभूत पदार्थों की तुलना में जो स्थिति भाववाचक शब्दों की है, क्रियाओं के संसार में वहीं स्थान सहायक क्रियाओं का है। विकास क्रम में वे सहायक क्रियाओं की परवर्तिनी हैं, किन्तु उनकी प्रवृत्ति में प्रभावोत्पादकता अपेक्षाकृत अधिक है, उनका क्षेत्र भी विशाल है और उनमें अभिव्यंजनात्मक शक्ति भी अधिक है। इन सहायक क्रियाओं को परिवर्तनों एवम् परीक्षणों की एक लम्बी शृंखला को पार करना पड़ा है और तब कहीं जाकर वे हमारे भाव मय जगत को गद्यात्मक भाषा में उतारने में सफल हुई हैं। वे निर्जीव (इस अर्थ में कि वे न पुलिंग ही हैं न स्त्रीलिंग या नपुंसक लिंग ही) होकर ही इतनी शक्तिमयी हो सकी हैं। हेबेर एक क्रिया है जो रोमन की सभी क्षेत्रीय भाषाओं में भूतकाल का बोध कराने के लिये प्रयुक्त होती है, उसका जन्मकालीन अर्थ था, पकड़ना। आज भी हैबेनो (पकड़े रखने वाली अर्थात् लगाम) शब्द से इसका गुण प्रगट होता है। इसी प्रकार लैटिन भाषा की मुख्य क्रिया टेनर (पकड़ना) स्पैनिश भाषा में सहायक क्रिया बन जाती है और इसका प्रयोग भी हेबेर के ही समान होता है। ग्रीक भाषा इजू संस्कृत का सह् है और मूलतः इसका अर्थ था 'समर्थ होना, मजबूत होना।' लैटिन भाषा का फुई (मैं था) तथा संस्कृत भाषा का भू (होना) सहरूपी है ग्रीक भाषा फुव के, जो आज भी सकर्मक एवम् अकर्मक रूपों में वही (होना) अर्थ प्रगट करता है। संस्कृत अस्‌मि, ग्रीक का एम्‌मि, । लिथुआ० का अस्‌मि (मैं हूँ) क्रियाओं का जन्म काल में अर्थ होता था 'स्वाँस लेना,' यदि संस्कृत का असु (स्वाँस) इसी अस् धातु से निकला हो। लैटिन भाषा का स्टेअर (खड़ा होना) क्षेत्रीय भाषाओं में सहायक क्रिया बनकर रह गया, जैसे जाय एठी (मैं रह चुका हूँ···) अर्थात् 'हेदियो स्टेटम' (मैं खड़ा हूँ)। मौलिक शब्द स्टेटम् ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के कारण उसी प्रकार एटी हो गया जैसे स्टेटम परिवर्तित होकर इटैट हो गया। जर्मन भाषा में वर्डेन क्रिया भविष्यत् काल तथा कर्मवाच्य बनाने में प्रयुक्त होती है, गोथिक क्रिया वार्थ संस्कृत के वृत् की ओर इंगित करती है जो स्वयम् लैटिन के वर्टो की ओर उँगली उठाती है। अँगरेजी का विल (He will go) मूलतः अहर्ग्विदात्मक था और शैल (I shall go) में वैधानिकता या नैतिकता की भावना थी। जर्मन में स्कल्ड का अर्थ

होता है पाप, कर्ज। स्कल्ड के मूल को यदि खोजा जाय तो यह शब्द जाकर मिलेगा स्यूटनिक भाषा में जहाँ हमें वर्ध (भूतकाल), वर्धन्दो (वर्तमान काल) तथा स्कल्ड (भविष्यत काल) देखने को मिलते हैं। परन्तु हम उन शब्दों की मूल भावना की खोज कहाँ करेंगे जो अपने जन्म काल से ही नैतिक कर्तव्य या वैधानिक मर्यादाओं का अर्थ देते रहे हों। भाषा का क्षेत्र भी संसार ही है और स्रोत भी, वह संसार से ही पोषण भी प्राप्त करती है अर्थात् भाषा के शब्द सांसारिक पदार्थों से ही बनते हैं; परन्तु जहाँ 'हमें देना चाहिये' या 'हमें नम्र हो जाना चाहिये' इस प्रकार के भाव प्रगट करने हों तो चाहिये का अर्थ देने वाले शब्द को खोजने के लिये हम किस सांसारिक पदार्थ की ओर देखेंगे ? मि० ग्रिम ने जर्मन भाषा में बहुत गहरे तक गये हैं। वे इस क्रिया की एक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, जिस पर हमें गम्भीरता पूर्वक सोचना चाहिये, भले ही हमें वह प्रथम दृष्टि में विचित्र तथा अविश्वसनीय लगे।

गोथिक भाषा में यदि हम क्रियाओं की काल तालिका देखें तो हम पावेंगे कि क्रिया शैल के वर्तमान कालिक रूप तथा भूत कालिक रूप इस प्रकार होंगे :—

शैल (I shall go) का	वर्तमान कालिक रूप	भूत कालिक रूप
उत्तम पुरुष; मध्यम एवम् अन्य पुरुष के एक वचन	स्काल	स्कल्डा
	स्काल्ट	स्कल्डेस
	स्काल	स्कल्ड
व बहुबचन	स्कलम्	स्कल्डेडम
	स्कलथ	स्कल्डेडथ
	स्कलन	स्कल्डेडन

यह शब्द स्काल यद्यपि वर्तमान कालिक रूप है फिर भी सिद्ध किया जा सकता है कि यह प्राचीन कालीन अनद्य तनभूत कालिक रूप है जैसे ग्रीक भाषा का ओइडा है जो देखने में भूतकाल का है परन्तु प्रयोग होता है वर्तमान काल में। जर्मन भाषा में ऐसे अनेक शब्द हैं। अँगरेजी में भी ऐसे अनेक शब्द हैं जो सभी कालों में समानरूप में ही रहते यथा पुट, सेट इत्यादि। ग्रिम के अनु सार स्काल शब्द का अर्थ होता है 'मुझ पर चाहिये' या 'मुझे देना है' या 'मैं बाधित हूँ' परन्तु मूलतः उसका अर्थ था 'मैंने मार डाला'। स्यूटनिक कानून के अनुसार मानव हत्या सबसे बड़ा अपराध था और कई बार मानव हत्या के दण्ड रूप में भारी जुर्माने किये जाते थे। अतः स्काल शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ 'मैं अपराधी हूँ' कालान्तर में घिस-पिट कर यह शब्द

जब न्यायालय का शब्द बन गया तो उसका अर्थान्तर होना शुरू हो गया और वह क्रम इस प्रकार से चला—मैंने एक आदमी को मार डाला है, मैं एक आदमी को मार डालने का अपराधी हूँ, मुझे एक आदमी को मार डालने का जुर्माना देना है, मुझे जुर्माना देना है, मुझे देना है, मुझे देना चाहिये, मुझे चाहिए। इसीलिये अंगरेजी में ही शैल पे (He shall pay) का अर्थ होता है, 'वह देने के लिये बाधित है।'

इस प्रकार का अर्थान्तर कल्पनापूर्ण प्रतीत होता है परन्तु जब हम देखते हैं कि समय के साथ शब्दों के व्यौत्पत्तिक अर्थ बदलते ही रहते हैं तो हम उक्त उदाहरण को विश्वसनीय मानने लगते हैं। इसी प्रकार के परिवर्तनों की शृंखला को शब्द का ऐतिहासिक विकास कहते हैं।

हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि पौराणिक भाषा में सहायक क्रियाओं की एकदम कमी थी और प्रत्येक शब्द अपने व्यौत्पत्तिक अर्थ में ही व्यवहृत होता था। शब्द बड़े थे और उनमें अर्थ-बहुलता की शक्ति नहीं थी, इसीलिये जितना कहा जाना चाहिये था उससे कहीं अधिक कहा जाता था और तब भी यदि अर्थ नहीं स्पष्ट होता था तो कई प्रकार से कहा जाता था। ऐसी स्थिति में पुरा कथाओं में वर्णित विचित्रताओं के लिये हमें भाषा के क्रमिक एवम् स्वाभाविक विकास को समझना पड़ेगा। जब हम कहते हैं कि सूर्य ऊषा का पीछा करता है, परन्तु इसी को प्राचीन जन इस प्रकार कहते थे कि सूर्य ऊषा को प्यार करता है या सूर्य ऊषा का आलिंगन चाहता है। हमारे लिए सूर्य डूबता है, परन्तु उनका सूर्य बुड्ढा हो जाता था, क्षीण हो जाता था, या नष्ट हो जाता था। हमारे लिये सूर्य उदय होता है परन्तु उनके लिये रात्रि एक शुभ्र-शिशु को जन्म देती थी और बसन्त में उन्हें वास्तव में धरती और आकाश आलिङ्गन-बद्ध दिखाई देते थे और प्रकृति की गोद में निधि की वर्षा सी करते थे। बसन्त ऋतु में वे देखते थे कि सूर्य या आकाश पृथ्वी को अपनी आलिंगन में बांध लेते थे। हेसियॉड में कुछ ऐसी नवीनतर कथाएँ हैं कि उनमें यदि कुछ क्रियाओं को सहायक क्रियाओं में बदला जा सके तो वे एकदम पौराणिक कथाओं से तार्किक कथाओं की श्रेणी में आ जायगी। हेसियॉड रात्रि (निक्स) को भाग्य (फटे) तथा करे (बरबादी) की मां कहता है, मृत्यु (थांटोज) को नींद (Hypnos) तथा स्वप्नों (Oneiroi) को मां कहता है। ऐसा कहा गया है कि ये सन्ताने बिना पिता की हैं। फिर उसे कलंक (Monos) दुःख तथा संध्याकालीन सितारों (हेस्पराइड्स) की मां कहा गया है, जो

उन सुनहले सेबों के रक्षक हैं जो बहुचर्चित ओकीनॉस की दूसरी तरफ हैं साथ ही उन वृक्षों की भी रखवाली करते हैं जिनमें फल लगते हैं। उसने बदला (नेमेसिस), धोना (आपटे) चाहत (फाइलोट्स) वृद्धत्व (गेरास) तथा दृढ़चित्त वाले संघर्ष (इरिस) को भी जन्म दिया है। अब आइये हम इन्हीं विषयों में आधुनिक शब्दों का प्रयोग करें जैसे कि 'जब रात आती है तो सितारे दिखाई देते हैं, हम सोते हैं, 'हम स्वप्न देखते हैं' 'हम मरते हैं' रात में हमें खतरे मिलते हैं' रात के दृश्य झगड़ों गर्मागर्म वादविवादों तथा भय की सृष्टि करते हैं' 'बहुत सी रातों में हम बुड्ढे हो जाते हैं और अन्त में मर भी जाते हैं, "यदि कोई बुराई रात के अंधेरे में छुप भी जाय तो दिन के प्रकाश में वह अवश्य दिखाई दे जायगी," 'रात स्वयम् अपराधी को दण्ड दे लेती है।' इस प्रकार हमने होसियॉड के पृष्ठों का उद्धरण दे डाला है। इस भाषा को वे लोग भली-प्रकार समझते थे, जिनके समक्ष इन्हें बोला जाता था। होसियॉड के पृष्ठों का यह उद्धरण निश्चय ही हमारी आजकल की भाषा में हैं।[१] यह सब कोई पौराणिक भाषा नहीं हैं। हम इस भाषा को काव्यात्मक तथा कहावतों की भाषा कह सकते हैं और प्रायः ऐसी भाषा जन साधारण की बोल-चाल की भाषा भी है।

होसियॉड की भाषा में यूरेनस शब्द का प्रयोग आसमान के अर्थों में हुआ है। वह इसलिये बनाया गया है या उसकी उत्पत्ति इस लिये हुई है कि 'वह देवताओं के लिये एक सुदृढ़ स्थान हो सके। ऐसा दो बार कहा गया है कि यूरेनस हर वस्तु को आच्छादित किये हुए है और जब वह रात को लाता है तो उसका विस्तार सर्वत्र हो जाता है और पृथ्वी को आच्छादित कर लेता है। यह वर्णन यह प्रदर्शित करता है कि यूनेरस शब्द ने अपने शाब्दिक शक्ति को सुरक्षित रक्खा है। क्योंकि यूरेनस संस्कृत का वरूण या वर्ण है और यह शब्द वर् धातु से निकला है, जिसका अर्थ होता है आच्छादित करना। वेद में वरूण को पृथ्वी के आच्छादन के रूप में माना गया है, परन्तु वह रात्रि का देवता है और दिन के मालिक सूर्य के विपरीत है। हर प्रकार से ग्रीकों के लिये यूरेनस ने अपने तमाम गुणों को सुरक्षित रक्खा है और

---

१ फाइलोटस रात्रि का बच्ची है और जुलियस ने समझ लिया था कि उसका क्या तात्पर्य था जब उसने कहा कि "अपने पर्दे को फैला दो, उसे प्रेम को पूरा करने वाला रात्रि ताकि भगोड़ों की आंखें मुंद जायँ और रोगियो, बिना देखे गये और बिना जाने गये तुम्हारी बाहों में आ जाय।"

यही बात एपोलो या डायोनिशस के विषय में ऐसी नहीं है। जब हम उसे नक्षत्रों से युक्त आकाश की संज्ञा देते हैं तो हम कठिनाई से यह विश्वास कर सकते हैं—जैसा कि मि० ग्रोटे का कहना है कि ग्रीस वासियों के लिये यूरेनस, निक्स, हाइपान्स तथा ओनिरॉस (स्वर्ग, रात, नींद तथा स्वप्न) उसी माने में व्यक्ति थे, जिस माने में जीयस तथा अपोलो व्यक्ति थे। यह देखने के लिये कि गीया की प्रथम सन्तति यूरेनस है हमें होसियॉड की कुछ एक पंक्तियों को ही और पढ़ना पड़ता है। यूरेनस गीया की प्रथम संतान था, यह बात पौराणिक व्यक्तिवाद या स्पष्टता की उस सीमा तक नहीं पहुँची थी, जहाँ पहुँच कर अधिकांश आलोम्पियन देवता अपनी वास्तविक चाल-चलन में इतने अधिक कठिन एवम् संदेहास्पद हो जाते हैं। कवि भूमिका में ही म्यूजेज से पूछ बैठता है कि सर्व प्रथम यह पृथ्वी तथा अन्य देवगण कैसे पैदा हुए, साथ ही नदियाँ तथा सीमाहीन सागर, चमकीले सितारे तथा ऊपर का आवरण (आकाश) कैसे पैदा हुए। इस सवाल का जवाब पूरी कविता में दिया गया है और हमें शायद ही सन्देह हो सकता है कि ग्रीक वासियों ने इन नामों में कुछ वास्तविक पदार्थों में, कुछ काव्यगत भावनाओं के दर्शन किये थे, जैसे पृथ्वी, नदियाँ तथा पहाड़। गीया की प्रथम सन्तान यूरेनस था परन्तु बाद को उसकी गणना देवताओं में होने लगी, जिसमें मानव सुलभ भावों तथा देनों का प्रदर्शन किया गया था, परन्तु गीया की दूसरी सन्तान 'पहाड़ियों' को भाषा में जीव विहीन प्राणी की भाँति प्रदर्शित किया गया है अतः हम उसे जीअस तथा पोलो की भाँति व्यक्तिरूप में नहीं देख सकते।

ग्रीक पुराणशास्त्र के अन्तर्गत तमाम शब्दों को शाब्दिक अर्थ में ही ग्रहण करने का पूरा प्रयत्न मि० ग्रोटे ने किया है। वाणी के कुछ पौराणिक अलंकार ग्रीक भाषा में अत्यधिक दिनों तक शेष रहे और उन्हें बखूबी समझा जाता रहा है अर्थात् उन्हें स्पष्ट करने के लिये उतना ही श्रम करना पड़ता था जितना यह समझने के लिये कि, 'सूरज डूबता है', 'सूरज निकलता है।' विवश होकर ही मि० ग्रोटे को यह बात माननी पड़ी है, परन्तु इनसे आगे कोई और निष्कर्ष निकालने से उन्होंने इनकार कर दिया है। उनका कहना है कि यद्यपि इन लोगों द्वारा जो काम कराया गया है उनमें से कुछ को रूपकों द्वारा समझाया जा सकता है, परन्तु यदि आप कहें कि उनकी पौराणिक प्रणाली ही समझ में आ जाय तो यह कठिन ही है। जब भी कभी कोई इन्हें समझाने का प्रयत्न करता है तो दो एक कदम चलने के बाद जैसे

उसके पाँव रुक जाते हैं और समझाने वाले को खुद अपना ही रास्ता साफ करना कठिन मालूम होने लगता है और उसे अनेक बातों को मान्यता देनी पड़ती है। मि० ग्रोटे यह स्वीकार करते हैं कि रूपक पुराणशास्त्र का एक मुख्य अंग है, परन्तु वे इसका व्यवहार नहीं करते हैं। वे समूची पौराणिकता को वैसे ही बिना समझाए छोड़ देना चाहते हैं और उसे अविवेकमय कह कर पीछा छुड़ा लेते हैं। वे इस गुत्थी को न खुद सुलझाते हैं न औरों द्वारा सुलझाया जाना पसन्द ही करते हैं। उनका कहना है कि पौराणिक कथाओं की गुत्थियों को वैसे ही रहने देना चाहिये, क्योंकि वह अविवेकमय हैं या ऐसे भूतकाल की चर्चा करती हैं जो कभी भी वर्तमान नहीं था। वे तो यह भी नहीं स्वीकार करते कि ग्रीक लोगों की मानसिक उन्नति के इतिहास की खोज का कुछ प्रयत्न ही किया जाय। इस प्रकार की साहस हीनता तो कितने ही विज्ञानों का द्वार सदैव के लिये बन्द कर देगी जिनमें से कितने ही आज पूर्णता को पहुँच रहे हैं, परन्तु उनमें से अनेक विज्ञानों को ऐसी ही कठिनाइयों का मुकाबला करना पड़ा था। विज्ञानों में हमें कितनी ही बार मूर्ख बनना पड़ता है। पुराण एक ऐसा शास्त्र है जिसमें हमें कितनी ही बातें अज्ञात रहती हैं। यह असम्भव है कि हम प्रत्येक नाम के भेदों को प्रगट कर दें। जिसने तुलनात्मक पुराण-शास्त्र को जन्म दिया है, उससे अधिक नम्रता के साथ यह बात किसी ने कही भी नहीं है। अपने 'जर्मन-पुराण-शास्त्र परिचय' में ग्रिम ने यह बात स्पष्ट रूप से ही कहा है, "मैं जिस किसी कथा का अर्थ स्पष्ट कर सकूँगा, करूँगा, परन्तु मैं उतनी कथाओं का स्पष्टार्थ नहीं दे पाऊँगा, जितनी मेरी इच्छा है।" यह बात निश्चयात्मक रूप से कही जा सकती है कि आॅल्फ्रेड मुलर ने ग्रीक-पुराण-शास्त्र के लिये जो बात कही है उस पर चल कर मि० ग्रोटे को यह देख लेना चाहिये था कि वह कहाँ तक सही है। काइरीन में मि० ओ० मुलर ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि ग्रीस में पौराणिक भाषा का प्रचार कब तक था। लीबिया में काइरीन नामक नगर की स्थापना ३७ वें ओलम्पिक वर्ष में हुई। वहां के शासक अपने को मिनयान के वंशज कहते हैं, जो आयकोस में शासन करते थे। आयोकोस दक्षिणी थिसले में था, जिसकी स्थापना पाइथो में एपोलो की भविष्यवाणी द्वारा हुआ था। इस प्रकार इस पौराणिक गाथा का प्रचलन हुआ कि, 'काइरीन' नाम की बहादुर स्त्री थिसले में रहती थी उसे अपोलो प्यार करता था; अतः उसे लीबिया ले गया; जबकि इसी तथ्य को हम साधारण भाषा में इस प्रकार कह सकते थे, "थेस्ले में काइरीन नामक नगर के निवासियों

ने लीबिया में एपोलो के नाम पर उपनिवेश बसाया।' ऐसे कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं जहाँ एक सामान्य सी क्रिया को बदल देने से समूची पौराणिक कथा स्पष्टता ग्रहण कर लेती है।

कौनास को मिलटस का पुत्र कहा गया है। इसका अर्थ यही है कि मिलटस के क्रेटन उपनिवेशवादियों ने लोसिया में कौनास शहर को आबाद किया। कथा में कहा गया है कि कौनास मिलटास से लीसिया को भाग गया और उसकी बहन बिब्लस उसके वियोग जनित दुःख के आधिक्य से एक चश्में (सोता) के रूप में बदल गयी। आयोनियस मिलटस में बिब्लस एक छोटी सी नदी है। फिर पासिनिअस इतिहासात्मक रूप से कहता है कि मिलटस जब एक छोटा सा सुन्दर लड़का ही था तभी वह माइनॉस को ईर्ष्या के डर से आयोनिया के क्रेट नामक स्थान को भाग गया। इस कथा का सारांश यही है कि आयोनिया स्थित मिलटस क्रेट के मिलटस वासियों का एक उपनिवेश था और उस प्रसिद्ध द्वीप का प्रख्यात राजा माइनॉस था। फिर मारपेसा को इवनोस की पुत्री कहा गया है और एक कथा के अनुसार उसे इडाज उठा ले गया था। इडाज मारपेसा नगर का एक प्रख्यात नायक था। इस कथा का सर्वमान्य सत्य रूप यही है कि उपनिवेशवादी लोग इवनोंज नदी के रास्ते चले और उन्होंने मोसिना में मारपेसा की नींव डाली। इसी कथा में यह भी कहा गया है कि खनोज ने अपनी पुत्री को इडाज से छुड़ाने की पूरी पर नाकाम कोशिश की और इस नाकामयाबी के कारण एक सरिता में बदल गयी, जैसा बिब्लस के विषय में कहा गया था।

यदि इटली वाले अपने को आटोक्फोबस कहते थे तो हमारा विचार होता है कि हम इस बात को समझ रहे हैं, परन्तु जब हमें यह पता चलता है कि थेस्ले का प्राचीन नाम पुर्रा (लाल रंग) था, और हेलेन नाम का व्यक्ति पाइरहा का पुत्र था। ऐसी स्थिति में भी मि० ग्रोटे कहेंगे कि वे एक पौराणिक कथा का विवरण दे रहे हैं। यदि यही बात होमर तथा होसियॉड के विषय में कही जाती तो वह ठीक भी होती। भाषा हमेशा भाषा ही रहेगी। इसके हर शब्द का मौलिक अर्थ कुछ न कुछ होता ही है और जब एक व्यक्ति ने हेलेन को पाइरहा का पुत्र कहा तो उसमें मूलतः कुछ न कुछ सत्य अवश्य था और जब यह बात कही गयी थी तो लोग इसे समझते थे और वे यही समझते थे कि इटली की भूमि कला की जन्मदात्री थी।

जिस समय की बात ऑटफ्रोड मुलर ने कहा है उसके बहुत दिनों बाद तक उस देश के कवि एवम् दार्शनिक गण साधारण बातचीत में भी पौराणिक

भाषा का प्रयोग किया करते थे और यह बात आज के लिये भी पूर्णतः सत्य है। पासेनियस ऐसे लोगों को अच्छा नहीं मानता जो साधारण सी बात को भी इस प्रकार घुमा-फिराकर कहते हैं कि वह दुर्बोध हो जाती है। फेड्रास में इरोस की कथा को पौराणिक कहा जाता है, फिर भी सुकरात ने व्यंगपूर्वक कहा है कि 'यह एक ऐसी कथा है, जिस पर तुम विश्वास कर भी सकते हो और नहीं भी कर सकते।' आगे चल कर जब वह मिश्र के देवता थ्यूथ की चर्चा करता है तो वह इस कथा की पारम्परिकता की भी चर्चा करता है परन्तु फेड्रास तुरन्त ही जान लेता है कि यह सुकरात की ही गढ़न्त है और वह कह उठता है, "सुकरात तुम मिश्रियों को या अन्यों को कहानियाँ सरलता से गढ़ लेते हो।" जब पिंडार एपोफोसेस को एपोमोथियस की पुत्री कहता है तो प्रत्येक यूनानी इसे उतनी ही सरलता से समझ लेता है जैसे वह कह रहा हो कि "परकालीन विचार बहानों का जन्मदाता है।" इतना ही नहीं, होमर में जब हम यह पाते हैं कि 'लंगड़ा लिटी (प्रार्थना) एटी (शैतानियत) का पीछा करता है और उसे प्रसन्न करने का प्रयास करता है तो हम तुरन्त समझ जाते हैं कि वह कहना चाहता है कि 'नरक की रचना अच्छे विचारों की नींव पर हुई हैं।

जब प्रार्थनाओं को जीअस की पुत्रियों के रूप में कहा जाता है तो शायद हम पौराणिकता के क्षेत्र से दूर रहते हैं, क्योंकि यूनानियों के मत से जीअस अपने अधीनस्थों का संरक्षक है और इसी लिये प्रार्थनाएँ उसकी पुत्रियाँ हैं, जिस प्रकार हम कह सकते हैं या कहते हैं कि स्वतंत्रता इंग्लैण्ड की पुत्री है प्रार्थना आत्मा की पुत्री है।

यद्यपि उपरोक्त कल्पनाएँ पौराणिकता के रंग में रँगी हुई हैं पर वे सब पुराणशास्त्र से परे की वस्तुएँ हैं। एक सच्ची पौराणिक गाथा की यह विशेष प्रवृत्ति है कि साधारण बोलचाल की भाषा से वह बहुत दूर होती है। पिछले किसी पृष्ठ में प्राचीन भाषा के लचीलेपन पर हमारी दृष्ठि पड़ी है। संज्ञाओं एवम् क्रियाओं की रचना के सम्बन्ध में उसकी चर्चा हो चुकी है, परन्तु उससे इस तथ्य पर कोई भी प्रकाश नहीं पड़ता कि पौराणिक भाषा क्यों और किस प्रकार दुर्बोध हो जाती है। भाववाचक संज्ञाओं की रचना में जो कठिनाइयाँ हमारे सामने आती हैं उनका भी सम्यग् विचार करके हम प्राचीन रुपकों को बोधगम्य बना सकते हैं परन्तु पुराणशास्त्र तो फिर अनबुझ पहेली बना रह जायगा। ऐसी स्थिति में हमें उस भाषा तत्व का सहारा लेना पड़ेगा, जिसके सहारे प्राचीन भाषाओं की रचना हुई थी। ऐसे

तत्वों के लिये हमें एकार्थक तथा समानार्थक से अधिक उचित शब्द नहीं मिलते। जैसा कि हम पहले भी देख चुके हैं अधिकांश संज्ञा शब्द सम्बन्धित वस्तुओं के किसी न किसी गुण से सम्बन्धित थे। परन्तु चूंकि एक वस्तु के एकाधिक गुण होते हैं तथा इन्हीं गुणों के नाम पर उन वस्तुओं का नमकरण हुआ था, इसी लिये ऐसा हो गया कि एकार्थक अनेक नामों में से अनेक शब्द एक ही वस्तु के लिये प्रचलित हो गये। कालान्तर में इनमें से अनेक नाम निरर्थक सिद्ध हो गये; अतः वे उस अर्थ के लिये बेकार हो गये। ऐसी स्थिति में सामान्य बोलचाल की भाषा में एक वस्तु के लिये एक ही शब्द रह गया जिसे हम उस वस्तु के व्यक्तिवाचक नाम के रूप में ले सकते हैं। इसी लिये कहा जाता है कि जितनी ही प्राचीन भाषा होगी, एक ही वस्तु के उतने ही अधिक नाम उस भाषा में मिलेंगे।

बारबार प्रयोग होते रहने से इन समानार्थक शब्दों में समजातीयता का गुण आ जाना स्वाभाविक हो गया। यदि हम विभिन्न गुणों के आधार पर सूर्य को पचास नामों से पुकार सकते हैं तो बहुत सम्भव है कि इन पचासों शब्दों में अनेक ऐसे शब्द भी होंगे जो समान गुणवाचक पदार्थों के लिये भी व्यवहृत हो सकेंगे। ऐसी स्थिति में एक ही शब्द समान गुणवाले अनेक पदार्थों का अर्थ देने लगेगा और तब हम उसे समजातीय शब्द का नाम दे सकेंगे।

वेद में पृथ्वी को उर्वी (विस्तृत), पृथ्वी (चौड़ी), महि (महती) इत्यादि नामों से पुकारते हैं। निघण्टु में पृथ्वी के इक्कीस नाम दिये गये हैं, परन्तु उर्वी (विस्तृत) शब्द केवल पृथ्वी के लिये ही नहीं प्रयुक्त हुआ है, किन्तु नदी के अर्थ में भी इसका प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार पृथ्वी (चौड़ी) केवल धरती को ही नहीं वरन् आसमान एवम् ऊषा के लिये भी इसका प्रयोग हुआ है। महि (दीर्घ, पुष्ट) शब्द समान रूप से पृथ्वी, गाय तथा वाणी के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार पृथ्वी, नदी, आसमान, ऊषा और गाय ये सब समजातीय शब्द हुए। ये सभी शब्द सामान्य हैं अतः समझ में आ जाते हैं, परन्तु जिन शब्दों को काव्य की प्रारम्भिक अवस्था में अभिव्यंजना का साधन बनाया गया है वे रूपकों पर आधारित हैं। यदि एक बार ये रूपक समस्त लोगों के मस्तिष्क से निकल जाँय या यदि उन शब्दों का मूल तत्त्व (धातु) ही स्मृति से निकल जाय तो इनमें से अनेक शब्दों का मौलिक अर्थ दुर्बोध हो जायगा। ऐसी स्थिति में ये शब्द केवल पारिवारिक वार्ता के विषय रह जायँगे। सम्भव है कि पितामह इनको समझता रहा हो, पिता भी इनके आंशिक रूप को समझ पाता रहा हो, परन्तु पुत्र के लिये वही शब्द अगम्य

हो जाय। पौत्र के लिये वही शब्द एकदम अपरिचित हो जायगा और शायद उस शब्द में अर्थभ्रष्टता भी आ जाय। यह अर्थभ्रष्टता कई प्रकार से हो सकती है, यथा, सम्भव है कि शब्द के मौलिक रूप को ही लोग भूल जायें और इस प्रकार एक समय का सार्थक शब्द आगे चलकर निरर्थक या अन्यार्थक हो जाय। हो सकता है कि इसी प्रकार जीग्रस (जो संस्कृत द्यौस् की तरह आकाश का बोधक था) शब्द धीरे-धीरे व्यक्तिवाचक संज्ञा बन गया हो।

कितनी ही बार ऐसा हुआ है या हो सकता है कि किसी शब्द का मौलिक अर्थ स्मृति के परे चला गया और उस शब्द को एक नये अर्थ का जामा पहना दिया गया हो। ऐसा तो आजकल भी कम नहीं होता। अपोलो और डेलॉस की स्थिति प्रायः ऐसी ही है।

ऐसा भी कितनी बार हुआ है कि एक ही वस्तु के लिये दो नाम बन गये, परन्तु कालान्तर में उन दोनों शब्दों से दो भिन्न वस्तुओं का अर्थ मिलने लगा चूँकि दोनों ही के लिये कथा एक ही थी अतः वे दोनो ही भाई-भाई भाई-बहन या बहन-बहन मान लिये गये। इसी प्रकार के परिवर्तनों का दर्शन हमें तब होता है जब हम सेलीन(चन्द्रमा)को मेनी(चन्द्रमा)के रूप में देखते हैं या हीलियॉस (सूर्य)को फोइबस(चमकदार)कहने लगे और बाद में यही शब्द एपोलो का उपाधि-सूचक शब्द बन गया। इसी प्रकार ग्रीक नायकों में से अनेक को ग्रीस के देवों का नाम दिया गया है और उनमें तदनुरूप देवताओं के गुणों का समावेश भी हो गया है। ऐसा भी प्रायः हुआ है कि एक विशेषण किसी नाम के साथ प्रयुक्त हुआ और वही विशेषण किसी अन्य वस्तु के नाम के साथ भी प्रयुक्त होने लगा। पहले जो कुछ सागर के लिए कहा गया था, वही बाद में आकाश के लिए भी कहा गया। जब एक बार सूर्य को सिंह या भेड़िया कह दिया गया तो बाद में उनके पंजे तथा अयाल(शेर के गर्दन के बाल)भी होने लगे, यद्यपि उनकी उपमा आगे चलकर समाप्त हो गयी। सुनहरी किरणों वाले सूर्य को सुनहले करों से युक्त कह दिया गया। क्योंकि 'कर' शब्द हाथ के लिये भी प्रयोग में आता था और किरणों के लिये भी। परन्तु जब सूर्य को वहीं उपाधियां एपोलो तथा सवितर के लिये भी प्रयुक्त होने लगी तो वही पौराणिकता का जन्म हुआ। इस प्रकार की बात हमें संस्कृत एवम् जर्मन पौराणिक गाथाओं में प्रायः मिलती है। ऐसा कहा गया है कि जब सूर्य का एक हाथ गायब हो गया तो सोने का हाथ लगा दिया गया। (ऋग्वेद १, २२, ५)

इस प्रकार हमारे हाथ पुराण-शास्त्र की कुछ कुंजियाँ लग गयी हैं; परन्तु इन कुंजियों का प्रयोग तब तक नहीं हो सकता जब तक तुलनात्मक

भाषा विज्ञान का ज्ञान न हो। जिस प्रकार फ्रेंच भाषा के किसी शब्द का वास्तविक अर्थ तब तक न लगाया जा सकता जब तक उसकी तुलना इटैलियन, स्पैनिश या प्राविंशल में पाये जाने वाले समानार्थक शब्दों का अध्ययन न किया जाय। इसी प्रकार यह भी असम्भव है कि ग्रीक भाषा के अनेक शब्दों के मूलार्थ का पता तब तक नहीं चल सकता जब तक उनके जर्मन, लैटिन, स्लाव तथा संस्कृत के समानार्थक शब्दों का विचार न किया जाय। दुर्भाग्य ही है कि भाषा की इस प्राचीन माला में कोई ऐसी भाषा नहीं है जो लैटिन से मेल खाती हो और जिससे हम फ्रेंच, इटालियन तथा स्पेनिश शब्दों का तारतम्य बैठा सकें। संस्कृत उस रूप में लैटिन तथा ग्रीक की मां नहीं है, जिस रूप लैटिन भाषा फ्रेंच या इटालियन भाषाओं की जननी है। यद्यपि संस्कृत अन्य भाषाओं की बहन है परन्तु इसमें शक नहीं कि वह सबसे जेठी बहन है, क्योंकि आदि भाषा के बहुत से शब्दों के रूपों को उसने ज्यों का त्यों कायम रक्खा है। ऐसी स्थिति में यदि हम किसी ग्रीक या लैटिन शब्द के संस्कृत रूप को पा लें तो हम न केवल उसकी धातु ही पा सकते हैं वरन् उसके वास्तविक अर्थ को भी जान सकते हैं। प्रो० मुलर ही प्रथम व्यक्ति था जिसने स्वीकार किया कि प्राचीन भाषा-विज्ञान को चाहिये कि इस प्रकार के शब्दों के वास्तविक अर्थ खोजने के काम को वह तुलनात्मक भाषा विज्ञान के लिये छोड़ दे। मुलर का यह विचार विशेष रूप से पौराणिक नामों के विषय में एकदम सही है। किसी भी शब्द या शब्द समूह को पौराणिक बनाने के लिये यह आवश्यक था कि इन शब्दों के वास्तविक अर्थों का लोप कम से कम उस भाषा में हो गया हो, जिसकी ये सताने हों। ऐसा भी प्रायः होता है कि एक भाषा की पौराणिक गाथा दूसरी भाषा के सहारे सरलता से समझ में आ जाती है।

हम जिसको हिन्दू पुराण-शास्त्र कहते हैं उसमें तुलना की अधिक गुंजाइश नहीं है। शिव, विष्णु महादेव, पार्वती, काली, कृष्ण इत्यादि को कथाएँ काफी बाद की कथाएँ हैं। इन कथाओं का प्रचार केवल भारत में ही है और इनमें जंगली तथा कल्पनापूर्ण विचार भरे पड़े हैं। यह सत्य है कि भारत की पौराणिक गाथाएँ साथ ही वीरकाव्यों में दी गयी गाथाएँ तुलनात्मक पुराण-शास्त्र के लिये किसी काम की नहीं हैं, किन्तु वेद में जो पौराणिक गाथाएँ दी गयी हैं वे आदिम कालीन हैं, प्राकृतिक हैं, अतः वे आसानी से हमारी समझ में आ जाती है। तुलात्मक पुराणशास्त्र के लिये वेद उतने ही लाभदायक हैं, जितनी लाभदायक संस्कृत भाषा तुलनात्मक व्याकरण के

लिये है। सौभाग्य से वेद में न तो किसी धार्मिक प्रणाली का अस्तित्व है और न ही पौराणिक प्रणाली का किसी ऋचा में ही वही नाम अभिधा रूप में प्रयुक्त हुआ है, किसी में वही नाम देवताओं का नाम हो गया है। वही देवता कभी सर्वोच्च मान लिया गया है, कभी अनेक देवताओं का समपदीय हो गया है और कहीं अन्यों की तुलना में सामान्यत्व की सीमा में कर दिया गया है। इन तथाकथित देवों का समूचा रूप स्पष्ट है और उनकी रचना का दृष्टिकोण कितनी ही बार स्पष्ट दिखाई दे जाता है। इनकी संतति प्रणाली भी सर्वत्र एक सी नहीं हैं और न ही उनकी स्त्री-पुरुष के रूप में युग्म प्रणाली ही सर्वमान्य हो सकी है। एक ही देव दूसरे देव का कभी पुत्र हो जाता है, कभी पिता। वही देव किसी देवी का कभी भाई है तो कभी पति और जिस देवी को किसी ऋचा में किसी देव की स्त्री माना गया है, किसी अन्य ऋचा में वह उसकी माता भी बना दी गयी है। ज्यों-ज्यों कवियों की कल्पना बलवती होती गयी त्यों-त्यों ये सम्बन्ध भी बदलते गये। भारत के प्राचीन काव्य को ग्रीस के अति प्राचीन काव्य से अलग करने में यह अन्तर स्पष्ट दिखायी दे जाता है, जब हम वेद की वृद्धिगत कथाओं को होमर की वृद्धि प्राप्त वरन् यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि ग्रीस की क्षीणता प्राप्त कथाओं से तुलना करते हैं। होमर की काव्य इन्हीं कथाओं पर आधारित है। आर्य जाति के देवों की उत्पत्ति को स्पष्ट करने का पूरा सामान वेद में ही मिलता है, जबकि होसियॉड की कथाओं में उसी की स्पष्ट छाया दिखाई देती है। यदि हम जानना चाहते हैं कि स्वर्गीय शक्ति से युक्त प्राकृतिक जागरूकता से युक्त मानव मस्तिष्क किस प्रकार आवश्यक तथा अनिवार्य रूप से भाषा के प्रभाव के कारण अमानवीय तथा भावनामय विचारों की ओर मुड़ जाता है तो हमें वेद का अध्ययन करना चाहिये और यदि हम हिन्दुओं को यह समझा देना चाहते हैं कि वे केवल प्रकृति गत उपादानों को ही देव रूप से मानते तथा पूजते चले आ रहे हैं तो हमें चाहिये कि उन्हें वेद का अध्ययन करने के लिये प्रेरित करें। हमारे पूर्वजों की यही गलती थी कि वे अपने देवताओं की उपासना उन्हें दैत्य एवम् दुरात्मा मान कर करते थे। हमें हिन्दू देवताओं पर विचार करते समय उस प्रकार की त्रुटि नहीं करनी चाहिये। वास्तव में हिन्दू देवों का अस्तित्व हमारे ईश्रोस तथा हेमेरा से अधिक वास्तविक नहीं था। ये सब केवल नाम हैं, वेश हैं, ऐसे अभिनेताओं के जिनका कभी कोई अस्तित्व नहीं रहा है। ये देव मानव के सर्जक नहीं हैं, वरन् मानव ही इनका स्रष्टा है।

उनका नाम नाम ही हैं, वास्तव में नाम के अतिरिक्त उनका कोई भौतिक अस्तित्व न रहा है और न है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं कि ग्रीक, लैटिन या ट्यूटनिक भाषाओं की पुराकथाएँ उन्हीं भाषाओं के सहारे समझी जा सकती हैं, क्योंकि ग्रीक भाषा में ही कितने ऐसे शब्द पाये जाते हैं जो बिना संस्कृत या गोथिक की सहायता के ही समझे समझाये जा सकते हैं। अब हम इनमें से कुछ कथाओं पर विचार करेंगे और बाद में कुछ दुर्बोध कथाओं को लेंगे जिन पर या तो आयलैंड की हिमाच्छादित पहाड़ियों तथा ईडा के गीतों से प्रकाश पड़ेगा या सप्त सिंधु में गायी गयी वेद की ऋचाओं से।

ग्रीकवासियों की कल्पना की ऊंची उड़ान सूक्ष्मदर्शिका दृष्टि, प्रतिभा-सम्पन्नता तथा प्रतिक्षण बदलती रहनेवाली कल्पनाएँ यह सब मिलकर इस बात को स्पष्ट कर देती हैं कि आर्य जाति के विभाजन के बाद ग्रीकों की भाषा उनकी पौराणिक विविधता सभी आर्यजातियों से आगे थी। उनकी शब्द-रचना शक्ति सर्वश्रेष्ठ थी परन्तु वे नये शब्दों को शीघ्र ही भूल भी जाते थे, क्योंकि प्रत्येक प्रतिभापूर्ण मनुष्य या जाति के लिये इस प्रकार का भूल जाना स्वाभाविक ही है। उस पुराकाल में एक शब्द रचना आजकल की काव्य रचना से कम महत्वपूर्ण नहीं होती थी। उनके प्रत्येक शब्द में एक उपमा होती थी या एक वैभव पूर्ण दर्शन होता था। ग्रीसवासियों की प्रवृत्ति ही कुछ ऐसी रही कि चाहे शब्द कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो परन्तु शीघ्र ही वे उसके मौलिक अर्थ को छोड़ कर आगे बढ़ जाते थे और यही कारण है कि ग्रीक भाषा के कितने ही शब्द के मूल रूप का आज पता ही नहीं चल पाता है और कितने ही शब्द जन्म-दाताओं को भुला दिया गया है। स्वयम् ग्रीसवालों को ही उनके अनेक शब्दों के मौलिक रूप या मौलिक अर्थ का ज्ञान नहीं रह गया है। यह ग्रीसवासियों का उपेक्षाभाव ही था कि उनके अधिकांश शब्द अपनी जन्म-जात प्रवृत्ति को छोड़ चुके हैं। केवल अकेला होमर ही उन्हें संतोष देने को पर्याप्त था। शब्द के प्रचलित अर्थ को जान लेने के बाद उसके मौलिक रूप या अर्थ को जानने की चेष्टा उनकी जातिगत प्रवृत्ति के बाहर की बात थी। हम सभी जानते हैं कि किस प्रकार सुकरात ने तुरन्त ही इरॉस को पंखयुक्त बना दिया, परन्तु होमर की बात इससे भिन्न थी। वह प्रत्येक शब्द के व्यौत्पत्तिक रूप को महत्व देता था और यही इस बात का प्रमाण

है कि ग्रीसवासी होमर काल के काफी समय पूर्व ही ग्रीक शब्दों के मौलिक रूप एवम् अर्थ को भूल चुके थे।

हम ग्रीसवासियों के किसी भी पौराणिक आख्यान को समझ सकते हैं यदि उन व्यक्तियों का व्यक्तित्व हमारी समझ में आ जाय, जो उस आख्यान के सम्माननीय पात्र हैं। जब हम इग्रोस, सेलीन, होलियॉस के नामों को देखते हैं तो हमको ऐसा लगता है जैसे ये नाम स्वयम् अपनी कथा कह रहे हों और फिर तो सारी कथा का स्पष्टार्थ हमारी समझ में आ जाता है। आइये हम थोड़ा रुक कर सेलीन तथा एनडेमियन की कथा पर विचार कर लें। एनडेमियन पुत्र है जीअस तथा कालिक का, पर साथ ही वह एथलियॉस का भी पुत्र है जो एलिस का राजा है और जिसे स्वयम् जीअस का पत्र कहा जाता है। एनडेमियन ने उसी एथलियॉस के उत्तराधिकारी के रूप में एलिस का राज्य प्राप्त किया था। इतने ही विवरण से हमें कथा की स्थानीयता का पता चल जाता है। हम समझ जाते हैं कि एनडेमियन की जन्म भूमि एलिस ही है और यह कि एलिस के शासक ग्रीक परम्पराओं के अनुसार जीअस के वंशज हैं। भारत में भी ऐसी ही परम्परा के दर्शन होते हैं, जिसके अनुसार वहाँ के शासकों के दो परिवार चल पड़े थे अर्थात् सूर्यवंश और चन्द्रवंश। हम पुरुरवा को यह कहते हुए पाते हैं कि :—

> "दिन का महान् महाराज
> और रात्रि का स्वामी हमारे पूर्व पुरुष हैं;
> मैं उन्हीं का पौत्र हूँ"

ऐसी स्थिति में हमें मानना पड़ेगा कि एलिस का एक राजा था, जिसका नाम एथेलियॉस था और सम्भव है कि उसके एनडेमियन नाम का पुत्र भी रहा हो, परन्तु यह पौराणिक गाथा जो कुछ एनडेमियन के विषय में कहती है, वह एलिस के राजा के साथ लागू नहीं हो सकता। इस गाथा में एनडेमियन को कैरिया या माउण्ट लैटमस पर स्थानान्तरित कर दिया गया है, क्योंकि इसी पहाड़ की एक गुफा में उस सुन्दर सोने वाले को सेलेन ने देखा, उसे प्यार किया और खो भी दिया। अब सेलेन के शब्दार्थ के विषय में कोई शंका नहीं होती यदि परम्परा से चला आने वाला उसका दूसरा नाम 'एस्टरोडिया' भी रख दिया गया होता और तब हम उस शब्द के अर्थ में चन्द्रमा को ग्रहण कर सकते थे, जो 'सितारों के मध्य का पर्यटक है।' तब एंडिमियन कौन है? यह सूर्य के अनेक नामों में से एक है, हाँ इसका तात्पर्य अधिकांशतः डूबते हुए सूर्य से है। यह शब्द ग्रीक भाषा के 'इण्डव'

शब्द से निकला है जो प्राचीन ग्रीक भाषा में कभी भी डूबने के अर्थ में नहीं प्रयुक्त होता था, क्योंकि डूबने के लिये ग्रीक भाषा में डव शब्द प्रचलित था। डव शब्द का मौलिक अर्थ होता था गोता मारना, छलाँग लगा कर डूबना। यदि हम ग्रीक भाषा के 'होलियॉस दी अर एडो' (सूर्य ने गोता लगा दिया) को प्राचीन ग्रीस की भाषा के 'एडव पोंटोव, (वह सागर में गोता लगा गया) से मिलावें तो हमारी समझ में बात आ जायगी। इसी प्रकार थेटिस अपने थियों को सम्बोधित करता है। (इलियड १८, १४०) :—

'अब तुम समुद्र के गहरे गर्भ में छलांग लगाकर डूब सकते हो'

सागरतट निवासिनी जातियों की भाषाओं में भी ऐसी अभिव्यंजनाएँ मिलती हैं। स्लाव राष्ट्रों में सूर्य के डूबने के लिये कहा जाता है कि सूर्य (इन राष्ट्रों में सूर्य को स्त्री माना जाता था) एक स्त्री की ही तरह शाम को स्नानागार में घुस जाता है और प्रातःकाल नहा-धोकर तरोताजा होकर निकलता है। उनके अनुसार सागर सूर्य की माँ है और सूर्य रात को माँ की गोद में विश्रामार्थ चला जाता है। ऐसी स्थिति में हम मान सकते हैं कि ग्रीसवासियों की किसी जन भाषा में इएडव शब्द का प्रयोग इसी रूप में होता रहा होगा और इसी इएडव शब्द से सूर्यास्त शब्द के अर्थ में इएडुमा का प्रयोग होने लगा। इसी इएडुमा शब्द से एंडेमियन शब्द बन गया जैसे यूरेनव से यूरेनस बन गया या जैसे ग्रीकों के अनेक महीनों के नाम बने हैं। यदि सूर्यास्त के अर्थ में इएडुमा को स्वीकृति मिल गयी होती तो एंडिमियन शब्द कभी अस्तित्व में ही न आ पाता, चूंकि एंडिमियन एक बार लोग भूल चुके हैं अतः जो कुछ अस्तंगत सूर्य के लिये कहा गया था अब एक तन्नामधारी व्यक्ति के लिये कहा जाने लगा और फिर उसी नाम में देवत्व का समावेश कर दिया गया। हम कह चुके हैं कि कितने ही लोगों का विश्वास है कि सूर्य लाटिमस नामक गुफा में सो जाता है और कुछ दूसरे लोगों का विश्वास है कि अब वह कोरिया लैटमॉस पर्वत पर सोता है। एंडिमियन दिन भर काम करके निद्रा के वशीभूत हो जाता है, अर्थात् यह शब्द अस्तंगत सूर्य के लिये ग्रहण किया जाता रहा है। उसे जीअस तथा कारलिक (सबको ढँक लेने वाली रात) की संतान माना गया है, परन्तु एक दूसरी कथा के अनुसार वह जीअस तथा प्रोटोजेनिया की सन्तान है। प्रोटोजेनिया आदि देवी ऊषा है। ऊषा को सूर्य की माँ भी माना गया है, बहन भी तथा स्त्री भी कैसी जो पति से अनाहता है, इसी लिये सूर्य और ऊषा के दर्शन साथ-साथ नहीं हो सकते। सूर्य एलिस के एक राजा का पुत्र है। ऐसा शायद

इसीलिये हुआ है कि राजा या राजकुमारों का नाम प्रायः सूर्य, चन्द्र या सितारों के नाम पर रखने की परम्परा-सी चल गयी थी। इस प्रकार इन पदार्थों के नाम से चलने वाली पौराणिक गाथा इन राजाओं या राजकुमारों के भी लिये कही जाने लगी। प्राचीन काल में एलिसवासी प्राय : इस प्रकार बोला करते थे :—'सेलेन एन्डेमियन को देखती तथा प्यार करती है' (देर हो रही है); 'सेलेन एंडेमियन का आलिंगन करती है' (सूर्य डूबता है तथा चाँद निकलता है); 'सेलेन सुत एंडेमियन का चुम्बन लेती है' (रात हो गयी है) मजा तो यह है कि जब इन शब्दों से इनके अर्थों का सम्बन्ध टूट गया तब भी ये बोले ही जाते रहे। मानव मस्तिष्क की विशेषता है कि अपनी सर्वज्ञता का प्रदर्शन करने के लिये वह उन बातों को भी समझाने की चेष्टा करता है, जिन्हें वह स्वयम् नहीं समझता। अतएव ऐसी स्थिति में जो शब्द समझ की सीमा के बाहर थे, उनको समझाने के लिये मानव ने आख्यायिकाओं की सृष्टि की। वे आख्यायिकाएँ कुछ इस प्रकार की बनीं :—'एंडेमियन एक सुन्दर लड़का था, जिसे एक लड़की प्यार करती थी, जिसका नाम सेलेन था।' यदि इसके बाद कहानी सुनने वाले बच्चे और भी आगे जानने का प्रयत्न करते थे, तो बुढ़िया दादी उनको खुशी से बता देती थी कि वह प्रोटोजीनिया का पुत्र था, भले ही वह न समझ पा रही हो कि प्रोटोजीनिया शब्द ऊषा के लिये प्रयुक्त हुआ है। एक बार यह कथा किसी दादी माँ के मुँह से निकली कि कितने हो लोगों द्वारा इसका जब तब प्रचार होता रहा और यदि इन्हों में से किसी घटना का वर्णन किसी कवि ने कर दिया तो वह बात साहित्य में स्थान पा गयी और चूंकि यह बात समझ में आने लायक नहीं थी, अतः इसे पौराणिकता का बाना दे दिया गया। फिर तो परकालीन गायकों ने धड़ल्ले से इसका प्रयोग आरम्भ कर दिया। इसी प्रकार कुछ परिवर्तन क्रमों से गुजरते हुए एंडेमियन एक अस्तंगत सूर्य के बदले एक सुन्दर बालक बन गया, जिसे एक पवित्र-हृदया बालिका प्यार करती थी। ऐसी स्थिति में यह नाम राजकुमारों के योग्य सिद्ध हुआ। इसी प्रकार कितनी हो पौराणिक गाथाओं के ढाँचे बदल गये, क्योंकि नामों की एकता ने एक से सम्बंधित कथा को दूसरे से जोड़ दिया। यही हालत एलिस तथा एंडेमियन की कथा की भी है, क्योंकि एलिस के किसी भी राजकुमार का नाम एंडेमियन नहीं था।

कथाओं का विकास ऐसा ही होता है। हो सकता है कि कोई स्थानीय भाषा का ही कोई शब्द किसी कारण अपने क्षेत्र से दूर जा पड़े और वहाँ

तब तक यों ही परदेशी सिक्कों की तरह पड़े रह गये जब तक कि कोई उस शब्द का जानकार वहाँ नहीं पहुँचा। इस ऊहापोह में शताब्दियाँ गुजर गयीं। दुर्भाग्यवश हमारे पास ऐसी कहानियों का संग्रह नहीं है और हो भी नहीं सकता जिसमें इन कहानियों का वास्तविक संग्रह हो जो सदियों तक नानी की कहानियों के रूप में घरों में कही जाती रहीं। मि० ग्रिम ने जर्मनी देश की कुछ ऐसी कहानियों का संग्रह किया है और उन्हें जर्मन माइथोलाजी नाम से प्रकाशित भी किया है। हम इन कहानियों को उस रूप में नहीं पा सकते जिस रूप में वे परिवार की वयप्राप्त महिलाओं द्वारा कही जाती रही और जिनके कहने वालियाँ भी उसके गूढ़ार्थ को नहीं समझती थीं, फिर सुनने वाले बच्चे उसे कैसे समझ सकते थे। साथ ही हमें उस आदि कवि की रचनाएँ भी नहीं प्राप्त हैं, जिसने सर्वप्रथम इन गाथाओं को पद्य में कहा होगा। जहाँ होमर ने इस कार्य को हाथ में लिया है, वहाँ इनके साथ पूर्ण न्याय हुआ है, वहाँ हर कथावस्तु को नियमतः सजा कर रक्खा गया है। प्रारम्भ में उसने अध्यात्म तत्व को रक्खा, फिर ट्राय के घेरे को स्थान दिया और अन्त में नायकों की वापसी (Return of Heroes) रक्खा। इसके बाद होसियाड का क्रम आता है, वे नैतिकतावादी होने के साथ अध्यात्मवादी भी है। उसमें भी हमें ग्रीस की पौराणिक भाषा के दर्शन होते हैं। इस प्रकार हमारे मुख्य स्रोत का कार्य वे कथाएँ करती हैं, जिनको इतिहास में स्रोत माना गया है। वास्तविकता यह है कि इतिहास का पूर्ण ज्ञान न होने की दशा में पुराणों को ही इतिहास मान लिया गया था। ऐसी स्थिति में पुराणशास्त्र के हर शोधक को चाहिये कि वह इस समूह को सुनिश्चित आधारों पर विश्लेषित करे, उसमें जो कुछ भी सुव्यवस्थापूर्ण लगे, उसको अलग कर दे और प्रत्येक गाथा को उस अव्यवस्थित स्थिति में ला दे, जिसमें उसका जन्म हुआ था। ऐसी गाथाओं में जो कुछ भी हमारे लिये अनावश्यक है, उसे अलग कर दें और जब उस गाथा का सारा अनावश्यक अंग हट जाय तो उसकी कथावस्तु के ही आधार पर हमें यह समझ लेना चाहिये कि वह गाथा किस समय तथा किस स्थान की है। जिस प्रकार हम सिक्कों का वर्गीकरण समयानुसार सोने, चाँदी तथा ताँबे के सिक्कों में करते हैं, उसी प्रकार हमें गाथाओं का वर्गीकरण कर लेना चाहिये। अर्थात् हमें चाहिये कि हम इन कथाओं को देव-सम्बन्धी, उच्च वर्गीय पुरुष-सम्बन्धी एवं जन सम्बन्धी कथाओं में बाँट लें। ऐसी स्थिति में यदि हम यह पावें या पा सकें कि कोई गाथा ग्रीक देश से सम्बन्धित है तो हमें उसका समय

विचार करके तब यह सोचना चाहिये कि उक्त गाथा कालीन अतीत हमारे समक्ष वर्तमान का रूप ले चुका है। एंडेमियन की गाथा हमारे समक्ष उस समय का चित्र उपस्थित करती है, जब एलिस राज्य के निवासी प्रयुक्त शब्दों का अर्थ समझते थे अर्थात् वे इस कथन का तात्पर्य भलीभाँति समझ लेते थे कि 'चन्द्रमा (सेलेन) रात्रि के आवरण (लैटमियन गुफा) में से प्रगट होता है और अस्तंगत उस सूर्य की महिमा को प्रशंसा युक्त दृष्टि से देखता है, एंडेमियन जिसका प्रतिनिधित्व करता है, जो जीअस का पुत्र है, और जीअस ने जिसे शास्वत निद्रा एवं नित नव यौवन का वरदान दिया है। ऐसी स्थिति में हम तुरन्त जान जाते हैं कि सेलेन की पचास पुत्रियाँ ओलम्पियन साइकिल की (प्रेलर, १, पृष्ठ ३६४) चन्द्रमा की पचास विभिन्न अवस्थाएँ ही हैं।

हमें इस बात को समझ लेना चाहिये कि एंडेमियन उस शाश्वत् सूर्य का प्रतिनिधित्व नहीं करता जिसे हम फाइबस अपोलन कहते हैं, वरन् वह प्रतिनिधि है उस सूर्य का जो नित्य प्रातःकाल पूर्व में निकल कर सायंकाल पश्चिम में अस्त हो जाता है, जो प्रातःकाल ऊषा के गर्भ से प्रगट होकर दिन भर संसार को आलोकित करके रात्रि को शयन करने लगता है। अफ्रीका के वेचुआना में डूबते सूर्य को मरता हुआ सूर्य कहते हैं। आर्यों की पौराणिक गाथा में सूर्य को स्वर्गीय माना गया है किन्तु उसे अमर नहीं माना गया है, कभी उसे जीवित पर सुप्त माना गया है, कभी उसे मर्त्य भी माना गया है, जिसे एक देवी प्यार करती है, परन्तु इन सभी वेशों में वह मानव की भाँति भाग्य एवं दुर्भाग्य के घेरे के बाहर नहीं जा पाया है। इसी प्रकार टिथोनस जिसे संस्कृत दिध्यानः का परिवर्तित रूप माना गया है—पहले उस सूर्य के अर्थों में प्रयुक्त होता था, जो दैनिक अथवा वार्षिक भ्रमण में काम करता है। एंडेमियन की ही भाँति उसे भी जीअस तथा अपोलोन की भाँति अमरता नहीं मिली है। एंडेमियन की युवावस्था कायम रहती है अर्थात् वह अजर है, पर वह सदैव सोता ही रहता है। टिथोनस अमर है, परन्तु इओस उसके लिये शास्वत युवावस्था माँगना भूल गयी। इसी लिये वह बेचारा वृद्धत्व को प्राप्त हो गया है। मजा यह है कि उसकी स्त्री चिर युवा है। उसने टिथोनस को उसके युवावस्था में प्यार किया था, परन्तु उसकी वृद्धावस्था में भी वह उस पर दयालु है। अन्य परम्पराओं के अनुसार टिथोनस पुत्र है इओस तथा केफालस का, जिस प्रकार एंडेमियन प्रोटोजेनिया (ऊषा) का पुत्र है। इस प्रकार की स्वतंत्रता शायद यह प्रदर्शित करती है कि ग्रीक लोगों को

इसका अर्थ मालूम था कि ऐसा क्यों कहा गया है कि इओस प्रतिदिन प्रातः टिथोनस का बिस्तर क्यों छोड़ देती है। जब तक इस अभिव्यंजना को लोग समझते थे तब तक वह एक कथा थी ऐसा मुझे कहना चाहिये, परन्तु ज्योंही टिथोनस को लावोमेडान का पुत्र कहा गया जो ट्राय के राजकुमार प्रायमस का भाई था, त्योंही यह कहना पौराणिक हो गया कि 'इओस हर प्रातः अपने विस्तर को छोड़ देती है। ऐसी स्थिति में उसका अर्थ या तो परम्परानुसार हो गया या अन्धविश्वासानुसार। चूंकि टिथोनस ट्राय का राजकुमार था अतः उसके पुत्र इथिओपियन मेनन को ट्रोजन के युद्ध में भाग लेना पड़ा। यह सब कितना विचित्र है। प्राचीन कथा भी कवि के मस्तिष्क में बनी रहती है, क्योंकि जब इओस अपने सुन्दर पुत्र के लिये रोती है तो उसकी आँखों से गिरे अश्रुविन्दुओं को 'सुबह की ओस' का नाम दिया गया है। इस प्रकार अतीत का अर्द्धांश सदैव वर्तमान रहता है।

हमने इओस के प्रिय पात्र एवम् टिथोनस के पिता केफालस की चर्चा की है, उसमें हम इतना और जोड़ सकते हैं कि टिथोनस एवम् एंडेमियन की भाँति ही केफालस भी सूर्य के कई नामों में से एक है। हम केफालस को उदय काल का सूर्य कह सकते हैं, जो प्रकाश का मुखिया है और कहने की आवश्यकता नहीं कि कितनी ही कथाओं में सूर्य को केफालस कहकर सम्बोधित किया गया है। वेद में सूर्य को अश्वन् भी कहा गया है, वहां घोड़े का सिर-सूर्य का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार ऋग्वेद के ऋषि का कथन है (१-१६३, ६) 'मैंने अपने मनस् के द्वारा तुम्हें जान लिया है, जब कि तुम दूर ही थे—तुम एक चिड़िया के रूप में आसमान के नीचे उड़ रहे थे, मैंने पंखों से युक्त एक सर देखा जो गर्द रहित समतल पथ पर श्रमपूर्वक आगे बढ़ रहा था।' ट्यूटनिक जातियाँ सूर्य को उओतन की आँख कहते हैं। वे सूर्य को अपने देवता की आँख भी कहते हैं। वेद में भी सूर्य को देवों का मुख कहा गया है (१-११५-१) उसे अदिति का मुख (१,११३,१९) कहा गया है और यह भी कहा गया है कि हवाएँ सूर्य का मुख वर्षा की बूंदों से ढंक देती हैं (५-५९-५)।

इसी प्रकार के विचारों के कारण ग्रीकों में केफालस का जन्म हुआ और यदि केफालस को हर्से (ओस) का पुत्र कहा गया है तो उसका पौराणिक अर्थ यही हुआ कि 'सूर्य ओस भरे खेतों से ऊपर उठता है।' केफालस के लिये कहा गया है कि वह प्रोक्रिस का पति था, उसे प्यार करता था और उन्होंने

एक दूसरे के प्रति वफादार रहने की कसम खाई थी। उधर इओस भी केफालस को प्यार करती है, वह अपने प्यार के बारे में उसे बता भी देती है और चूंकि केफालस प्रोक्रिस के प्रति वफादार रहना चाहता था, उसके प्रेम को स्वीकार नहीं किया। इओस अपनी प्रतिद्वन्दिनी को जानती है अतः उसने केफालस से कहा कि वह तब तक प्रोक्रिस को प्यार करे जब तक वह उसके प्रति पूर्ण वफादार रहती है और अपनी वफा की प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहती है। केफालस उसकी इस शर्त को मान लेता है और अपनी स्त्री के पास एक अनजान व्यक्ति के रूप में पहुँच जाता है और उस अवस्था में भी उसे प्रोक्रिस का प्यार मिलता है। जब प्रोक्रिस को वास्तविकता का पता चलता है तो वह क्रेटा को भाग जाती है। यहां पर उसे डाइना मिलती है, जो उसे एक कुत्ता और एक ऐसा भाला देती है जो हमेशा निशाने पर सच्चा बैठता है। इसके बाद प्रोक्रिस एक शिकारी के वेश में केफालस के पास पहुँचती है। जिस समय वह केफालस के साथ शिकार खेलती रहती है, केफालस उसके कुत्ते एवम् भाले को उससे माँगता है। प्रोक्रिस उसे इन वस्तुओं को देने के लिये तब तैयार होती है, जब उसे प्रेम का प्रतिदान मिले। जब केफालस उसकी शर्त को मान लेता है तब वह अपने को प्रगट कर देती है और केफालस उसे पुनः स्वीकार कर लेता है, परन्तु इओस की मनोमोहकता से प्रोक्रिस को हमेशा भय लगा रहता है। एक बार इसी जलन में जब वह अपने पति पर गुप्त रूप से पहरेदारी कर रही थी तो अनजान में ही केफालस ने उसको मार डाला और इस हत्या में वही भाला काम में लाया गया जो डाइना ने उसे दिया था।

इस कथा को समझाने के पहले हमें इस कथा के विभिन्न अंगों को विश्लेषण द्वारा अलग-अलग कर देना चाहिये। हमें यह भी स्मरण रखना चाहिये कि ग्रीस एवं इटली में इसी से मिलते-जुलते इस कथा के अनेक रूप प्रचलित हैं।

पहली बात तो यह है कि 'केफालस प्रोक्रिस को प्यार करता है।' प्रोक्रिस को स्पष्टतया समझने के लिये हमें संस्कृत का सहारा लेना पड़ेगा, जिसमें 'प्रश' और 'प्रिश्' दो धातुएँ हैं, जिनका अर्थ होता है छिड़कना और ये दोनों धातुएँ वर्षा की बूँदों के लिये अधिकांश व्यवहृत होती हैं। उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद १. १६८,८ को देखिये, "चपला पृथ्वी का उपहास करती है जब हवाएँ पानी की बूंदों का छिड़काव करती हैं।

ट्यूटनिक भाषाओं में यही धातु फ्रास्ट (पाला) के रूप में आती है।

मि० बॉय ने इस शब्द को ग्रो० हा० ज० भाषा के 'प्यूस तथा फ्रिजरे, शब्दों के रूप में माना है। ग्रीक भाषा में हम इस धातु को प्रकास या प्राक्रिस के रूप में ग्रहण कर सकते हैं जिसका अर्थ होता है 'ओस', 'ग्रोस की बूँदें।' इस प्रकार केफालस केवल हर्से की पुनरावृत्ति मात्र है जो संस्कृत के 'वृष' (छिड़कना) धातु का रूपान्तर है। प्रोक्रिस (ग्रोस) बना है संस्कृत धातु 'प्रश' से, जिसका अर्थ वही है। ग्रतः उपरोक्त गाथा के पूर्व भाग का अर्थ होता है "सूर्य प्रातः को ग्रोस का चुम्बन करता है।"

दूसरी कहावत यह है कि, 'इओस केफालस को प्यार करती है।' इसको स्पष्ट करने की ग्रावश्यकता नहीं है। यह एक प्राचीन कथा है जिसे आर्यन गाथाग्रों में बार-बार दुहराया गया है कि "उषा सूर्य को प्यार करती है।"

तीसरी कहावत है कि 'प्रोक्रिस वेवफा है, फिर भी उसका नया प्रेमी भी केफालस ही है, यद्यपि उसका वेष बदला हुआ है।' इस बात का हम लोग यह अर्थ लगा सकते हैं कि वह एक काव्यात्मक ग्रभिव्यंजना है, जिसमें कहा गया है कि ग्रोस की बहुरंगी बूंदों में सूर्य प्रतिबिम्बित होता है, इसी से कहा जा सकता है कि प्रोक्रिस का चुम्बन उसके ग्रनेक प्रेमी लेते हैं, पर वे सब के सब एकमात्र सूर्य के ही विभिन्न रूप हैं, जिनका वेष मात्र बदला रहता है।

अन्तिम कहावत है कि, 'प्रोक्रिस केफालस द्वारा मार डाली जाती है' ग्रर्थात् ग्रोस सूर्य द्वारा सोख ली जाती है। प्रोक्रिस की मृत्यु का कारण उसका केफालस के प्रति प्यार ही है ग्रौर उसे प्रोक्रिस को ग्रवश्य मार डालना चाहिये, क्योंकि केफालस उसे प्यार करता है। समूची बात इतनी ही है कि सूर्य की प्रतिक्षण ऊष्णतर होती जाने वाली किरणें ग्रोस की बूँदों को सोख ही लेती हैं, चाहे वे कितनी ही घनी झाड़ियों में क्यों न हों।

हमें इन चारों कहावतों को एकत्रित भर कर देना है और तब केफालस, प्रोक्रिस तथा इग्रोस की कथा स्पष्ट हो जायगी। यदि केफालस को सूर्यरूप सिद्ध करने में किसी वस्तु की ग्रावश्यकता ही हो तो हमें इतना बताना ही शेष रह गया है कि किस प्रकार केफालस ग्रौर प्रोक्रिस हिमैटोज की पहाड़ी पर मिलते हैं ग्रौर किस प्रकार निराश होकर केफालस ल्यूकेडियन पर्वत से समुद्र में कूद पड़ता है। वास्तव में यह सारी कथा ग्रट्टिका की है जहाँ सूर्य साल के ग्रधिकतर भाग में हिमैटोज पर्वत पर एक सर की भाँति चमकता रहता है। यदि ग्रट्टिका से एक सीधी भूमध्य रेखा के समानान्तर रेखा पश्चिम को खींची जाय तो हम ल्यूकेडियन ग्रन्तरीप पर पहुँचेंगे जहाँ के लिये कहा

गया है कि केफालस ने शान्ति पाने के लिये यहीं से सागर में छलाँग लगा दी थी।

हेराकिल्स की मृत्यु के विषय में जो आख्यायिका कही गयी है, उसमें सूर्य के अस्त होने की ही कथा है जो अत्यधिक शानदार है। हेरोडेटस ने भी उसके दोनों रूपों (देव भी और नायक भी) को मान्यता दी है। कुछ उपाधियाँ जो उसे दी गयी हैं, उन्हीं से सिद्ध होता है कि हेराकिल्स की कथा भी सौरगाथा ही है। हेराकिल्स के नाम पर जितनी पौराणिक, ऐतिहासिक, भौतिक तथा नैतिक कथाएँ प्रचलित हैं उतनी अधिक कथाएँ शायद ही किसी अन्य नाम पर हों।

इन प्राचीन कथाओं में ग्रीक भाषा में वे सभी तत्व प्राप्त हो जाते हैं, जिनके कारण इन सभी कथाओं एवं उनके चरित्रों का रहस्य स्पष्ट हो जाता है। हाँ, कुछ ग्रीक शब्द ऐसे भी हैं, जिन्हें यदि अकेले ग्रीक साधनों से स्पष्ट करना चाहें तो यह बात सम्भव नहीं हो सकती। यदि उन शब्दों को संस्कृत समरूपी शब्दों से मिला कर न देखा जाय तो ग्रीक के ये शब्द केवल पारम्परिक ही रह जाँयगे अर्थात् उनके व्यौत्पत्तिक अर्थ समझ की सीमा से बाहर ही रह जाँयगे। कितने ही ग्रीक नायक या देवता ऐसे भी हैं जिनका रहस्य केवल ग्रीक माध्यम से तब तक स्पष्ट नहीं होता जब तक हम भारत, फारस, इटैली या जर्मनी के तत्कालीन साहित्य का सहारा न लें। ऊषा सम्बन्धी एक अन्य पौराणिक कथा से हमारी बात स्पष्ट हो जायगी।

संस्कृत भाषा में दिन के लिये एक शब्द है 'अहन्'। यह कहा जाता है कि यह दहन् का परिवर्तित रूप है, जैसे अश्रु शब्द दश्रु का परिवर्तित रूप है, जिसे ग्रीक में दक्रु कहते हैं। हमको इस सन्दर्भ में यह नहीं जानना है कि पूर्ण स्वर के पूर्व 'द' लोप हो जाता है या नहीं या यह कि हम अहन् के पहले आने वाले 'द' को गौणाक्षर मान लें या नहीं, क्योंकि अह् के पूर्व द लगाकर दह शब्द बनता है, जिसके अर्थ होते हैं 'जलना।' संस्कृत में एक धातु है दह् जिसका अर्थ है जलना, जिसका दिन का अर्थ देने के लिये एक शब्द उसी प्रकार बन सकता है, जैसे द्यु = चमकने से, दिव् = दिन बना है। हमें यहाँ यह भी नहीं देखना है कि गोथिक भाषा का कर्ता कारक में दग्-स = दिन शब्द उसी का रूपान्तर है या नहीं। ग्रिम के सिद्धान्तानुसार संस्कृत दह का गोथिक रूपान्तर टग होना चाहिये न कि दग। संस्कृत में कुछ धातुएँ ऐसी भी हैं, जिनमें संधियों के कारण या तो प्रथम अक्षर प्रभावित होता है या अन्तिम या कभी-कभी दोनों ही प्रभावित होते हैं। इसके अनुसार हमें संस्कृत के

दह शब्द का द्वितीय रूप यह भी मिलता है और इससे गोथिक भाषा के दग शब्द की विचित्रता समाप्त हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वॉप साहब दग और टह को सममूलक मानते हैं। यह भी निश्चित है कि टयूटनिक भाषाओं में ऊषा शब्द के लिये जिन तत्वों का प्रयोग हुआ है, उसी तत्व से दिन सूचक शब्द भी बना है। जर्मन भाषा में हम कहते हैं 'डर मॉर्गन टैट'; प्राचीन अँगरेजी में दिन के लिए डेव शब्द था, ऐंग्लो सैक्सन में ऊषा (डॉन) को डैजियन कहते हैं। वेद में ऊषा के लिये एक शब्द आया है अहना। ऋग्वेद में यह शब्द एक बार (१,१२३,४) आया है। यथाः—

'गृहम्-गृहम् अहना याति अच्छा
दिवे दिवे अधिनामा दधाना
शिषासन्ति द्योत्ना शाश्वताऽज्ञात्
अग्रम् अग्रम् इति भजते वसूनाम'

अर्थात् अहना (ऊषा) प्रत्येक घर के समीप जाती है वही सबको दिन का आभास कराती है।

कर्मशीला द्योत्ना फिर वापस आती है—वह सभी वस्तुओं का प्रथम भोग करती है।'

इसके पूर्व ही ऊषा (Dawn) तथा सूर्य (Sun) के पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा हो चुकी है, परन्तु इस विषय पर अभी तक चर्चा नहीं हुई है कि 'ऊषा सूर्य की प्रेमिका है' 'वह सदैव उसके आगे आगे भागती है परन्तु अपने प्रेमी का आलिंगन पाते ही उसका विनाश हो जाता है।' आर्यों की पुराकालीन भाषा में इस प्रकार की व्यंजनाएँ अत्यधिक हैं। 'ऊषा सूर्य के आलिंगन पाश में ही मर गयी' या 'ऊषा सूर्य के आगे आगे भागती है', या 'सूर्य ने ऊषा के यान को नष्ट कर दिया' इत्यादि अभिव्यंजनाएँ केवल यह अर्थ प्रकट करती हैं कि, 'सूर्य के निकलते ही ऊषा का अस्तित्व समाप्त हो जाता है।' इन्द्र वेद का प्रमुख सौरदेव है, उसके कार्यों का वर्णन करते हुए एक ऋषि ने कहा है कि, (ऋग्वेद ४,३०) :—

हे इन्द्र ! तुमने यह पौरुष एवं दृढ़ता पूर्ण कार्य किया है। हे इन्द्र ! तुमने द्यौस की पुत्री ऊषा के ऊपर आघात किया है, जिसे त्यागना कठिन था।

हे इन्द्र ! तुम महानायक हो, तुमने द्यौस की पुत्री ऊषा को चूर-चूर कर डाला है !

ऊषा अपने रथ को छोड़ कर भागी कि कहीं वृषभ रूपी इन्द्र उसको चोट न पहुँचावे।

उसका रथ चूर-चूर हो गया और वह उतर कर भागी।'

इस उदाहरण में इन्द्र ऊषा के साथ अभद्रजनोचित व्यवहार करता है, परन्तु वेद में ही ऐसे ही वर्णन हैं, जिनमें सभी द्युतिमान देवता ऊषा को प्यार करते हैं, यहां तक कि उसका पिता भी इस प्रेम से बाहर नहीं है। ऋग्वेद में (१·११५-२) कहा गया है कि सूर्य उसी प्रकार ऊषा का पीछा करता है, जिस प्रकार पुरुष एक सुन्दरी स्त्री के पीछे भागता है, ऊषा के रथ को श्वेत वर्ण के घोड़े खींचते हैं, उसे दो अश्विन् गौरव-पूर्वक खींचते हैं' जिस प्रकार ल्यूक्रीपिडस को डिओस्कुराई (दिन-रात) ले जाते हैं।

अब यदि हम दहना शब्द को ग्रीक भाषा में लिखें या ग्रीक भाषा में अनुवादित भी करें तो ग्रीक भाषा का दफने (Daphne) शब्द हमें दिखाई पड़ता है और फिर तो उसका सारा इतिहास ही हमारी समझ में आ जाता है। दफने युवती है, सुन्दरी है—अपोलो उसको प्यार करता है। वह अपोलो के आगे-आगे भागती है तथा ज्योंही अपोलो उसे अपनी किरणों से आलिङ्गन बद्ध करता है त्योंही वह मर जाती है, वेद का ऋषि भी कहता है, 'ऊषा उसके समीप आती है, परन्तु ज्योंही वह स्वांस लेता है त्योंही वह मर जाती है, वह सशक्त देव आकाश को द्युतिमान बना देता है।' जिस किसी के भी देखने योग्य नेत्र होंगे या अनुभूति योग्य हृदय जिस किसी के भी पास होगा वही प्राचीन कवियों की भाँति दफने एवम् अपोलो को पहचान लेगा। उषा काँपती हुई सी आकाश के आर-पार चली जाती है और चमकदार सूर्य के आगमन के साथ ही वह मुरझाकर हट जाती है। इस प्रकार की अभिव्यंजनात्मक भावना केवल प्राचीन कवियों में ही ऐसा कहना भूल ही होगी। स्विफ्ट आधुनिक कवि हैं, परन्तु उसकी वाणी में ही पुराकालीन भाव दिखायी पड़ते हैं जिसे हम पुराण कालीन भाव कह सकते हैं। लार्ड हारले के विवाह के अवसर पर लिखी गयी उसकी कविता देखें :—

'इस प्रकार प्रातः काल की द्युतिमती देवी ने
एक मर्त्य को अपना जीवन साथी बनाया
देवी ने स्वयम् अपना पग आगे बढ़ाया
अन्यथा सर्वाधिक महत्वाकांक्षी नायक का भी साहस कैसे होता ?
यद्यपि पंचदशवर्षीया कुमारी की भाँति,
जब उसे एक मर्त्य ने देखा, वह लज्जारुण हो गयी
और भी लज्जारुण होकर वह शीघ्रता से हट गयी
जब सॉल ने अपनी सम्पूर्ण पिपासा से उसे देखा'

दफने का पुनर्जन्म लॉरेल के पेड़ के रूप में कैसे सम्भव हो सका यह ग्रीक विचारधारा है। ग्रीक भाषा में डाफ़िन या दफने का अर्थ पहले में कभी उषा होता रहा होगा, परन्तु कालान्तर में यह अर्थ बदल गया और इस शब्द से अब लॉरेल का ही बोध होता है। इसलिये लॉरेल का पेड़ उन लोगों के लिये पवित्र बन गया जो पूर्वकाल में दफने (उषा) के प्रेमी थे। ऐसी कथा चल पड़ी कि जब दफने ने अपनी माता से प्रार्थना की कि उसे अपोलो की ज्यादतियों से बचाया जाय तो उसे लारेल के पेड़ में परिवर्तित कर दिया गया।

इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है कि यदि वेद की सहायता न मिली होती तो दफने की समूची कथा ही समझ की सीमा के बाहर रह गयी होती, क्योंकि उत्तर कालीन संस्कृत भाषा में दफने के रहस्य को खोलने वाली कुंजी का पता ही नहीं चलता। इसी बात से यह पता चल जाता है कि तुलनात्मक पुरा-शास्त्र के लिये वेद का क्या महत्व है। निस्सन्देह बिना वेद के समूचा पुराण शास्त्र ही अनुमान के रूप में होता, साथ ही इसका न तो कोई सुरक्षित आधार ही होता और न ही इसके कोई सर्वमान्य नियम बन सके होते।[1]

यह दिखलाने के लिये हमने अपने को केवल उषा तक ही सीमित कर रक्खा है कि एक ही विचारधारा को पौराणिक भाषा में कितने प्रकार से कहा जा सकता है या कहा गया है। उषा आर्यों के पुराण-शास्त्र के लिये सबसे बड़ा स्रोत रही है। उषा से अन्य प्रकार की कहानियाँ भी निकली हैं, जिनमें शीत स्वयम् ग्रीष्म का संघर्ष, बसन्त का आगमन, प्रकृति की पुनर्जीवन प्राप्ति इत्यादि से सम्बन्ध रखने वाली गाथाएँ रात्रि और दिन के संघर्ष की गाथाओं की सम्बर्द्धन मात्र है। सौर गाथाओं के नायकों के विषय में अनेक बार कहा गया है कि आकाश में चमकने वाली उषा उनका अस्त्र है और इसकी सहायता से वे अँधेरे से लड़ते हैं। इन गाथाओं का भी स्रोत वही है। वेद में इस बात की अनेक बार चर्चा हुई है कि वृत्र ने गायों को हर लिया और इन्द्र उन्हें वापस लाये। ये गाएँ उन ओस की बूंदों के सिवा अन्य कुछ भी नहीं हैं, जो नित्य ऊषा काल में चरागाहों में घासों पर पड़ी हुई दिखाई पड़ती हैं। हम सूर्य की उन किरणों को भी गौ कह सकते हैं जो रात्रि के अन्धकार को चीर कर ऊषा काल में भूमि के कोने को प्रकाश से भर देती हैं। उन गायों के रूप में हम उन वर्षा की बूंदों को

१. इस विषय का विस्तृत विवेचन देखें 'साइन्स आव लैंगवेज' भाग २ पृष्ट ६२१

भी ले सकते हैं जो पृथ्वी को शस्यश्यामला एवम् उपजाऊ बना देती हैं। हम चमकते हुए दिन को भी गौत्रों का ही रूप मान सकते हैं जो रात्रि के तमसावृत बाड़े से धीरे-धीरे बाहर निकलता है और सायंकाल पश्चिम दिशा, फिर उस दिन को आत्मसात् कर लेती है। हम लोगों के लिये भी उषा से बढ़ कर आह्लाददायिनी वस्तु दूसरी नहीं है। फिर भी पुराकाल में मानव को भगवान ने जो कुछ दिया था, उसमें 'प्रशंसा की भावना' का एक उच्च स्थान था।

रात्रि का अंधकार मानव-हृदय को भय एवम् निराशा से भर देता है। भय एवम् दुःख की भावना उसकी एक-एक नस को कँपा देती है। मानव उस अकेले बच्चे के सदृश हो जाता है जो स्वास रोके सचिन्त मन से पूर्व दिशा की ओर देखता है जो दिन का स्रोत है और जहां से प्रकाश नित्य-प्रति निकला करता है। जिस प्रकार पिता अपने बच्चे के जन्म की प्रतीक्षा आतुरता से करता है, उसी प्रकार पुराकालीन कवि रात्रि के अन्धकार में घिर कर सूर्योदय की प्रतीक्षा करता है। इस प्रकार मानो सूर्य तमोमय रात्रि का पुत्र ही है। सूर्योदय के समय ऐसा प्रतीत होता है, जैसे स्वर्ग का द्वार धीरे-धीरे खुल रहा हो और जिसे हम द्युतिमती उषा कहते हैं, उसी के साथ-साथ नर और पशु का झुण्ड चरागाहों की ओर चल पड़ता है। हम सब लोगों ने इस वैभवपूर्ण दृश्य को देखा है और उससे आनन्दित भी हुए हैं। एक सुविस्तृत मैदान में दौड़ते हुए घोड़े के समान जब पहली किरण फूटती है तो मानो समूचा दिगन्त एक अति शुभ्र लालिमा से नहा-सा उठता है। जब बादलों पर उषा का रंग चढ़ने लगता है और इन बादलों की अरुणिमा अति दूर स्थित बादलों को भी अरुणिम बना देती है, तो केवल पूर्व ही नहीं, किन्तु पश्चिम, उत्तर एवम् दक्षिण भी या यों कहें कि अम्बर का एक-एक कोना इस प्रकाश में नहा उठता है और तब इस पृथ्वी पर रहने वाला पुजारी जैसे उसी अरुणिमा के जवाब में या उसकी लघु अनुकृति के रूप में अपनी वेदी की अग्नि को प्रज्वलित करता है। साथ ही उसके हृदय से निकले शब्दों में मानो प्रकृत्ति का स्पन्दन करता हुआ हृदय ही बोल उठता है :—

'उठो, हमारा जीवन, हमारी भावना वापस आ गयी है, तम दूर हो चुका है और प्रकाश आ रहा है।'

यदि प्राचीन काल के लोग आकाशस्थ प्रकाश के इन स्रोतों को अपने देवता के रूप में देखने लगे हों तो उषा ही तमाम देवताओं की अग्रजा रही होगी, जो चिरयुवा थी। यदि ऊषा को उदारचेता ही माना गया होता

और उसे अमरत्व न प्रदान किया गया होता तो प्रातःकाल सब को जगाने वाली उषा का सौन्दर्य भी स्थायी न हुआ होता। वह शीघ्र ही मुरझा जाती है। उसका जीवन क्षण-भंगुर है और ज्योंही प्रकाश का मुख्य स्रोत आकाश के कोने में ऊपर उठता है, त्योंही उषा का जीवन समाप्त हो जाता है। हम आज के उन्नत युग में आदिम मानव की उस अनुभूति का अनुमान भी नहीं कर सकते जो उषा के सौन्दर्य को सर्व प्रथम देख कर उसे हुई होगी। आज हमारी समझ इतनी आगे बढ़ गयी है कि हम इन सब दृश्यों को, उनके कार्य-कारण सम्बन्ध को बखूबी समझ पाते हैं। आज हम उषा को भी एक नियम, एक क्रम और एक वैज्ञानिक आवश्यकता के रूप में देखते हैं और उषा हमारे लिये तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं मालूम देती। हम वातावरण की परावर्तक शक्ति को मापने का प्रयत्न करते हैं। हम चाहते हैं कि हम यह जान जायँ कि विभिन्न देशों एवम् विभिन्न समयों में उषाकाल कितना लम्बा होता है। हमारे लिये सूर्योदय एक बच्चे के जन्म से कम आह्लाददायक नहीं है। यदि हम यह विश्वास कर सकें कि सूर्य में भी कमोबेश हमारी ही तरह का कोई प्राणी है, कि उषा में भी एक जीवात्मा है, जिससे समस्त मानव जाति को सहानुभूति है, यदि हम इन प्राकृतिक उपादानों में व्यक्तिगत, स्वतंत्र एवम् उपासनीय तत्व की कल्पना कर सकें तो सूर्योदय को देख कर हमारी भावनाएं किस प्रकार की होंगी ? हमें यह मान लेना चाहिये कि पुराकालीन ऋषियों को उस अर्थ में सूर्योदय का ज्ञान नहीं था, जिन अर्थों में हम आज सूर्योदय को मानते हैं। यदि उन्हें नित्य ही एक निश्चित समय पर सूर्योदय होने का पता था भी, तो भी वे यह अवश्य मानते थे कि ये सब के सब ज्योतिपुंज स्वतंत्र नहीं हैं, वे परतंत्र हैं तथा अपने से अधिक शक्तिशाली किसी अन्य शक्ति के आज्ञापालन में तत्पर रहते हैं। उन लोगों का यह भी विश्वास था कि इसी प्रकार के आज्ञापालन के क्रम में एक समय ऐसा भी आता है, जब ये सब एकदम स्वतंत्रता पूर्वक काम करने लगते हैं। जब हम वेद में ऐसे विचारों को पढ़ते हैं तो सचमुच वे हमें बाल कल्पना से प्रतीत होते हैं—'क्या सूर्य निकलेगा ?' 'क्या हमारी मित्र उषा फिर आवेगी ? 'क्या अंधकार की शक्ति प्रकाश के देवता से एक बार फिर पराजित होगी ? और जब वे सूर्योदय को देखते थे तो उन्हें यह सोच सोच कर आश्चर्य होता था कि एक सद्यः जात सूर्य में इतनी शक्ति कहां से आ गयी कि उसने अन्धकार रूपी सर्प को समाप्त कर दिया। वे स्वयम् अपने से तथा एक दूसरे से पूछा करते थे कि सूर्य आकाश-पथ पर कैसे चलता है ? उसके

पथ पर धूल क्यों नहीं है? वह पीछे को ढुलक क्यों नहीं पड़ता? इन तमाम प्रश्नों के बाद वे सूर्य का उसी प्रकार स्वागत करते थे, जैसे हम आज करते हैं:—

"ओ घनी रात्रि के विजेता, तुम्हारा स्वागत है"

और मानव के नेत्र इस बात को समझते थे कि वे सूर्य की तेज रोशनी को सहन नहीं कर सकते। उसके वैभव को सह लेना उनकी शक्ति से परे था, जिसे वे जीवन श्वाँस पिता तथा प्रकाशमान स्वामी मानते थे।

इस प्रकार सूर्योदय प्रकृति का उद्घाटन था जो मानव के मन में पर-निर्भरता, अपनी विवशता, आशा, आह्लाद तथा उच्चतर शक्तियों में एक अगाध विश्वास को जन्म देता था और यही विश्वास हर प्रकार की बुद्धिमत्ता का जनक तथा हर धर्म का स्रोत है। यदि सूर्योदय को देख कर मानव प्रथम बार प्रार्थना-रत हुआ तो सूर्यास्त का समय ही इस प्रकार का दूसरा अवसर था जब मानव काँप जाता था या जब उसका मस्तिष्क अनेक भद्र विचारों से भर जाता था। रात्रि की छाया आती है, अपने तमाम हास-विलास में मग्न मानव को निद्रादेवी की क्रोड़ में बरबस जाग पड़ता है, उसके मित्र अलग हो जाते हैं और रात्रि की नीरव निर्जनता में मानव का विचार एक बार फिर उच्च शक्तियों पर जा अटकता है। जब सूर्यास्त हो जाता है और पृथ्वी अन्धकार ग्रस्त हो जाती है तो मानव को उस चमकने वाले की सुधि आये बिना रह ही नहीं सकती, जिसने दिन में उन्हें अनेक सुविधाएँ प्रदान की थीं। वह स्वयम् अपने जीवन का प्रतिबिम्ब सूर्य के उदयास्त में देखता है। वह सोचता है कि वह सोने जा रहा है, सम्भव है कि उसका मित्र (सूर्य) फिर कभी न निकले। इस प्रकार उसके मन में यह विचार उठना स्वाभाविक ही है कि उसको भी जीवनान्त में उसी पश्चिम दिशा में जाना है, जिसने सूर्य को उसके मित्र को आत्मसात् कर लिया है; शायद उसके पूर्व मरने वाले भी वहीं गये हों, जहाँ तमाम बुद्धिमान व धार्मिक व्यक्ति जाकर नवजीवन प्राप्त करते हैं और यम तथा वरुण के साथ आनन्द मनाते हैं। यह भी सोच सकना सम्भव था कि सूर्य अल्पावधि-जीवी नाटक नहीं है, क्योंकि मानव की पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ समाप्त होती जा रही हैं, परन्तु सूर्य तो सदैव निर्बाध गति दे इसी प्रकार उदय एवम् अस्त के बीच चक्कर काटता रहता है। इस प्रकार वे सूर्य को चिरयुवा, अपरिवर्तन-शील और सदा एक सा रहने वाला भी मानने लगें तो क्या आश्चर्य है? क्योंकि सूर्य तो सदा उदय एवम् अस्त के बीच चक्कर लगाता रहता है

और इधर मानव की पीढ़ी पर पीढ़ी समाप्त होती जाती है। इसी प्रकार मानव के मन में सर्वप्रथम अमरत्व एवम् अमर की भावना उत्पन्न हुई होगी। उन्होंने सोचा होगा कि मानव तो जन्म लेता है, युवा और वृद्ध होकर मर जाता है, परन्तु यह सूर्य न तो कभी वृद्ध होता है और न कभी मरता ही है। यही देख-देखकर मानव के मन में यह बात आयी होगी कि सूर्य मरता नहीं, वह तो केवल छिप भर जाता है। ऐसी स्थिति में यह अमर सूर्य से फिर से आने की प्रार्थना करता है। दिन का देवता अर्थात् सूर्य ही काल (समय) का देवता हो गया, जीवन का देवता हो गया तथा मृत्यु का भी देवता हो गया। अब तनिक सोचिये कि प्रातःकाल की उषा की भगिनी की भांति सांध्यवेला की भी स्थिति है, मानो सायंकाल में उषा ही एक बेर फिर लौट आयी हो। इसी एक बात को लेकर पुराकालीन कवि के हृदय में कितनी ही भावनाएँ उठी होंगी और अपनी उस पुराकालीन भाषा में तद्वद-भावना में विभोर होकर कितनी कविताएँ न निकली होंगी। उसने सोचा होगा कि यह सांध्यवेला की अरुणिमा कहीं उसी उषा की तो नहीं है जो प्रातःकाल तनिक-सी दिखाई देकर अन्तर्दित हो गयी थी और अपने उस प्रेमी को अन्त समय में दर्शन देने आयी थी, जिसे देखते ही प्रातः-काल में वह अंतर्दित हो गयी थी। उसके मन में प्रश्न उठा होगा कि क्या यह वही अमरा देवी तो नहीं है जो नित्य दोनों ही समय दर्शन देती है और नित्य मृत होता हुआ जान पड़ने वाला सूर्य कहीं अमर तो नहीं है। या कहीं वह स्वयम् मर्त्य तो नहीं है जो एक अमर को प्यार करती है और इसी लिये संध्याकाल में उसे विदा-संदेश देने को प्रगट होती है ?

आइये हम इन्हीं दृश्यों को प्राचीन (पुराण) भाषा में प्रगट करें। ऐसी स्थिति में हम चारों ओर से अपने को पुराण-शास्त्र, विरोधाभाष एवम् क्रमहीनता से घिरा पावेंगे। क्योंकि वही वस्तु कभी अमर है, तो कभी मर्त्य; कभी स्त्री है, तो कभी पुरुष। वास्तविकता यह है कि एक ही दृश्य या वस्तु को देखने वालों ने विभिन्न दृष्टिकोण से देखा और उसे अपनी ही विचार शैली में प्रस्तुत किया और यही विचित्रता प्रकृति के रहस्यमय कार्य व्यापार की अभिव्यंजना की कुंजी है।

सूर्य एवं उषा के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाली एक कथा वेद में भी पायी जाती है। नश्वर एवं अविनाशी के प्रेम को अभिव्यंजित करने वाली साथ ही प्रातःकाल एवं सायंकाल की गोधूलि वेला को स्पष्ट करने वाली एक कथा है, जिसे हम उर्वशी एवं पुरुरवा की कथा कहते हैं। हिन्दुओं के लिये

उर्वशी एवं पुरुरवा व्यक्तिवाचक संज्ञाएँ हैं। स्वयम् वेद में उनका मौलिक अर्थ लुप्त हो गया है। ऋग्वेद में उर्वशी एवं पुरुरवा के बीच एक वार्तालाप दिया गया है, जिसमें उर्वशी को भी एवं पुरुरवा को भी व्यक्ति के रूप में दिखाया गया है। कालिदास ने भी अपने नाटक में इन्हें व्यक्ति रूप में ही चित्रित किया है। ऐसी स्थिति में प्रथम तो हमें यही सिद्ध करना है कि उर्वशी एक गुणवाचक संज्ञा थी, जिसका प्रयोग उषा के लिये हुआ है।

उर्वशी शब्द की व्युत्पत्ति का पता लगाना कठिन है। इसका मूल 'उर्व' तो हो नहीं सकता, क्योंकि उर्व जैसी कोई धातु संस्कृत में नहीं है और यदि उर्व के अन्त में श लगाकर रोमश अथवा युवश शब्द की भाँति उर्वश शब्द बनावें तो भी ठीक नहीं लगता। अतः इस शब्द की व्याख्या के लिये हम भारतीय विचारधारा को ही ग्रहण करेंगे, जिसके अनुसार यह शब्द उरु शब्द से निकला है, जिसका अर्थ होता है 'विस्तृत' (ग्रीक शब्द यूरू)। इसको यदि अस् (छा जाना, होना) धातु में मिलाया जाय तो उरूअशी शब्द बनाता है। यदि उषा के लिये प्रयुक्त होने वाले एक दूसरे शब्द उरुची (जो उरुच् शब्द का स्त्रीलिंग रूप है जिसका अर्थ होता है दूर तक जाने वाला) से इसकी तुलना करें तो इसका तात्पर्य कुछ समझ में आ जाता है। वास्तव में उषा में यह विचित्रता है कि वह समूचे आकाश पर चक्कर काटा करती है और इस बात में यह अन्य ज्योतिर्मय आकाशस्थ पिंडों से भिन्न है। उसके घोड़े विचारों के समान तेज दौड़ते हैं। इसी लिये संस्कृत में उरु से तथा ग्रीक में यूरु से उर्वशी शब्द सिद्ध होता है और यह नाम उषा के लिये पुराणशास्त्र का सर्वाधिक प्राचीन नाम है। पृथ्वी के लिये भी यही बात सत्य होती है, परन्तु पृथ्वी के लिये यह नाम तभी प्रयोग में आ सकता है जब उसे द्युतिमान् देवता के रूप में माना जाय। उषा के लिये विभिन्न भाषाओं में जो शब्द हैं, उनमें ग्रीक भाषा का यूरीफीस एक शब्द है जो सूर्य (होलियॉस) की मां के अर्थ में प्रयुक्त होता है; यूरीकाइड या यूरीपाइल एण्डेमियन की पुत्री है, यूरीमीड ग्लौकस की स्त्री है यूरीनोम चरितस् की माँ है तथा यूरीडाइक आर्फियस की स्त्री है। इन चरित्रों के विषय में कभी सुविधानुसार चर्चा होगी। वेद में शायद ही उषा की चर्चा किसी ऐसे सन्दर्भ में हुई हो जहाँ उसका दूर-दूर तक फैलने वाले गुण का बोध न होता हो। देखें :— उर्विया विचक्षे (जो दूर-दूर तक देखती हो), उर्विया विभाति (वह दीर्घ-विस्तार में चमकती है), वरीयसी (विस्तृततम्); इसके विपरीत सूर्य के

प्रकाश के लिये ऐसे विशेषण आये हैं जिनका अर्थ होता है दूर तक फैलने वाला, दूर तक कूदने वाला इत्यादि।

यदि हम उर्वशी के नाम का विचार न भी करें तो कितने ही सूचक तथ्य ऐसे हैं जो यह निर्देशित करते हैं कि वास्तव में उर्वशी शब्द का प्रयोग प्राथमिक रूप से उषा के लिये ही होता था और उर्वशी ही सूर्योदय-काल की देवी थी। वशिष्ठ को हम मुख्यतया वैदिक ऋषि के ही रूप में जानते हैं परन्तु यह शब्द वसु शब्द का रूप है जिसके अर्थ होते हैं चमकदार। इसके हिसाब से सूर्य भी एक वसु ही है। हुआ यह कि अत्यधिक गौरवपूर्ण ऋषि के लिये वही नाम अच्छा या सर्वाधिक उपयुक्त समझा गया जो वस्तुतः सूर्य के लिये प्रयुक्त होता था। वशिष्ठ को मैत्रावरुण कहते हैं अर्थात् वह मित्र एवं वरुण के पुत्र हैं जो क्रमशः दिन व रात्रि के देवता हैं। इस प्रकार वशिष्ठ का वही अर्थ होता है जो सूर्य का। सूर्य को उषा का पुत्र कहते हैं, अतः यह कहा जाता है कि (ऋग्वेद ७.३३,११) वशिष्ठ भी उर्वशी के ही पुत्र हैं। हेसियाड में जो कथा दी गयी है, उसके अनुसार एफ्रोडाइट (प्रेम का देवता) एवं वेद के वशिष्ठ में अद्भुत साम्य है।

वेद में उर्वशी के वर्णन में जितनी विशेषताएँ दिखायी गयी हैं वे सब की सब वस्तुतः उषा की ही विशेषताएँ हैं। इस प्रकार भी उर्वशी उषा का ही प्रतिरूप मालूम होता है।

उषा के लिये कहा गया है कि वह मानव की आयु में वृद्धि करती है। यही बात उर्वशी के लिये भी (५.४१,१९ तथा १०.९५, १०) कही गयी है। वेद में एक अंश (ऋक् ४.२,१८) ऐसा भी है जहाँ उर्वशी शब्द को बहुवचन रूप में भी प्रयुक्त किया गया है। उषसः शब्द से ऐसा प्रतीत होता है, जैसे कई उषा हों। इस विवरण में उषा को दिन के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है जो वस्तुतः मनुष्य की आयु में वृद्धि करता है। इससे प्रतीत होता है कि उस समय तक उषस् शब्द के गुणवाचक अर्थ को लोग भूले नहीं थे। फिर उसके लिये अन्तरिक्षप्रा कहा गया है, जिसका अर्थ होता है 'वायु को भरने वाला।' सूर्य को बृहद्दिवा भी कहा गया है। ये सभी बातें सिद्ध करती हैं कि उषा को उस समय इसी रूप में देखा जाता था। वास्तव में उर्वशी एवं पुरुरवा की कथा का पूरा अर्थ तभी प्रगट होता है जब उन्हें उषा तथा सूर्य के रूप में मान लिया जाय। इस बात को सिद्ध करने की आवश्यकता ही नहीं हैं कि पुरुरवा एक सौरनायक है, जिसमें प्रकाश की बहुलता है। संस्कृत में एक धातु है रव्, जिसका मौलिक अर्थ हुआ करता था 'ध्वनि करना'।

एक अन्य धातु है रु जिसका मौलिक अर्थ होता था 'चिल्लाना या रोना' परन्तु रु धातु रंग के अर्थ में भी प्रयुक्त होती है जैसे गहग रंग अर्थात् चिल्लाता हुआ रंग अर्थात् 'लाल' (जैसे रुवर, रुफस लिथु० रौदा, ओ० हा० ज० रॉट, रुधिर, ग्रीक में रुफ्रॉस, संस्कृत में रवि)। इसके अतिरिक्त पुरुरवा अपने को वशिष्ठ कहता है, जो हमारे ज्ञानानुसार में सूर्य का एक नाम है। उसे हम ऐड़ भी कहते हैं जो इड़ा की अपत्यवाचक संज्ञा है। ऋग्वेद ३.२६,३ में यही नाम अग्नि के लिये भी आया है। यजुर्वेद के ब्राह्मण में प्राचीनतम रूप में यह कथा इस प्रकार कही गयी है :—

"उर्वशी एक जाति विशेष की परी है, जो इड़ा के पत्र पुरुरवा को प्यार करती है। वह जब पुरुरवा से मिली तो उसने कहा, 'दिन में आप मुझे केवल तीन बार आलिंगन में ले सकते हैं, किन्तु कभी भी मेरी इच्छा के विरुद्ध आप मुझे आलिंगनपाश में न लें। साथ ही यह भी स्मरण रक्खें कि आप मेरे नेत्रों के आगे सदा अपनी राजसी पोशाक में ही आवें, क्योंकि स्त्रियों के समक्ष आने का यही ढंग है।' इस प्रकार उर्वशी उसके साथ चिरकाल तक रही और उसके एक पत्र भी पैदा हुआ। तब उसके पूर्व साथी गन्धर्वों ने आपस में विचार किया, "अब यह उर्वशी पर्याप्त दिनों तक मर्त्यों के बीच रह चुकी है। अब हमें कुछ ऐसा करना चाहिये कि वह वापस आ जाय।" एक भेंड़ के दो बच्चे थे जिनमें से एक उर्वशी तथा दूसरा पुरुरवा के पलँग से बँधा रहता था। गन्धर्वों ने उर्वशी वाला बच्चा चुरा लिया। इस पर उर्वशी ने पुरुरवा से कहा कि "मेरा मेमना ऐसे खो गया जैसे मैं एक मर्द एवम् नायक-विहीन राज्य में रहती हूँ।" दूसरे ही दिन दूसरा मेमना भी चोरी चला गया। तब उर्वशी ने अपने पति की और भी भर्त्सना की। तब पुरुरवा ने कहा, "जिस देश में मैं स्वयम् रहता हूँ वह देश मर्द एवम् नायक-विहीन कैसे हो सकता है ?' इतना कहकर वह नंगे बदन ही बिस्तर से निकल पड़ा। उसने सोचा कि पूरा कपड़ा पहनने में उसे बड़ी देर हो जायेगी, रात्रि का अंधकार था। राजा ने सोचा की उर्वशी उसे देख तो पायेगी नहीं परन्तु गन्धर्वों की माया से उसी समय बिजली चमकी और उर्वशी ने पुरुरवा को देख लिया। उर्वशी उसी समय 'मैं वापस आती हूँ' ऐसा कहती हुई वहाँ से गायब हो गयी। राजा ने उसे गायब पाकर बड़ा दुःख किया और कुरुक्षेत्र के समीप जाकर रहने लगा। वहाँ अन्यतलपक्ष नाम की एक झील है जिसमें कमल के फूल खिले रहते थे। एक दिन जब राजा उस झील के किनारे टहल रहा था तो उसने अनेक चिड़ियों को झील में नहाते देखा। वे वास्तव में पक्षी-वेष

लखनऊ
क्रमांक 3113
प्राप्ति तिथि 14-2
State Museum, Library, Lko.

धारिणी परियाँ ही थीं। उर्वशी ने राजा को पहचान लिया और कहने लगी, "यही वह आदमी है, जिसके साथ मैं इतने दिनों तक रही।" तब उसके मित्रों ने कहा, आवो, उसके सामने हम अपने वास्तविक रूप में प्रगट हों।" उर्वशी राजी हो गयी और सभी परियाँ अपने वास्तविक रूप में उसके सामने प्रकट हो गयीं। राजा ने उर्वशी को पहचान लिया और कहा, "हे मेरी धर्मपत्नी, तुम्हारा दिल बड़ा कठोर है, तुम रुको और हमसे थोड़ी बातचीत कर लो। यदि आज हम अपने हृद्गत भावों को न कह-सुन लेंगे तो सम्भव है, भविष्य में हमें फिर अवसर न मिल सके।"

उर्वशी ने उत्तर दिया, "मैं आपकी बात सुन कर क्या करूँगी ? मैं आपके संसार से उसी प्रकार चली गयी हूँ जैसे प्रथम उषा चली जाती है। हे राजन्, आप घर जाइये। जिस प्रकार हवा को नहीं पकड़ा जा सकता, उसी प्रकार मुझे भी नहीं पकड़ा जा सकता।"

राजा ने निराशा पूर्वक कहा, "तो तुम्हारे पूर्व प्रेमी का पतन होगा, भले ही वह बहुत दूर चला जाय। इससे अच्छा है कि वह मर जाय और उसकी मृतदेह को भेड़िये खा जायँ।"

उर्वशी ने उत्तर दिया, "हे पुरुरवा, आप मरें नहीं, आप गिरें नहीं, आप को भेड़िये जैसे बुरे पशु न खायँ। स्त्री की मित्रता का कोई मूल्य नहीं है। उनका दिल भेड़ियों का सा होता है। जब मैं मर्त्यों के रूप में उनके बीच रहती थी, जब मैं आपके साथ रहती थी तो दिन भर में थोड़ा-सा मक्खन खाती थी परन्तु आज भी उन दिनों की याद करके मुझे आनन्द मिलता है।"

इस प्रकार अन्त में उर्वशी का दिल पसीज गया और उसने कहा, "वर्ष की अन्तिम रात्रि को आप मुझसे एक बार फिर मिलें और तब हम दोनों रात भर साथ-साथ रहेंगे; फल स्वरूप तुम्हें एक पुत्र मिलेगा।" राजा वर्ष की अन्तिम रात को उर्वशी के नगर मे गया। वहाँ वे दोनों रात भर साथ रहे। रात में ही उर्वशी ने पुरुरवा को बताया कि "सुबह गन्धर्व गण आप को एक मनचाहा वरदान देंगे तो आप उस समय मनमाना वरदान माँग लीजियेगा"। राजा ने कहा, "तुम्हीं तै करो कि मैं क्या मागूँ।" उर्वशी ने सुझाया, "आप यह मांग लें कि आप को भी गन्धर्वों मे ही रहने दिया जाय।" दूसरे दिन सुबह सचमुच ही गन्धर्वों ने राजा से वर माँगने को कहा और जब राजा ने उर्वशी के सिखाये अनुसार वर माँगा तो उन्होंने कहा, "अभी तक मानव जाति को यज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली अग्नि

का पता नहीं है, जिससे वे यज्ञ करके हमारे बीच रहने के योग्य हो सकें।" इसके पश्चात् उन्होंने पुरुरवा को बहुत सी बातें सिखाईं और अनेक यज्ञादि के पश्चात् वह भी गन्धर्व हो गया।

ब्राह्मणग्रंथ में कही गयी यह एक अति सामान्य कथा है। इस कथा को एक अद्भुत यज्ञ का महत्व दिखाने के लिये कहा गया है जिसमें यज्ञकाल में संघर्षण की क्रिया द्वारा अग्नि उत्पन्न की जाती थी। इस कथा द्वारा यह भी दिखाया गया है कि अग्नि का उत्पादन सीख लेने के पश्चात् मर्त्य मानव अमर-श्रेणी में पहुँच जाता है। इस कथा में जिन छंदों का प्रयोग हुआ है वे ऋग्वेद के हैं। ऋग्वेद में इसी प्रसंग में हमें दोनों प्रेमियों की वार्ता भी मिलती है। यह वार्ता कुल सत्रह छन्दों में है, जिसमें केवल १५ छन्द ही ब्राह्मणग्रंथकार को मालूम थे। उद्धरित छन्दों में से एक में उर्वशी कहती है, 'जिस प्रकार उषाओं में से प्रथम उषा चली जाती है, वैसे ही मैं भी सदा के लिये चली गयी हूँ।" उर्वशी के इस कथन में कवि पौराणिक कथा के उस अंश से प्रभावित-सा दीखता है, जिसमें कहा गया है कि मेम्नान् की माँ ने अपने पुत्र के शव पर जो आँसू गिराये थे वेही बूंदें प्रातःकालीन ओस की बूंदें बन गयीं। परकालीन कवियों ने भी इस रूपक को अपने काव्यों में स्थान दिया है। चतुर्थ श्लोक में उर्वशी कहती है कि "हे उषस् जब मेरा उस राजा से व्याह हुआ था तो मैं इसके घर पर गयी, जहाँ दिन-रात यह मुझे अपने आलिंगन-पाश में बाँधे रहता था।" आगे चलकर वह पुरुरवा से कहती है कि पुरुरवा का जन्म ही इसलिये हुआ था कि संसार से अन्धकार का नाश हो जाय और चारों ओर प्रकाश का साम्राज्य फैले। यहां पर अन्धकार का नाश करने के लिये 'दस्युहत्याय' शब्द प्रयुक्त हुआ है। दस्यु-हत्या का कार्य पुराणशास्त्र की परम्परा के अनुसार इन्द्र द्वारा सम्पन्न हुआ है जो स्वयं एक सौर-नायक है। उर्वशी के सहेलियों के जो नाम दिये गये हैं उनसे भी यही प्रतीत होता है कि उर्वशी उषा का ही प्रतिरूप है। पुरुरवा कहता है "जब मुझ-जैसे मर्त्य ने उर्वशी-जैसी अमर्त्या की सखियों को प्यार पूर्वक अपनी बाहों में लिया, तो वे कांप कर दूर हट गये।"

जितनी बार उषा को मानव-मित्र कहा गया है, उतनी बार किसी भी अन्य देव या देवी को मानव-मित्र के रूप में स्मरण नहीं किया गया है। उषा 'प्रत्येक घर में जाती है (२१·१२३, ४), 'वह मानव के निवास स्थान की

बात सोचती है' (१,१२३, १); वह बड़ों व छोटों को समान रूप से प्यार करती है' (१,१२४, ६); 'वह धन देती है' (१-४८,१); 'वह सदैव स्वर्गीया है एवम् अमर्त्य है (१,१२४,४;१. १२३, ८); 'वह चिर-युवा देवी है परन्तु मानव को वृद्धत्व प्रदान करती है' (१,९२,११); इस प्रकार पुरुरवा उर्वशी को 'मर्त्यों के बीच अमर्त्य' कहा है। अन्तिम श्लोक में वह अपनी प्रिया को इन शब्दों में सम्बोधित करता है "मैं सर्वाधिक प्रकाशमान् (सूर्य) हूँ, मैं उर्वशी को ग्रहण करता हूँ जो वायु से रिक्त स्थानों को भी भर देती है, जो आकाश को फैलाये हुए है। तुम्हारी दया दृष्टि मुझ पर हो, तुम वापस आवो, मेरा मन तुम्हारे बिना जल रहा है।'

इसके अनन्तर कवि का कथन है "हे इड़ा के पुत्र, इस प्रकार देवता लोग तुमसे सम्भाषण करते हैं ताकि तुम मर्त्य से अमर्त्य बन सको। तुम्हारी जाति के लोग बलियों से देवगण की उपासना करें। तब और तभी तुम यहाँ गंधर्व देश में सुख से निवास कर सकते हो।"

हमें यह बात निश्चयपूर्वक मान लेना चाहिये कि वेद के वक्ता ऋषिगण उर्वशी एवम् पुरुरवा के वास्तविक व्यक्तित्व से उसी भाँति अपरिचित थे, जिस प्रकार होमर टिथोनस के व्यक्तित्व से अपरिचित था, भले ही वह इओस का वास्तविक तात्पर्य जानता रहा हो। उनके लिये वे चरित् नायक ही थे, उनका व्यक्तित्व अपरिमित था, वे मानव होते हुए भी मानवेतर थे, देवता होते भी देवता नहीं थे। परन्तु हमारे लिये, उनका वास्तविक अर्थ स्पष्ट है, यद्यपि वे समय के विचार से हमसे अत्यधिक दूरी पर हैं। वर्ड्सवर्थ का कहना है :—

"आह्लादपूर्वक मैं तुम्हें आकाश पर चढ़ते हुए देखता हूँ
अपने उन्मुक्त वैभव से सम्पन्न एवम् धुँधलके से निकलते हुए—"

प्राचीन जन नंगे सूर्य की बात करते थे और कहा करते थे कि जब उषा अपने पति को देखती है तो लज्जारुण होकर अपने मुँह को छुपा लेती है। फिर भी वह कहती है कि वह फिर प्रगट होगी। जब दिन भर सूर्य उसे खोजते-खजते थक कर मृत्यु की मसृण दाढ़ों में पहुँच जाता है तो उषस् फिर (सायंकाल में प्रगट होती है। होमर के अनुसार भी दिन का प्रारंभ भी इओस से ही होता है और अन्त भी। अन्त में उषस् सूर्य को अमरों की सुनहरी आसकी पर ले जाती है।

मैंने इस अंश को यह दिखाने के लिये उद्धृत किया है कि किस प्रकार पुराकालीन भाषा का प्रतिबिम्ब पराकालीन कविता में दिखायी पड़ता है और किस प्रकार प्रकृति के इस सामान्य दृश्य ने कवि-कल्पना को प्रभावित

किया था। इसी कथा के माध्यम से कवियों ने अपनी हृद्गत भावनाओं को जनता के समक्ष रक्खा था। मानव मन जब तक अपनी कड़वाहट को ही जानता है वह शान्त रहता है; वह न तो अपने प्रेम की बात करता है न ही अपनी क्षति की चर्चा करता है। अकेले का दुःख भी एक मूक काव्य है, किन्तु नेमोसाइन (विगत की स्मृति की देवी) स्वयम् म्यूज (गायन की देवी) नहीं हैं यद्यपि वह कवियों एवं इसीलिये काव्य की जननी अवश्य हैं। वास्तव में काव्य जगत् का स्रष्टा जब परकीय दुःख के आवेग से दुखित होता है तब उसके मनोमय राज्य में कविता की प्रेरणा जगती है और उसका निराशाग्रस्त दुःख वाणी में अभिव्यंजित होता है। वास्तव में काव्य की जननी है सहानुभूति। जब कवि की हृद्गत भावनाएँ अपने चतुर्दिक् फैले संसार में अपना जोड़ नहीं पातीं तो वे प्रकृति की ओर मुड़ जाती हैं। प्राचीन कवियों को प्रकृति का सान्निध्य ही अधिक मिला था। अतः उनकी कोमल भावनाएँ प्रकृति के माध्यम से ही अपने को अभिव्यंजित करती थीं। उसने अपनी अन्तर की पीड़ा की अनुरूपता प्रकृति में ही पाया था। जब रात्रि के घनान्धकार के पश्चात् भगवान् सूर्य का प्रकाश चतुर्दिक् फैल जाता था तो उसे उसमें अपने हृदय के उस प्रकाश की अनुकृति दिखायी पड़ती थी, जो एक बार उसके हृदय में आकर सदा सर्वदा के लिये उससे अलग हो गया था। उसने जब भी सूर्य को उषा का चुम्बन लेते हुए पाया तो उसे अपने उन आनन्ददायक क्षणों की स्मृति हो आयी जो एक बार उसके जीवन में आकर उससे सदा सर्वदा के लिये अलग हो गये थे। जब उषा काँप कर पीली पड़ गयी और अंतर्हित हो गयी और फलस्वरूप सूर्य अपने सहस्र नेत्रों से उसे खोजने निकला तो कवि को उसमें अपने हृदय की अनुभूति की प्रतिकिति दिखायी पड़ी और उस विरहविदग्ध सूर्य की सहानुभूति में जो वाणी उसके मुख से प्रस्फुटित हुई, उसमें मानो उसके हृदय का सारा दुःख बह गया, भूल गया। वास्तव में कविता की जन्मदात्री यही सहानुभूति की भावना ही है। संध्या की मोहकता का भी यही रूप है। दिन भर प्रिया की खोज में रत रहकर थकित सूर्य जब अपने दैनिक जीवन के अन्त काल में आ पहुँचता है और पश्चिम दिशा में अस्त हो जाने (मर जाने) को तैयार होता है, तो सहसा दिग्दिगन्त एक अरुणाभा से प्रकाशित हो उठता है और उषस् पुनः प्रगट होती है। उस समय उसके दुःखाधिक्य से उसका म्लान सौन्दर्य मानो द्विगुणित हो उठता है। ऐसी स्थिति में कवि हृदय उसे तब तक देखता है जब तक उषस् के सौन्दर्य की क्षीणतम् आभा भी दिखायी

पड़ती रहती है। क्या उषा की अन्तिम प्रभा उसके कवि हृदय में भावनाओं को जन्म देने में सक्षम नहीं है? क्या उसके जीवन में, उसके हृदय में सूर्य के पुनरावर्तन को देखकर वह आशा बलवती नहीं हो सकती कि एक दिन (किसी भी दिन) ऐसा भी आवेगा जब स्वयम् उसका भी पुनर्जन्म होगा और तब वह फिर उन आनन्दों को भोग सकेगा जो आज उससे सदा के लिये अलग हो चुके हैं? क्या वह ऐसी आशा नहीं कर सकता कि सूर्य की भांति उसका भी पुनर्जन्म होगा और तब वह उन आनन्दों को पुनः प्राप्त कर सकेगा जो उसके जीवन से सर्वदा के लिये अलग हो गये से दिखायी पड़ते हैं।

"यहाँ एक वैभव पूर्ण ज्योति है जो क्षणभंगुर है,
जो उषाकाल में पूर्व में प्रज्वलित होती है;
प्रायः मेरी आत्मा उसे देख कर उत्साहित हो उठती है,
जब निद्रा की कारा से मुझे मुक्ति मिलती है।"

जो देख सकते हैं, सोच सकते हैं उनके लिये प्रकृति में भी बड़ा दुःख है। प्रकृति की दुःख पूर्णता ही संसार के सभी दुःखान्त काव्यों का मूल है। पुराकालीन अधिकांश दुःखात्मक काव्य इसी प्रकार की भावना से निःसृत हुए होंगे। संसार की जितनी भी दुःखान्त कथाएँ हैं, उनका प्रेरणास्रोत यही रहा है चाहे वे कथाएँ हों, वाल्डर सम्बन्धी हों या सिगार्ड, सीफ्रिट, एकिलस, मिलीगर, केफ़ालस से सम्बन्धित हों, सब की सब कहानियों मे नायक को अकाल ही मृत्यु की शान्तिदायिनी गोद में सुलाया गया है और सूर्य की दुःखात्मकता से ही इस प्रकार की अभिव्यंजना की प्रेरणा उन्हें मिली होगी। इन विभिन्न कथाओं में स्थानीय भेद-भाव भले ही आ गया हो, परन्तु इन सभी कथाओं की आत्माएँ समान ही हैं। सूर्य की दो प्रकार की मृत्यु मानी गयी है। एक मृत्यु तो उसकी दैनिक ही है। दूसरी मृत्यु शीत के प्रारम्भ में मानी जाती है। इन सौरनायकों का भाग्य अटल है और यह अचलता प्रकृति की देन है। इन नायकों की मृत्यु सदैव ही उनके घनिष्ठ मित्रों की दुरभिसंधि के ही कारण हुई है। सूर्य उषस् को छोड़ देता है और स्वयम् दिन के अन्त में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उसकी इस मृत्यु से समस्त प्रकृति शोकाकुला हो जाती है। एक विकल्प यह भी है कि सूर्य वसन्त का सूर्य है, जो पृथ्वी को प्रेम करता है, फिर उसे छोड़ कर स्वयम् ठंढा हो जाता है और अन्त में शीतऋतु के हाथों मृत्यु का आलिंगन करने को विवश हो जाता है। यह एक प्राचीन कथा है परन्तु संसार के पुराणशास्त्र एवम् पौराणिक कहानियों में इसे चिरनवीनता

प्राप्त हो गयी है। इस प्रकार बाल्डर, स्कैण्डिनेविया की एद्दा कथाओं में, जो सिगर्ड एवम् सीफ्रिट का प्रतिरूप है, उसे समस्त संसार प्यार करता है। देवता हों या मानव, समस्त प्रकृति, संसार में जो कुछ जन्म, वृद्धि एवम् मृत्यु की दशाओं को क्रम-क्रम से प्राप्त करने वाली हैं, वे सबकी सब मानो उसकी मां के प्रति वचन बद्ध हैं कि वे उस चमकीले नायक को अवश्य ही प्यार करेंगे। मिसलटो एक ऐसी वस्तु है जो भूमि पर नहीं उगती वरन् पेड़ों पर उगती है, उसे भुला दिया गया है फलतः जाड़े की ऋतु के आरम्भ के साथ ही इसी के साथ सूर्य की मृत्यु हो जाती है :—

"अतः फर्श पर बाल्डर मृत हो रहा, तथा उसके चतुर्दिक,
पड़े थे तलवारें, कुल्हाड़ियाँ, वाण, भाले
जिन्हें क्रीड़ा वश हो सभी देवों ने फेंका था
बाल्डर की ओर, जिसे कोई भी शस्त्र घायल नहीं कर सकता था :
किन्तु उसके सीने में चुभी खड़ी थी सांघातिक शाखा
मिसिलटो की, जिसे वादी लॉक ने दिया था
होडर को, और होडर ने फेंका था :
क्योंकि अकेले उसी के लिये बाल्डर के जीवन का कोई आकर्षण न था।"

ठीक इसी प्रकार फारसी वीर काव्य में इस्फन्दियर पर किसी शस्त्र का आघात नहीं लग सकता था, फिर भी उसकी मौत एक कांटे से होनी थी, जिसे रुस्तम ने एक वाण के रूप में उसकी ओर फेंका था और वह काँटा उसकी आंख में जा लगा था। रुस्तम भी केवल अपने भाई के ही हाथों मर सकता था। हेराकिल्स उसका भाई था। ये सभी आख्यायिकाएँ संसार की दुःखान्त कथाओं के सौररूप में ही हैं। प्रकृति को दो स्पष्ट विभाजनों में बाँट दिया गया था। एक विभाजन तमस्, शीत, और मृत्यु पूर्ण था तथा दूसरा विभाजन प्रकाश, उष्णता और जीवन-पूर्ण था। एद्दा में सौरनायक के रूप में हम सिगर्ड को देख सकते हैं जो ओडिन का वंशज है, फनीर नामक सर्प को मारता है तथा उस कोष को अधिकृत करता है जो अन्ड्वारी नामक बौने द्वारा अभिशप्त है। यह कोष निबेलंग्ज का है अर्थात् यह पृथ्वी का वह कोष है, जिसे रात्रि एवम् शीत की शक्तियों ने पृथ्वी से छीन लिया था। जलता हुआ, उत्तप्त सूर्य उस खजाने को वापस लाता है, और पृथ्वी एक बार फिर से शस्यश्यामला हो उठती है। जिस प्रकार डेमेटर अपनी कन्या को पाकर धन्य हो उठता है उसी प्रकार पृथ्वी अपने वसन्त कालीन शोभा से धनवती हो उठती है। एद्दा के अनुसार तब वह ब्रिन्हिल्ड को मुक्त करता है, जो ओडिन द्वारा फेंके गये कांटे

से घायल होकर जादुई निद्रा में पड़ी रहती है और जो सिगार्ड के प्रेम से पुनः जगती है, जैसे जाड़े के समय में मोहनिद्रा में पड़ी हुई प्रकृति वसन्तऋतु में फिर नवयौवना हो उठती है। परन्तु वसुपति (उस कोष का स्वामी) भाग्य द्वारा आगे भेज दिया जाता है, जहाँ वह ब्रिन्हिल्ड को वह अंगूठी दिखाता है जो उसे उक्त कोष से मिली थी। इसके बाद उसे आगे जाना ही है। जब वह गुनार की गढ़ी तक पहुँच जाता है तो गुनार की स्त्री ग्रिम्हिल्ड ऐसा कुछ करती है कि वह ब्रिनहिल्ड को भूल जाता है और वहीं वह गुनार की लड़की गुड्रन से ब्याह कर लेता है। उसकी गति इसके पूर्व से ही निम्नाभिमुखी हो गयी रहती है। वह गुनार के प्रति बाधित है और इसके परिणाम स्वरूप वह विवश है कि अपनी भूतपूर्व स्त्री ब्रिनहिल्ड को वह गुनार के हेतु जीत ले। फलतः गुनार ब्रिन्हिल्ड से ब्याह कर लेता है। इस कथा में गुनार अंधेरे का प्रतिरूप ज्ञात होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सबमें जाग्रति उत्पन्न करने वाली वसन्त ऋतु जाती रहती है और उसे गुनार ले जाता है, जिस प्रकार प्रासर्पिना को प्लूटो तथा सीता को रावण ले जाता है। गुडरन ग्रिमहिल्ड की पत्री है। कभी-कभी उसे ग्रिमहिल्ड कहा जाता है। वह कृष्णवर्णीय गुनार की बहन है। उसका ब्याह यद्यपि शुक्लवर्णीय सिगर्ड से हुआ है, परन्तु वह स्वयम् प्रभामय देश की है। गुनार ने सिगर्ड को विवश किया है कि वह ब्रिन्हिल्ड को उसके लिये छोड़ दे, अब वहीं अपने ही कुटुम्बी की हत्या के लिये षड्यंत्र करता है क्योंकि ब्रिनहिल्ड को पता लग जाता है कि सिगर्ड उसका भूतपूर्व प्रेमी ही है। वह बदला लेने को तुल जाती है। होग्नी अपने भाई गुनार को हत्या से विरत करने का प्रयास करता है, परन्तु अन्त में उसका तीसरा भाई गुडहार्म सिगर्ड को उस समय मार डालता है, जबकि वह शीतायन में शयनरत रहता है। ब्रिनहिल्ड का उस पर सदैव से ही प्यार रहा है और उसके मर जाने पर अपने तथा अपने प्रेमी के बीच में एक कटार रख कर वह चिता में जल मरती है। उधर गुरडन अपने मृत पति के लिये शोक करती है, परन्तु धीरे-धीरे उसे भूल कर एट्ली से ब्याह कर लेती है जो ब्रिनहिल्ड का भाई है। एट्ली अब गुनार तथा होग्नी से अपने स्त्री के अधिकार से खजाने की माँग करता है और जब वे देने से इनकार करते हैं तो वह दोनों को अपने घर पर निमंत्रित करके कैद कर लेता है। गुनार तब तक खजाने का पता बताने से इनकार करता रहता है, जब तक कि वह अपने भाई होग्नी का कलेजा नहीं देख लेता। उसके समक्ष एक कलेजा लाया जाता है, परन्तु गुनार कहता है कि यह उसके भाई का कलेजा नहीं है। अन्त

में उसके भाई का ही कलेजा उसके समक्ष लाया जाता है और तब गुनार हता है, अब मैं अकेला ही वह व्यक्ति हूँ, जो खजाने का पता जानता है और इस कोष को र्‌हाइन भले ही ले ले, परन्तु मैं तुम्हें नहीं दूँगा।" एट्ली तब उसे बाँध कर साँपों के बीच में डाल देता है। वहाँ वह अपने दाँतों से ही बीन का स्वर निकाल कर साँपों को मोहित कर लेता है, परन्तु एक साँप उसे काट ही लेता है और वह मर जाता है।

यह पौराणिक कथा जर्मनी में बारहवीं शती के अन्त में काव्यबद्ध हुई थी। कथा के जन्म काल से तब तक इसमें कितना परिवर्तन हो गया था, यह कहा नहीं जा सकता। इस कथा के सभी नायक ईसाई हैं और उनके नाम चौथी, पाचवीं एवं छठीं शताब्दी के ऐतिहासिक नामों से मिलते-जुलते हैं। गुन्थर को बर्गंडी में रक्खा गया है। हम ऐतिहासिक रूप से जानते हैं कि ४३५ ई० में गंडी केरियस या गंडेहेरियस नामक एक वास्तविक राजा था, जिसे कैसियाडोरस के अनुसार पहले एटियस ने तथा बाद में ऐट्टिला के हूणों ने अपदस्थ कर दिया था। इसलिये ब्रिनहिल्ड के भाई तथा गुडरन के द्वितीय पति को हूणराज (४५३ ई०) ऐट्टिला के रूप में हम रख सकते हैं। यहाँ तक कि ऐट्टिला के भाई ब्लेडा को भी ब्लाडलिन (जिसने बर्गंडी पर हमला किया था और डंक्वार्ट द्वारा मारा गया था) के रूप में रक्खा गया है। अन्य ऐतिहासिक व्यक्तियों को भी इस आख्यायिका में स्थान दिया गया है। इस प्रकार हम नेबुलंग में डाट्रिक वॉन बर्न को देखते हैं जो थियोडोरिक द ग्रेट (४५५-५२५ ई०) के अतिरिक्त कोई अन्य नहीं हैं, जिसने रैवेन्ना (प्रसिद्ध रेबनस्लॉट) के युद्ध में ओडोसीर को जीता था, जो जर्मन बर्न के वेरोना नामक स्थान पर रहता था।

पुरुरवा तथा उर्वशी की प्रेम कथा प्रायः हिन्दू गायकों द्वारा गायी गई है। यह कथा हिन्दुओं के वीर काव्यों में भी पायी जाती है, उनके पुराणों में पायी जाती है तथा बृहत्कथा में भी पाई जाती जाती है जो आख्यानों का विशाल संग्रह है। इस कथा में भी परिवर्तनों की भरमार है, फिर भी कालिदास के नाटक[1] में इसकी पृष्ठभूमि हमारी पहचान में आ जाती है। इस संदर्भ में हम कालिदास की कला को सदैव प्रशंसनीय ही पाते हैं। पाठकों की

---

१. अपने हिन्दू थियेटर में विलसन ने इसका अति सुन्दर अनुवाद दिया है। यह ग्रंथ मूलरूप में कलकत्ता में छपा था। तब से अब तक इसकी कितनी ही आवृत्तियां हो चुकी है। सर्वोत्तम संस्करण प्रो० बॉलेंसन का है।

जानकारी के लिये हम इसके कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद निम्न पंक्तियों में दे रहे हैं :—

इसके प्रथम अंक में हिमालय का दृश्य है। अप्सराएँ देवताओं के किसी सम्मेलन से लौट रही हैं, रास्ते में कोई आक्रामक आक्रमण करके उनकी सहेली उर्वशी को उठा ले जाता है। सखियाँ इसी विषय पर वार्ता कर ही रही थीं कि राजा पुरुरवा प्रविष्ट होता है और अप्सराओं के दुःख के कारण को जानकर शीघ्रता से उर्वशी को मुक्त करने के लिये चल देता है। वह शीघ्र ही उर्वशी को लेकर लौटता है और उसे सहेलियों के साथ कर देता है। जब वह उर्वशी को दैत्य से छुड़ा कर अपने रथ पर लाता रहता है तभी वह उसके सौन्दर्य पर मोहित हो जाता है। उर्वशी भी उस पर मोहित हो जाती है। राजा उस स्थिति का वर्णन करता है जब उर्वशी दैत्य के भय से धीरे-धीरे उन्मुक्त हो रही होती है।

'वह आत्मचेतना युक्त हो रही है, यद्यपि धीरे-धीरे,
जिस प्रकार चन्द्रमा धीरे-धीरे रात्रि के अन्धकार पर विजयी होता है,
जिस प्रकार धूमपुंज से धीरे-धीरे अग्निदेव प्रगट होते हैं,
जिस प्रकार गंगा की धारा अपने जल के गँदलेपान को धीरे-धीरे छोड़कर
उज्जल जल-धारा में प्रवाहित होने लगती है।'

जब वे अलग होते हैं, उर्वशी एक बार फिर पुरुरवा का दर्शन करने के लिये घूमती है। वह बहाना करती है कि उसका हार अंगूर-लता में उलझ गया है। वह अपने हार को छुड़ाने का अभिनय करती है और सहायता के लिये अपनी एक सखी को बुलाती है, परन्तु वहाँ पहुँचकर उसकी मुद्रा से सखी वास्तविकता से परिचित हो जाती है और कहती है —

"यह कोई सरल कार्य नहीं है मुझे भय है,तुम तो फँसी-सी दिखाई पड़ती हो
इस प्रकार की छूटना कठिन जान पड़ता है, परन्तु जो कुछ भी हो
मेरी मित्रता पर तुम भरोसा रक्खो।"

उधर सखी इस प्रकार बोलती रहती है और इधर उर्वशी के नेत्र घूमकर देखते हुए पुरुरवा से जा मिलते हैं और वह कह उठता है,

"सहस्र धन्यवाद है, हे प्रिय पौधे, जिसकी कृपापूर्ण सहायता से
मुझे एक क्षण मिल गया और मैंने पुनः देखा
भले ही क्षण मात्र के लिये हो मुझे उस मोहकता के
दर्शन तो हो गये।"

दूसरे अंक में हम राजा को अपनी राजधानी प्रयाग में अपने राजभवन में पाते हैं। वह अपने राजभवन के उपवन में टहल रहा है, साथ में एक ब्राह्मण विदूषक है जो राजा का अन्तरंग, प्रियपात्र एवं हितकांक्षी है। वह उर्वशी के लिये राजा की विकलता को समझता है। अपने हृदय की सरलता (जिसके कारण वह किसी गोपनीय बात को भी गुप्त नहीं रख सकता) का उसे ज्ञान है। अतः भेद खुल न पाये, इसीलिये वह .एक निर्जन शिवालय में जा छिपता है। वहाँ रानी की एक दासी उसे देख लेती है। जिस प्रकार घास पर की ओस अधिक देर तक नहीं रुक सकती, उसी प्रक र कोई बात भी विदूषक के मन में अधिक देर तक गुप्त नहीं रह सकती। अतः थोड़े से वार्तालाप के कारण उस दासी को पता चल जाता है कि किस लिये देवासुर संग्राम से लौटने के बाद से ही राजा इस प्रकार व्यग्र एवं दुखी रहने लगा है। वह इस वार्ता को रानी तक पहुँचा देती है। इसी समय राजा का वियोग जनित दुःख भी बढ़ जाता है और वह कहने लगता है :—

'मेरा हृदय धारा के साथ बहकर संतुष्ट रहना चाहता है,
परन्तु प्रतिकूल वायु जनित लहर उसे फिर पीछे धकेल देती है।'

उधर उर्वशी भी पुरुरवा के लिये व्याकुल है। हम उसे उसकी रहस्य-परिचित सखी के साथ उस समय देख पाते हैं, जब वह राजा से मिलने को आ रही होती है। वह धीरे-धीरे मर्त्यलोक की ओर उतर रही है। दोनों राजा के लिये अदृश्य हैं और इसी रूप में दोनों राजा की प्रेम-स्वीकृति को सुनकर आनन्दित होती हैं। उर्वशी भी प्रेम को स्वीकार करने की इच्छा करती है और एक भूर्जपत्र पर अपनी स्वीकारोक्ति को लिख डालती है और उसे उसी कुंज में गिरा देती है, जिसकी ओर राजा जा रहा होता है। अगले ही क्षण उर्वशी की सखी दृश्य हो जाती है और दूसरे ही क्षण वह उर्वशी का राजा से परिचय करा देती है। कुछ ही देर तक दोनों साथ रहते हैं कि सहसा देव दर्बार से उर्वशी तथा उसकी सहेली का बुलावा आ पहुँचता है और उन दोनों के चले जाने पर पुरुरवा और विदूषक फिर अकेले रह जाते हैं। इसी समय राजा उस भूर्जपत्र की खोज करता है, परन्तु वह उसे नहीं मिलता क्योंकि वह वायु में उड़कर कहीं दूर चला गया रहता है।

"प्रेम और ऋतुराज का सहचर, दक्षिणी पवन
चोरी कर लेते हो यद्यपि फूलों की सुगन्धिका
फैलाने को दिगदिगन्त में;
क्यों छीना है प्रियापत्र को मुझसे

जो प्रमाण था प्रियाप्रेम का,
जान रहे हो तुम कि यही प्रेमी के जीवन का साधन है,
प्रिय की संगति के अभाव में,
प्रेम पत्र भी प्रिया मिलन से
कम आनन्द नहीं देता है।"

आगे और भी विचित्र बातें होती हैं। भूर्जपत्र उड़ता-उड़ता रानी के हाथ में जा पड़ता है, जो राजा की खोज में वाटिका की ओर आती रहती है। पत्नी पति को प्रेमपूर्ण उपालम्भ देती है और दम्पति में तनिक कटुता-सी आ जाती है, रानी रुष्ट मना हो वहाँ से चल देती है। जैसे नदी समुद्र की ओर चल देती है। राजा का दुःख द्विगुणित हो उठता है। उसका प्रेम यद्यपि उर्वशी के प्रति है, फिर भी वह रानी का अत्यधिक आदर करता है। अन्त में वह भी वहाँ से चला जाता है :--

"तीसरे पहर की वेला में सतत होकर ऊष्मा से
मयूर शरण लेता है शेषप्राय पानी में,
जो पोषण देता है, बड़े तरुओं के मूलों को,
ऊष्मा संत्रस्त मधुमक्षिका,
कमल के परागकोष में शयन-रता है
जहाँ थोड़ा-सा तम है और साथ-साथ ठंढक भी।
झीलों में तट के समीप उगे वृक्षों के झुरमुट में
बत्तखें छिपी-सी पड़ी हैं; और उधर ऊष्मा संत्रस्त तोता भी
मानो हार कर गर्मी से,
बादल से जलदान की पुकार प्रतिपल कर रहा।"

तृतीय अंक के प्रारम्भ में हमें पता चलता है कि उर्वशी पर क्या बीती। उसे इन्द्र के सामने अभिनय करना था। उसे सौन्दर्य की देवी का अभिनय करना था जो अपने पति के रूप में विष्णु को पसन्द करती है। विष्णु का एक नाम है पुरुषोत्तम। अभिनय में उसे कहना चाहिये था, मैं पुरुषोत्तम को प्यार करती हूँ, और वह आत्म-विस्मृति की अवस्था में कह पड़ती है, "मैं पुरुरवा को प्यार करती हूँ।" नाटक का निर्देशक उसकी इस भूल से अत्यधिक दुखी हो उठता है और उसे शाप देता है कि उर्वशी का स्वर्गीय ज्ञान लुप्त हो जायगा। नाटक समाप्त होने पर इन्द्र ने उर्वशी को देखा जो लज्जावता एवं संतप्ता होकर एक ओर खड़ी थी। इन्द्र ने उसे समीय बुलाया। उसने उर्वशी को समझाया कि जिस मानव को उसनेप्यार

किया है, देव कुल पर उसके अनेक एहसान हैं और वह स्वयम् इन्द्र का भी मित्र है और देवासुर संग्राम में वह देवताओं का सहायक रह चुका है। ऐसी स्थिति में उर्वशी ने कुछ बुरा नहीं किया है। ऐसी स्थिति में वह राजा के साथ तबतक रह सकती है, जबतक कि पुरुरवा शुक्र सम्भूत उसके कोई संतान न हो जाय।

दूसरे सीन में राजभवन का बाग दिखाया गया है। राजा राजकाज में व्यस्त-सा दिखायी पड़ता है। सायंकाल वह वहाँ से लौटता है।

"दिन का तो अन्त यों हो जाता है,
राज्य की चिन्ता में इतना भी समय तो नहीं मिलता
कि व्यक्तिगत दुःखों का ध्यान कभी आ जाये
किन्तु यह रात्रि, आह कैसे बीतेगी वह
प्रिया की याद ही जब केवल सहारा हो,
और सम्मिलन की जब कोई भी न आशा हो।"

इसी समय रानी का सन्देशवाहक वहाँ आता है जो राजा से प्रार्थना करता है कि रानी की इच्छा है कि राजा पूजा स्थान में पधारें। राजा रानी के निर्देश को मान लेता है और मणिजटित सीढ़ियों पर चढ़ते समय उसे पूर्व दिशा में उदय होते चन्द्र की रजताभा दिखायी पड़ जाती है।

राजा—"आह ! यदि ऐसा हो पाता,
अनूदित सुधांशु की सुधा किरणों से आलोकित
चहुँओर तमस हटा जा रहा है धीरे-धीरे
रात के धुँधलके में क्षितिज चमक उठता है
जैसे किसी सुन्दरी का सस्मित प्रफुल्ल वदन
जटिल कुटिल अलकों के मध्य
झाँक उठता हो।
मैं भी यदि देख पाता
अपनी प्रिया का मुख"

जिस समय राजा महारानी की प्रतीक्षा में रत रहता है, उसकी उर्वशी-मिलन की कामना प्रबलतर हो उठती है।

"सत्य है, कि उर्वशी विषयक मेरी कामना
तीव्रतर होती जा रही है, क्योंकि संयोग का आनन्द
आज दीखता असम्भव-सा।

नित नयी बाधाएँ, खड़ी होती जा रही हैं
मेरी प्रसन्नता के मार्ग में अचल-सी,
जैसे किसी द्रुतगामी सोते की राह में
कोई सुविशाल शिला ऐसी ही अड़ जाये
और पानी अड़ जाये,
किन्तु कुछ देर बाद जल इतना हो जाये कि
शिला को लाँघ कर आगे को बह जाये।
रात्रि की वृद्धि के ही साथ-साथ,
चन्द्रमा की ज्योति वृद्धि होती है
और हो जाता द्विगुण मेरे भी हृदय का दुख।"

अचानक उर्वशी अपने स्वर्गीय रथ पर बैठी हुई प्रगट होती है, साथ में उसकी सहेली भी है। इस बार भी वे अदृश्य ही हैं और राजा की स्वीकारोक्ति को सुनती हैं। प्रेम-विभोर होकर उर्वशी प्रगट ही होना चाहती है कि सहसा रानी आ जाती है। वह श्वेतवस्त्रा है, आभूषण-विहीना है और शपथ लेकर राजा को तुष्टि प्रदान करने को आयी है।

राजा—"वास्तव में वह आनन्ददायिनी है,
इस प्रकार श्वेताम्बरा हो,
केशों में मात्र कुछ पुष्पावलि शोभित है
आत्मार्पण की भावना ने,
गौरवपूर्ण गति उसे दे दिया हो जैसे;
उस साधारण-सी भूषा में
उसका आकर्षण मानो शतगुण वृद्धि
पा गया हो।"

रानी—"गौरवपूर्ण स्वामी मेरे,
चाहती हूँ करना अनुष्ठान एक मेरे प्राण
जिसका उद्देश्य तुम्हें सुख दान करना है,
मेरी यह प्रार्थना है,
(कि मेरी) क्षणिक उपस्थिति से
जो कुछ भी विघ्न हुआ,
उस हेतु क्षमा करें।"

राजा—"रानी ! तुम मेरे प्रति न्याय नहीं करती हो,
तुम्हारा सुदर्शन सदा तुष्टि देता आया है।

अपने सुकोमल बदन को यों
रुक्ष श्वेत पुष्पों से कष्ट दे रही हो क्यों ?
मुझ में तुम एक दास को ही सदा देखो और
कृपा पर तुम्हारी सदा मात्र मेरा दावा है
भले तुम न प्रेम करो।"

रानी—"व्यर्थ नहीं होगी कभी मेरी भी शपथ नाथ,
जीत जीत लेती है (आपकी)
वाणी मनोहारिणी।"

तत्पश्चात् रानी चन्द्रमा को साक्षी देकर शपथ लेती है:—
"सुनो और साक्षी रहो,
इस पवित्र सौगन्ध की,
जो मैं अपने पति के समक्ष आज कर रही
जिस किसी अप्सरा ने, जीता है स्वामि हृदय
और जो स्वयम् भी उन्हें सत्य प्यार करती हो,
उसके प्रति मेरा भी प्यार सदा जीवित रहे
और मैं समादर करूँगी सदा उसका"

इसी समय विदूषक पुरुरवा से (अलग ले जाकर) कहता है:—"जो अपराधी अपना हाथ काट लिये जाने के पूर्व ही बच निकलता है, वह निश्चय कर लेता है कि आगे से वह ऐसा अपराध नहीं करेगा। (प्रगट रूप में) तब फिर आपके प्रति राजन् की उदासीनता ही क्यों हो ?"

महारानी—हे बुद्धिसागर,
आपने क्या रीति सोचा
इनको प्रसन्न करने का; (क्योंकि)
मैंने तो ध्यान छोड़ा अपनी प्रसन्नता का,
किन्तु यह न समझे कोई
राजा प्रिय न मेरे रहे।

राजा—वैसा मैं नहीं रानी, शंका जैसी तुमको,
किन्तु इस समय सारी शक्ति तेरे हाथ है
जैसी हो इच्छा वैसी करो मेरे साथ तुम,
जिसके हाथ इच्छा हो दान मुझे कर दो
या फिर स्वसेवक ही बना के मुझे रक्खो तुम।

रानी—वैसा ही हो, जैसी हो इच्छा मम नाथ की
शयथ तो मैं ले ही चुकी हूँ समक्ष नाथ के
मेरा भी गौरव न व्यर्थ कभी होगा नाथ
यदि तुम्हें सौख्य, शान्ति, तुष्टि मिले इससे
(सखियों से) आवो हे सखियों, विदाई का अवसर है।

राजा—ऐसा क्यों,
इतना शीघ्र छोड़ मुझे जाना कृपा कैसी है ?

रानी—आप मुझे क्षमा करें,
ध्यान है सदैव मुझे अपने कर्तव्य का।

यह सत्य है कि उक्त कथोपकथन में राजा के चरित्र के प्रति हमारे मन में प्रशंसापूर्ण भाव नहीं उठते। रानी का चरित्र हमें जैसा दिखायी पड़ता है, वैसा पूर्वीय रंगमंच के लिये भी सर्वथा अनुपयुक्त है। इसके तुरन्त पश्चात् ही रंगमंच पर उर्वशी का आगमन (दृश्य रूप में) होता है। अदृश्य रूप में तो वह इसके काफी पहले से ही उपस्थित थी। अब वह राजा के पीछे पीछे चल कर अपने हाथों से राजा के नेत्र मूँद लेती है। इस पर राजा कह उठता है:—

राजा—यह हो सकती है उर्वशी ही, (क्योंकि)
अन्य हाथ ऐसा आनन्द नहीं दे सकते।
सूर्य की किरण से कभी प्रस्फुटित होती नहीं
चन्द्र किरण की ही प्रतीक्षातुरा कमलिनी।

उर्वशी रानी के त्याग को अपने लिये सौभाग्यसूचक मानती है और राजा को विश्वास दिला देती है कि परिवर्तित परिस्थिति में उन दोनों का प्रेम पवित्रता की परिधि में आ जाता है। उर्वशी की मित्र विदा होती है और उर्वशी पुरुरवा की प्रिय पत्नी के रूप में रहने लगती है।

उर्वशी—मुझे पछतावा है कि
इतनी प्रतीक्षा में, रक्खा मैंने प्रिय को

राजा—ऐसा न कहो प्रिये।
दुःख के बाद जब कभी सुख आता है
द्विगुणित हो उठता वह दुख की पृष्ठ भूमि में।
आतप में झुलसा पथिक ही सुख जानता है
श्रान्तिपूर्ण पथ बीच छायापूर्ण तरु का।

अगला अंक ही सारी कृति का सर्वश्रेष्ठ अंग है, यद्यपि यह बड़ा विचित्र लगता है कि आधुनिक थियेटरों में यह प्रदर्शित कैसे किया जायगा। इस अंग की शैली भी अन्य अंकों की तुलना में विचित्र ही है। यह अंश सम्पूर्णतः काव्यमय है और इसमें साहित्य के सुन्दरतम् छन्दों की योजना है, फिर भी यह अंग संस्कृत में न होकर प्राकृत भाषा में है जो उस समय जन-साधारण की भाषा रही होगी। इसका रूप अवश्य ही कुछ उलट हो गया है पर काव्य-गत सौन्दर्य में यह अंश संस्कृत से भी दो हाथ आगे है। कुछ छन्द सहगान के रूप में हैं, जिन्हें परोक्ष में ही गाया जाना चाहिये। इन अंशों के निर्देशन के लिये जो संकेत स्थल-स्थल पर दिये गये हैं, उनको स्पष्टतया समझ पाना अवश्य ही कठिन है।

पहले ही एक समवेत गान मिलता है, जिसमें उर्वशी के दुर्भाग्य की चर्चा रहती है। वह जंगल के एक कुंज में अपने प्रेमी के साथ रह रही है जहां उसकी प्रसन्नता एवं उसके आनन्द में विघ्न डालने के लिये कोई भी नहीं है—

"एक दिन वे घूम रहे थे मन्दाकिनी तट पर
उसी समय सिकता-मय तट पर दीख पड़ी
एक अप्सरा बाला सस्मित क्रीड़ारत
आकर्षित हो गये निमिष भर राज-नेत्र।
राजा की संगिनी क्रुद्ध हो गयी इसे देख,
और भूल गयी श्री कार्तिकेय का शापित कुंज।

वह ज्योंही सीमारेखा का उल्लंघन कर
कुछ बढ़ी, तुरत बन गयी एक अंगूर-लता।
तब से ही अब तक पड़ी उसी स्थिति में है।
कब समय आये और शाप मुक्त हो सके पुनः—

वायु में दुःख भरे गीत सुनायी पड़ते हैं—

'आसमान में गूंज रही इक मधुर ध्वनि
रुदित अप्सराएँ थी सखी वियोग से
उड़ती जातीं रोती जातीं साथ-साथ
अपनी सखि के लिये, खो गयी सी जो थी।

भरी वेदना घनी रुदन स्वर में उनके,
रोता हो जैसे हंस मानसर में दुःखित

जब दिनकर की आरक्त किरण जलधारायें
प्रमुदित करती हैं रक्त-कमल कलिकाओं को।
जब दिनकर की लौह किरण सरवर जल में
प्रमुदित करती फिरती रक्ताभ कमल कलिकाओं को,
तब हंस अकेला खोकर अपनी प्राणप्रिया
ज्यों रोदन करता फिरता हो जलधारा में।'

इसी समय राजा प्रविष्ट होता है, उसके अंग अंग से विरहोन्माद टपका पड़ता है, उसकी वेष-भूषा अस्त-व्यस्त है। सीन एक जंगल का है, बादल घुमड़ रहे हैं, हाथी, मृग, मयूर तथा हंस दिखायी पड़ रहे हैं। शिलाएँ तथा झरनों की संगति में वर्षा की झड़ी के साथ चपला की चमक दिखायी पड़ती है। बादल की गोद में बिजली की चमक को देखकर राजा को भ्रमोन्माद-सा हो जाता है, मानो कोई दैत्य उर्वशी का हरण किये जा रहा हो। वह उन्मादातिरेक में बादल के पीछे दौड़ पड़ता है :—

ठहर, जरा ओ पापी, रुक जा, किधर
ले चला प्राणप्रिया, जो मेरी है
उसके वियोग से दग्ध हो रहा मैं सत्वर
तू क्यों शर की वर्षा करके आहत करता
मुझको, मैं तो निज प्रिया विरह से कातर हूँ।

(जैसे आक्रमण के लिये दौड़ता है, फिर रुकता है, कुछ सोचता और सहसा जैसे चित्त का विभ्रम दूर हो जाता है)

यह दैत्य नहीं है, यह तो बादल है
तूणीर नहीं, यह इन्द्रधनुष है उगा हुआ
ये बाण नहीं, ये तो वर्षा की बूँदें हैं
मम प्रिया नहीं, यह जल दवासिनी चपला है।

राजा के इस शोक संगीत में वायु की प्रचंडता से बाधा पड़ती है, जो अति वेग से चलकर मानों राजा के विरही हृदय को सान्त्वना प्रदान करता है। यह सत्य है कि इस स्थल पर हम राजा के विरहवर्णन का सांगोपांग परिचय पाठकों को स्थानाभाव के कारण नहीं दे पायेंगे, फिर भी निचली पंक्तियों से पाठकों को राजा के दुःख वा एवं कालिदास की वाग्विभूति का कुछ अनुमान लग जायगा :—

राजा—दुःख है कि जो कुछ भी मैं देखता हूँ
वह बढ़ाता ही है मेरा विरह दुःख
ये फूल की ओस लदी पंखुड़ियाँ
हिरनी के आँखों से होड़-सी करती दिखायी देती हैं
जिनमे आँसू की बूँदें भरी हों।
मैं कैसे जानूँगा कि
वह इस राह से गयी है।

वह कई पंछियों को पुकारता है और उनसे पूछता है कि क्या कहीं उन्होंने उसकी प्रिया को देखा है। मोर से वह कहता है "गहरे नीले रंग के गर्दन एवम् तमस् के समान काली आँखों वाले," कक्रू से वह कहता है "जिसे प्रेमी लोग प्रेम का सन्देश वाहक समझते हैं," हंस से कहता है, "जो उत्तर दिशा की ओर जा रहे हैं तथा जिनकी मस्त चाल ही बता देती है कि उन्होंने प्रिया को देखा है," चक्रवाक को सम्बोधित करता है, "तुम मेरे ही समान दुःखी हो, क्योंकि प्रति रात प्रिया से दूर रहने के कारण तुम मेरे दुःख को समझ सकते हो," परन्तु इनमें से कोई उसकी बात का उत्तर नहीं देता। कमल के मधुकोष में आकण्ठ डूबी रहने वाली मधुमक्खी भी उसे प्रिया का पता नहीं बताती। पशु-श्रेष्ठ हाथी भी उसकी कोई सहायता नहीं करता और अपनी हथिनी के संग कदम्ब के वृक्ष के नीचे मस्ती ले रहा है, मानो उसने भी उर्वशी को नहीं देखा।

राजा—अपने साथी से वह कदम्ब की डाल ले लेता है
अपने सूँड़ को वह सुगन्धित कदम्ब की डाल को रगड़ता है—
वह कदम्ब कितना रसमय हो उठा है,
उसे वह चबा डालता है।
उधर पहाड़ के गले पर
जम्हाई-सी लेती हुई शिखा दीख पड़ती है
ऐसे ही स्थानों में परियाँ रहती हैं
काश कि मेरी उर्वशी भी यहीं कहीं होती
अलग-थलग पड़ी होती, और मैं प्रवेश करता—
पर यहाँ तो घटाटोप अन्धकार है—क्या चमक कर
चंचला मुझे राह दिखावेगी – नहीं, बादल तो आंख दिखा रहा है—
ऐसा फूटा मेरा भाग्य है - ऐसा ही हो।
मैं लौटूंगा—परन्तु शायद शिला कुछ कह रही है।

(वायु)

फटे खुरों से एवम् दृढ़ निश्चय युक्त सीने से
वह बाराह झाड़ियों से झांक रहा है;
....

बोलो हे नगराज....... . ...
......भला कहीं देखा है तुमने
परीजाद को, जो इतनी सुन्दर है
जैसे प्रेम देव की दूल्हन हो,
अपने कोमल पद से, चढ़ती जाती हो
तेरे शरीर पर, या थक कर
विश्राम-रता हो तरुतल में, जंगलों बीच
कुछ श्रान्त क्लान्त सी ?
कुछ उत्तर तुम नहीं दे रहे, दूर पड़े हो,
नहीं सुन रहे, रुको पास अब मैं आता हूँ।

वायु

तेरे पारदर्शक शिखर से बहे जा रहे
पुष्प भरी राहों से सोते जल भरे
जैसे प्रसन्न होकर आत्मा स्वर्ग की
गा रही हो छिप कर शिलाओं के मध्य में।

बोलो नगराज, कुछ कृपा करो मुझ पर
क्या प्रिया के कोमल पद पड़े हैं
तव सीने पर ?
आशाएँ फलवती हुईं, इसने अवश्य देखा है उसका,
मुझे बता दो, भला कहां है ?
नहीं बोलते हो, मत बोलो,

केवल मेरी ही प्रतिध्वनि आ रही चली यों लौट-लौट कर
जैसे आवे गुफाद्वार से ध्वनि की प्रतिध्वनि।
आह उर्वशी, थकित हो गया हूँ मैं अब।
विश्राम करूंगा यहीं किनारे सोते के,
प्राप्त करूंगा नयी शक्ति मैं यहीं बैठ कर

वायु चल रही धीमी-धीमी।
....
....

अन्त में राजा को एक रत्न मिलता है, यह संयोग कराने वाला रत्न है और करामाती है। इसी के बल पर उर्वशी मिलन सम्भव होगा। वह उस रत्न को हथेली पर लेता है और अंगूर-लता को आलिंगन-बद्ध कर लेता है, जो तुरन्त ही उर्वशी के रूप में आ जाती है। वही रत्न वह उर्वशी के मत्थे पर लगा देता है और उसकी प्रिया प्रयाग को लौट जाती है।

पांचवाँ और अन्तिम अंक एक दुर्भाग्यपूर्ण घटना से प्रारम्भ होता है। संयोग कराने वाले रत्न को एक बाज ले उड़ता है। चारों ओर आदेश दे दिया जाता है कि रत्न के चोर को मार कर रत्न को वापस लाया जाय। एक वनरक्षक रत्न ले आता है। उसके हाथ में वह बाण भी है, जिससे बाज मारा गया था। तीर पर कुछ लिखा हुआ है, जिससे पता चलता है कि वह तीर आयुष का है जो उर्वशी एवम् पुरुरवा का पुत्र है। राजा को यह भी पता नहीं था कि उसके बीज से उर्वशी पुत्रवती हुई थी। अभी राजा का आश्चर्य बना ही था कि एक सन्यासिनी एक धनुष-बाण सज्जित बालक को लेकर आती है। यही आयुष है, जिसे जन्मते ही उर्वशी ने च्यवन को सौंप दिया था, जिसने उसे हर प्रकार की शिक्षा देकर पुनः माँ-बाप की सेवा में भेज दिया था। राजा भी आयुष को स्वपुत्र करके मान लेता है। इसी समय उर्वशी भी आकर उसे गले लगाती है।

प्रश्न होता है कि 'आखिर उसने पुत्र को पति से छिपाकर क्यों रक्खा था ? और पुत्र को देख कर उसकी आंखों में दुःख के आँसू क्यों भर आये ? इन सब बातों को उर्वशी स्वयमेव पुरुरवा से बतलाती है,

उर्वशी—जब तुम्हारे प्रेम के प्राबल्य से
त्याग डाला स्वर्ग का दर्बार भी
इन्द्र ने तत्क्षण दिया आदेश यह
"जाओ उर्वशि रहो नृप के साथ तुम उस समय तक
जब तलक देखे न राजा
तव गर्भ से उत्पन्न उसके वीर्य से
कुँवर अपना। किन्तु जिस क्षण दृष्टि राजा की पड़े
पुत्र निज पर, जान लेना समय है वह लौटने का
इस पुरी को, छोड़ नृप को, छोड़ अपने प्यार को।

आह राजन्, अब समय वह आ गया
लौटना होगा मुझे फिर इन्द्र पुर, ...
है यही आदेश सुरपति का मुझे, ...
कम करेगा पुत्र मेरा दुःख कुछ तो आप का।

राजा—ग्रीष्म के उत्ताप से झुलसा हुआ तरु
कोपलें नव ले रहा था आर्द्रा के प्रथम जल से तृप्त होकर
किन्तु रे दुर्भाग्य, तूने वज्र के आघात से
छिन्न कर डाला उसे, वह क्या करे?

उर्वशी—अब रहा क्या काम ही मेरा यहां?
हो गया सब कार्य मेरे योग्य जो था,
आ गया अब समय है अनिवार्य जाना
रुक नहीं सकती स्वयम् इच्छा करूँ यदि।
आप का क्या, भूल जायेंगे मुझे दो दिवस में ही
प्यार में फँस राजमहिषी के स्वयम्,
आप की ही जो सदा सहधर्मिणी।

राजा—प्रियतमे! ऐसा न निज मुख से कहो,
भाग्य ऐसा ही नहीं है मनुज का
भूल जायें, भूलना चाहें जिसे
किन्तु इच्छा दैव की ही भोग्य है
क्योंकि सत्ता वह सदा अनिवार्य है।
त्याग कर जाती मुझे हो आज तुम,
त्याग दूँगा राजसिंहासन अभी मैं
है तुम्हारे पुत्र का यह भोग्य ही
और मैं चलता हूँ तेरे साथ ही,
जंगलों में, वादियों में,
घूमता निशिदिन रहूँगा,
मैं तुम्हारी याद में

नवीन राजा के राज्याभिषेक की तैयारियाँ होती हैं। इसी समय ब्रह्मर्षि नारद का आगमन होता है।

नारद—राजन् चिरजीवी हों,
आप भी उपस्थित हों सुरपति के सामने

ज्ञात है जिसको कथा इस प्रेम की
और यह सन्देश है उनका सुनोः—
त्याग दें सत्वर उदासी वृत्ति यह,
उर्वशी है आपकी और आपके सँग ही रहेगी
साथ ही बंध जायगी उस शुद्ध बन्धन में
वश्य जिसके जगत के
नर-नारि का सम्बन्ध है।

इसके पश्चात् तो चतुर्दिक् प्रसन्नता ही प्रसन्नता हो जाती है। अप्सराएँ एक पात्र में स्वर्गगंगा का जल लेकर आती हैं। उनके साथ एक सिंहासन है और अनेक सामग्रियां हैं, जिन्हें वे तुरन्त ही सजा देती हैं। राजकुमार को युवराज बना दिया जाता है और सब लोग इकट्ठे जाकर महारानी को समादृत करते हैं, जिसने उर्वशी के पक्ष में अपने पत्नीत्व के सभी अधिकारों का त्याग कर दिया था और स्वामी के सुख से सुखी राजमहल में रह रही थीं।

इस कथा को हम पुराणों में पाते हैं, साथ ही महाभारत, ब्राह्मण ग्रंथों में और यहाँ तक कि वेद में भी, किन्तु इस कथा का बीज उस आर्य भाषा में है जो आगे चल कर संस्कृत में इस रूप में पायी जाती है। मि० कार्लाइन की दृष्टि काफी दूर तक रहस्य भेद कर चुकी थी, जब उन्होंने कहा था कि, 'यद्यपि इन सभी गाथाओं की जड़ एक ही है, फिर भी देश, काल एवं स्थिति से प्रभावित होकर इन्होंने विभिन्न देशों, कालों एवं स्थितियों में विभिन्न रूप धारण किया है।' वास्तव में उर्वशी एवं पुरुरवा के कथा का मूल उन थोड़ी सी कहावतों में है, जो प्राचीन काल में बोलने वालों एवं सुनने वालों को आनन्द देती थीं। इस प्रकार 'उर्वशी पुरुरवा को प्यार करती है' का अर्थ इतना ही हुआ कि 'सूर्य निकलता है'; 'उर्वशी पुरुरवा को नंगे बदन देखती है' का अर्थ हुआ 'उषाकाल समाप्त हो गया है; 'उर्वशी पुरुरवा को पुनः प्राप्त करती है' को हम यों समझ सकते हैं कि 'सूर्य अस्तप्राय हो गया। पुरुरवा एवं उर्वशी के नामों का जन्मदाता भारत ही है और यही कारण है कि अन्य आर्य भाषाओं में ये दोनों ही नाम हमे नहीं मिलते। आप ग्रीकों की पौराणिक गाथाओं को देखें तो वहाँ भी यही बात दिखायी पड़ेगी, ग्रीस में उषस् के अनेक नामों में से एक था यूरीडाइक। उसके पति के नाम का व्यौत्पत्तिक अर्थ निकालना अति कठिन है किन्तु ऑरफियस को हम संस्कृत शब्द ऋभु या अर्भु का रूपान्तर मान सकते हैं, जो वेद में इन्द्र की एक उपाधि के रूप में प्रयुक्त हुआ है। ऐसी स्थिति में प्राचीन कथा यह रही

होगी कि 'यूरीडाइक को एक साँप (रात) काट लेता है, वह मरकर निचले विभागों में चली जाती है। ऑराफियस उसके पीछे-पीछे जाता है और वहाँ देवता गण इस बात की शर्त लगाते हैं कि 'यूरीडाइक को ऑरफियस के पीछे-पीछे भेजा जा सकता है, यदि वह पथ में पीछे की ओर घूम कर न देखे।' ऑरफियस इस बात की प्रतिज्ञा करता है। वह उस लोक से चलता है, यूरी-डाइक उसके पीछे है। प्रेम या सन्देश के वशीभूत होकर वह एक बार पीछे देखता है और यूरीडाइक गायब हो जाती है अर्थात् सूर्य उषस् को देखता है और उषस् गायब हो जाती है।'

यह भी सम्भव है कि ऑरफियस किसी प्राचीन कवि का ही नाम रहा हो, क्योंकि प्राचीन कवि भी अपना सौर नाम रखने में अपने को गौरवान्वित मानते थे। सत्य चाहे जो कुछ भी हो, परन्तु इतना तो सत्य ही है कि इस कथा का मूल न तो किसी सत्य घटना से सम्बन्धित है और न निरुद्देश्य लिखी या कही ही गयी थी। भारत में ऋभुओं की कथा को नामसाम्य के कारण कितनी ही बार स्थानीय एवं ऐतिहासिक बाना पहनना पड़ा है। ऋग्वेद ६,४५,३१-३३ के अनुसार ब्रिभु नाम का कोई अब्राह्मण व्यक्ति ब्राह्मण बना लिया गया था। यह व्यक्ति बढ़ई था और भरद्वाज के कुल के आराम के लिये विशेष रूपेण उपयोगी हुआ था। कोई भी वैदिक देवता ऐसे न थे, जिनकी उपासना करने का उनको अधिकार होता। अतः उन्हें ऋभुओं की पूजा करने का वैधानिक अधिकार दिया गया। एक ऐसी तरकीब भी है जिसकी सहायता से प्राचीन आख्यानों को आर्यों की आदि भाषा में रूपान्तरित किया जा सकता है।

अब इस विषय को मुझे समाप्त कर देना चाहिये, परन्तु यह विषय एक मिहराब की भाँति है जिसकी यदि एक ईंट भी अपने स्थान पर ठीक से न बैठे तो समूची मिहराव ही अनतिकाल में धराशायिनी हो जायगी। हाँ, यदि इसकी एक-एक ईंट को ध्यान पूर्वक स्वस्थान पर नियमानुसार लगाया जाय तो वह बड़े से बड़े भार को सम्हाल ले जाती है। अतः केवल एक पुरा-गाथा की चर्चा और करूँगा। हम यह देख चुके हैं कि सूर्य एवं उषस् को लेकर कितने ही प्रेमाख्यान गढ़े गये। इन गाथाओं की पृष्ठभूमि में ही एक प्रश्न का निर्णय और कर लेना है। वह प्रश्न यह है कि क्या विभाजन से पूर्व ही आर्यों ने प्रेम के देवता की कल्पना को मूर्तरूप दे दिया था? जब इतिहास मौन सुषुप्तावस्था में पड़ा था, तब भी क्या इरॉस की कल्पना वर्तमान थी? जिस समय इ रास शब्द का जन्म हुआ, उसका मौलिक अर्थ क्या था? यदि

हम व्यौत्पत्तिक नियमों से विचार करें तो हम इस परिणाम पर पहुँचेंगे कि यह शब्द संस्कृत धातु वृ या वर् से निकला है, जिनका अर्थ होता है 'चुनना या वरण करना।'

अब यदि हम यह मान लें कि अति प्राचीन काल में स्वयम्वर जैसी कोई प्रथा थी तब तो इस व्यौत्पत्तिक अर्थ का कोई न कोई समाधान हो ही जायगा, परन्तु समाज के उस विकास क्रम में हम यह नहीं मान सकते कि मानव के मन में समान वस्तुओं या मानवों में अपने योग्य वस्तु या व्यक्ति चुन पाने की भावना का उदय एवं विकास हो चुका रहा होगा। आइये, हम कल्पना करें कि किसी भी उन्नति-पथ-पथी मानव जाति का भावना क्रम किस प्रकार का हो सकता है जो केवल अपने ही दिल की आवाज सुन पाते थे, जिनको रोकने के लिये न कोई विधान या न कोई नियम या उपनियम। उनको रोकने वाला था केवल प्रकृति का कानून। हम कल्पना करें कि ऐसे ही किसी हृदय में प्रेम[१] की ज्वाला पहले पहल जली होगी। उस व्यक्ति को तो यह पता भी नहीं चला होगा कि इस ज्वाला का प्रस्फुरण कहाँ से हुआ और इसका अन्त क्या होगा। सर्व प्रथम प्रेम की भावना उस व्यक्ति के लिये एकदम नवीन एवं अनाम रही होगी। यदि इस भावना का नामकरण करने की उसकी इच्छा हुई तो वह क्या करेगा? उसने सोचा होगा कि जैसे नींद से जगने पर एक विचित्र-सा आलस्य भरा उन्माद शरीर पर छा जाता है प्रायः वैसी ही स्थिति प्रेम का स्फुरण होने से भी हो जाती है। वास्तव में यह उसके यौवन का सवेरा ही था जिसने उसके शरीर में एक स्वर्गीय मस्ती भर दी होगी, उसका शरीर थोड़ा-सा उष्ण हो गया होगा, उसके सारे शरीर में एक विचित्र-सी मादकता की अनुभूति हुई होगी, समस्त वातावरण में जैसे एक उल्लास-सा छा गया होगा और उसके चतुर्दिक् का संसार एक विचित्र मादकता से भर गया होगा। यदि यह सारी बातें उसके जीवन में घटित हुई होंगी तो उसके लिये इन समूची भावनाओं के पुंज का नामकरण करने के लिये एक ही नाम उसे मिल सकता था और वह थी ऊषा की वह लाली जो रात्रि के घनान्धकार के पश्चात् दिन को एक अजीब चेतना, एक अजीब अनुभूति से भर देती है। इसी लिये जहाँ हम कहते हैं कि 'हमारे मन में प्रेम का उदय हुआ है' वहाँ उस युवक ने कहा होगा कि

---

१. स्मरण रखें कि हम प्रेम को लव (Love) शब्द का समानार्थक मान कर चल रहे हैं—अनु०

"सूर्य का उदय हुआ है", जहाँ हम कहते हैं कि 'हम प्रेम कर चुके हैं' वहाँ उसने कहा होगा कि 'सूर्य अस्त हो चुका है।'

यदि हम उन्नतभाषा के बन्धनों से अपने को मुक्त कर सकें तो हम इसका अनुमान स्वयम् कर सकते हैं। यदि हम आदि भाषा का विश्लेषण कर सकते तो यह बात प्रमाणरूप में स्वयम् उपस्थित हो जाती है। संस्कृत में हम पूर्व प्रातःकालीन लालिमा को उषस् कहते हैं, ग्रीक में उवस् कहते हैं और ये दोनों ही शब्द स्त्रीलिंग के हैं परन्तु वेद में पुल्लिग उषस का भी नाम आतां है, 'अग्न्योषस्य' जिसका ग्रीक रूप है इओस। यही शब्द भाषा शास्त्रानुसार लैटिन में अरोरा हो गया है जो ओरोस से निकला है जैसे फ्लोस् से फ्लोरा।

अभी ऊपर हमने जो कुछ कहा है, वे सारी बातें भाषा के विश्लेषण से स्पष्ट हो जाती हैं। ये समानताएँ चाहे जितनी प्रशंसनीय मालूम पड़े, परन्तु यदि तुलनात्मक भाषा विज्ञान के पंडित यह कहते हैं कि संस्कृत भाषा ग्रीक में र हो जाता है तो वे हमारी आँखों में धूल झोंकने का-सा कार्य करते हैं। संस्कृत की समान आर्य भाषाओं में चाहे जितनी समानताएँ मिलें, परन्तु आज तक किसी भी भाषा शास्त्री ने यह सिद्ध नहीं किया कि दो स्वरों के बीच का संस्कृत ऊष्म श ग्रीक भाषा में र हो जाता है। ऐसी स्थिति में उषस् कभी भी इरॉस नहीं हो सकता।

यह सत्य है कि इरॉस भी निकलते हुए सूर्य के अर्थ में उपयुक्त होता है, परन्तु इससे उक्त परिवर्तन सिद्ध नहीं हो जाता। वेद में सूर्य को दौड़ने वाला, तेज दौड़ने वाला या साधारण शब्दों में वाजि या अश्व कहा गया है। ग्रीस में पुराण शास्त्र का मानवीकरण हो गया है, परन्तु ग्रीस की पुराकथाओं में भी एवं वेद में भी उसे अपने रथ पर खड़ा चित्रित किया गया है, जिसे दो, सात या दस घोड़े खीचते हैं। इन घोड़ों को हरितस् कहते हैं, जो सदैव स्त्रीलिंगीय रूप में प्रयुक्त होते हैं। उन्हें भद्रा (प्रसन्न, आनन्द पूर्ण) (१-११५, ३); चित्रा (बहुरंगी, १-११५-३); घृताची एवं घृतस्नाः (ओस में नहाया हुआ ४,६,९); स्वंचा (सुन्दर कदम वाले); वीतपृष्ठाः (सुन्दर पीठ वाले, ५,४५, १०) भी कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि

ऋग्वेद में:—९.६३,९ में 'सूर्य ने दस हरितों को जोड़ रक्खा है।'
" १.५०,८ ' हे सूर्य तुम्हें सात हरित ले आते हैं।
" ४.१३, ३ में "जगतद्रष्टा सूर्य को सात हरित ले आते हैं।"

कुछ प्रसंग ऐसे भी हैं, जहाँ इन शब्दों का अधिक मानवीकरण हुआ है,

जहाँ उषा को अश्वा (घोड़ी) कहा गया है। इन हरितों को भी सात बहनें कहा गया है (७'६६,१५); एक प्रसंग में (६,८६, ३७) उन्हें पर युक्त हरित् कहा गया है। यह सब कह लेने के पश्चात् शायद अब इसकी आवश्यकता नहीं रह गयी है कि हम भारतीय हरितस् की ग्रीस के चौराइटस की समानता सिद्ध करें।

अब हम हरितस् एवं चौराइट्स (संस्कृत रूप चरितस्) को समरूपी मान कर चलेंगे। इसी साम्य के बल पर हमें इरॉस शब्द पर विचार करना है, क्योंकि प्रायः इरॉस और चौराइट्स का एक ही प्रसंग में प्रयोग किया गया है। आदि भाषा के शब्दों के रूप संस्कृत एवं ग्रीक में कुछ नियमों के साथ लिये गये हैं। इस प्रकार इरॉस का अन्तिम पद ऑस संस्कृत का वस् (कर्ता) पुल्लिंग में वान् स्त्रीलिंग में उषी (जैसे विदुषी में) एवं नपुंसकलिंग में वत् का रूप ले लेता है। इसी क्रम में हम वत् का भी विचार कर लें, जिसका पुल्लिंग वात्, स्त्रीलिंग वर्ता तथा नपुंसक रूप वत् होता है। संस्कृत में इकार की कोई भी ध्वनि इ से छोटी नहीं होती और ग्रीक अक्षर P संस्कृत के र का समरूप है। इस प्रकार ग्रीक भाषा का इरॉस यदि संस्कृत में लिखा जाय तो उसका रूप अर्वं स, जिसका कर्तारूप अर्वन होगा। यह सत्य है कि हमें संस्कृत के अर्वन या अरुष से ऐसा कोई अर्थ नहीं मिलता, जो इरॉस से मिलता-जुलता हो, किन्तु अर्वत का अर्थ परवर्ती संस्कृत में अश्व होता है, जिसका मौलिक अर्थ था तेज दौड़ने वाला। यह शब्द सूर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। कहीं तो यह शब्द सूर्य के नाम रूप में प्रयोग में आया है और कहीं विशेषण के रूप में। प्राचीन भाषाओं में पर्यायवाची शब्दों के बाहुल्य के कारण जो लोग सूर्य को अर्वत कहते थे, वे साथ ही साथ द्रुतगति के अर्थ का बोध कराने वाले घोड़े या सवार का भी विचार रखते थे। यद्यपि अर्वत् शब्द से द्रुतगामी सूर्य का ही बोध होता था, फिर भी तेज गति के कारण उससे घोड़े या सवार का भी बोध किया जाने लगा। कुछ सन्दर्भों में यह शब्द केवल घोड़ों के लिये ही प्रयोग में आया है, जैसे १'६१, २० में "सोम भगवान हमें गायें देते हैं, तेज घोड़े देते हैं और बलवान पुत्र देते हैं।"

ऋग्वेद १'१५२,५ में, "सवार बिना घोड़े के ही जन्मा, उसके पास लगाम भी नहीं थी" में अर्वत् शब्द घुड़सवार के लिये प्रयुक्त हुआ है।

उपरोक्त उद्धरण में सवार का प्रयोग सूर्य के ही लिये हुआ है, उदय कालीन सूर्य के लिये। एक पूरी ऋचा ही इसी प्रसंग में सूर्य के स्तवन में कही

गयी है और इस पूरी ऋचा में सूर्य को अश्व रूप में ही स्मृत किया गया है। वास्तव में विचारों एवं भाषा का विकास-क्रम उस समय इतना तेज था कि किसी शब्द के किसी अर्थ को स्थायित्व नहीं मिल पाता था। इसी द्रुतगति के कारण सूर्य को ही अर्वत कह दिया गया और यह शब्द भी सूर्य के अर्थ में उसी प्रकार चल निकला जैसे सूर्य या आदित्य चलते थे। कभी-सूर्य में निहित ज्वलनशीलता को भी सूर्य ही कहा गया है।

पूर्व इसके कि हम यह दिखा सकें कि सूर्य के नामों का यह सूत्र ग्रीस में प्रेम के देवता के नाम रूप में कैसे आ गया, हमको यह भी देख लेना पड़ेगा कि कभी-कभी घोड़ों को अर्थात् सूर्य की किरणों को हरित: रोहित: (या रोहिता:) तथा अरुषी: (या अरुषा:) भी कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि ये नाम मौलिक रूप में विशेषण थे, जिनका अर्थ होता था लाल, उज्वल या भूरा, परन्तु धीरे-धीरे ये ही विशेषण देवों के यानों के नाम रूप में अर्थात् संज्ञा के रूप में प्रयोग में आने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं:—

ऋग्वेद २·१०,२ "हे चमकदार अग्नि सुनो, मेरी प्रार्थना को, चाहे दो काले घोड़े (श्यावा:) चाहे दो गुलाबी रंग के घोड़े रोहिता:) या दो लाल घोड़े (अरुषा:) तुम्हारे रथ में जुते हों।"

फिर ऋग्वेद ७·४२. २ में "हरिता:, रोहिता: या अरुषा: जो भी घोड़े तुम्हारे अश्वशाला में हैं, उन्हें अपने रथ में जोतो।"

अरुषी शब्द का प्रयोग गायों के लिये भी हुआ है। ऋग्वेद ८,५५,३ में एक ऋषि का कथन है कि उसे चार सौ गाएँ (अरुषीणाम् चतु: शतम्) मिली है। ये गौवें शायद सूर्य की किरणें हैं और ऐसी स्थिति में "उज्वल गौएँ लौट आयीं" का शायद यही तात्पर्य था कि "प्रभामय उषा फिर आ गयी।" हम देख चुके हैं कि हरितस् का प्रयोग सात बहनों के रूप में भी हुआ है। इसी प्रकार का अर्थ परिवर्तन अरुष: शब्द के अर्थ में भी हुआ होगा।

ऋग्वेद १०.५,५. "वह सातो भगिनियों को लाया जिन्हें अरुषी: कहते हैं या जब सूरज ऊपर आता है तो गौवे पानी में विहार करती हैं (ऋ० १०, ८, ३)

संस्कृत के छात्रों को यह बताने की आवश्यकता नहीं है कि अरुषो शब्द स्त्रीलिंगीय रूप है अर्वस का, जिसका कर्ता कारक में अर्वान् रूप होता है, तब

अर्वती शब्द स्त्रीलिंग है अर्वत् का, जिसका कर्तागत रूप होता है अर्व। इसी प्रकार जानने वाले, ज्ञानी के अर्थ में विद्वन् का प्रयोग होता है, जिसका स्त्रीलिंगीय रूप है विदुषी। ठीक इसी नियम के अनुसार अर्व का अरुषी हो गया है।

अरुष शब्द हमें ग्रीक शब्द इरॉस तक सरलता से पहुँचा देता है, जो द्युतिमान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। ऋग्वेद ७. ७५.६. में "चमकदार लाल रंग के घोड़े हमारे पास द्युतिमान उषस् को लाते हैं।"

इन्द्र, अग्नि तथा बृहस्पति के घोड़े वायुवेग वाले हैं, सूर्य के समान कान्तिमान हैं, अंधेरे की गौ को लात मार कर भगा देते हैं वे ही अरुषा हैं; दिन निकलने के समय का धन्ध, सूर्य के वे अंग जो उसे उच्चाकाश पर चढ़ाने में सहायक होते हैं, इन्द्र का वज्र, रात और दिन में दिखायी पड़ने वाली अग्नि इन सभी को अरुषः कहते हैं।

यह उत्तम प्रकार का सौरनायक (अग्नि या सूर्य) वेद में भी और ग्रीक माइथालॉजी में भी एक बच्चे के रूप में चित्रित किया गया है।

ऋग्वेद ३.१,४ को देखें :—'सात बहिनों ने उसे पाला है जो आनन्द पूर्ण है, उज्वल है तथा जो बढ़कर लाल रंग का हो गया है।'

वेद में अरुष शब्द बालारुण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, यह वह सूर्य है जो कृष्णवर्णीया रात्रि को दूर भगा देता है और उसी की प्रथम किरण संसार को जगाती है।

ऋग्वेद ७.७१,१ के अनुसार रात अपने बहन (उषा) से दूर चली जाती है, वह कृष्णवर्णी रात्रि अरुषः का पथ प्रशस्त करती है।"

जिस प्रकार इरॉस जीअस का बच्चा है, ठीक उसी प्रकार अरुषः द्यौस (दिवाः शिशुः) का बच्चा है।

ऋग्वेद ४.१५,६. "अग्निदेव को वे दिन-रात पवित्र करते रहते हैं, जैसे एक मजबूत घोड़े को दिन-रात खिलाया जाता है या जैसे द्यौस के शिशु अरुष को पवित्र किया जाता है।"

ऋग्वेद ४. ४६,२ "आवो हम अग्नि की पूजा करें जो द्यौस का शिशु है, शक्ति (अरुष) का पुत्र है और जो पत्र की पवित्र ज्योति है।"

यह देवता जन्मक्रम से सर्व प्रथम है क्योंकि वह (५.१,५) दिनों के प्रारम्भ में आता है अर्थात् अग्रे अह्नाम है; उषसाम् अग्रे है (७.८,१;१०.४५,५) क्योंकि 'उषा के प्रारम्भ में दिखायी पड़ता है। एक प्रसंग में उसकी दो पुत्रियों

की भी चर्चा है, एक जो सितारों से सज्जित है, दूसरी जो सूर्य प्रकाश से मण्डित है। ये दोनों बहनें दिन और रात हैं जो अन्य स्थलों में सूर्य की पुत्रियां मानी गयी हैं। जिन अर्थों में ग्रीकभाषा में प्रेम शब्द का प्रयोग हुआ है, उस अर्थ में अरुष शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता। वेद में प्रेम के देवता को स्थान भी नहीं मिला है। उत्तर कालीन संस्कृति में 'काम' को प्रेम का देवता माना गया है, उसका वेद में समावेश नहीं हुआ है। दसवें मण्डल में अवश्य यह शब्द आता है, परन्तु वहाँ भी यह प्रजनन का देवता है न कि प्रेम का। वेद में एक वर्णन ऐसा भी है जहाँ काम शब्द उदय कालीन सूर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। यह समूची ऋचा (२.३८ ६) सवितर् (सूर्य) को सम्बोधित है। इसमें कहा गया है कि, "वह शक्तिमय ज्वालापुंज की भाँति उदित होता है—वह अपनी प्रलम्ब बाहुओं को फैलाता है—वह वायु के समान है। जब वह अपने अश्वों को रोकता है, तो तमाम कार्य बन्द हो जाते हैं और उसके रास्ते पर ही चल कर रात आती है। अभी रात के ताने-बाने का अर्द्धांश भी नहीं समाप्त होता कि सूर्य फिर निकल आता है। तब अग्नि सभी मानवों के पास जाती है, वह सभी घरों में भी प्रवेश करती है, उसका प्रकाश शक्तिशाली होता है, और उसकी माँ उषा उसे सर्वाधिक भाग देती है अर्थात् मानव सर्वप्रथम उसे ही पूजते हैं। इसके बाद भी ऋचा आगे कहती है :

"वह अपने लम्बे डगों से विजय की इच्छा से वापस आया। तमाम मनुष्यों का प्रेम समीप आया। शास्वत आ गया पर अभी रात्रि का काम आधा भी नहीं हुआ था। रात्रि ने सवितर का आदेश माना"

उपरोक्त अंश में 'तमाम मनुष्यों का प्रेम' का अर्थ हो सकता है 'वह वस्तु, जिसे सब मनुष्य प्रेम करते हैं' या वह वस्तु जो अभिलिषित वस्तु प्रदान करती है; परन्त इन अर्थों में प्रयुक्त काम शब्द को हम आकस्मिक प्रयोग नहीं मान सकते।

पुराणों की परम्पराएँ वेद की अपेक्षा पर्याप्त बाद की हैं, परन्तु उनमें देवता काम के सौर नायक होने की और उषा द्वारा प्रेम किये जाने की बात को भुलाया नहीं गया है। हम देखते हैं कि काम (प्रद्युम्न) के पुत्र का नाम अनिरुद्ध (जिसको रोका न जा सके) है, उषापति है।

यदि हम उन सभी विचारों एवं भ्रमों को अपने समक्ष रक्खें, जो वेद में अर्वंत एवं अरुषः को चतुर्दिक् से घेरे हुए हैं तो इरॉस के विषय में कही जाने वाली कितनी ही पुराकथाओं का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। हीसियॉड के

अनुसार वह ज्येष्ठतम देवता है जो उस समय पैदा होता है जब पृथ्वी और अस्पष्ट अन्तरिक्ष ही थे। वेदानुसार 'अरुषः का ही जन्म दिनों के पूर्व में हुआ था।' वह देवताओं में कनिष्ठतम् है, चरितस् का मित्र है और मुख्य चरित एफ्रोडाइट का पुत्र है और एफ्रोडाइट को हम इरॉस का ही स्त्रीलिंग-वाची रूप मान सकते हैं (अग्न्यौवस्य के बदले उषा)। इन सभी पुराण कथाओं के रहस्य को उद्घाटित करने वाली कुंजी वेद में ही मिलती है। इरॉस या अरुष का प्रयोग उदयकालीन सूर्य के लिये हुआ है जो द्यौस् का पुत्र है। वही हरित्स को जोतता है और जो सूर्य हो या न हो उषा का प्रिय अवश्य ही है। इसके अतिरिक्त ग्रीक पुराकथाओं में इरॉस के कई पिता तो हैं ही; कई माताएँ भी हैं। इनमें से एक युग्म सैफ्फो का है जो अन्तरिक्ष एवम् पृथ्वी के द्योतक हैं और ये दोनों वैदिक द्यौस एवं इड़ा के ही प्रतिरूप हैं। भारत भारत ही है, ग्रीस नहीं है और यद्यपि हम कितने ही ग्रीक शब्दों का मूल भारत की उर्वरा भूमि में पा सकते हैं, फिर भी आर्यन भाषा, आर्यन् काव्य और आर्यन् पुराणशास्त्र का आनन्द हेलास में ही पाते हैं, जिसमें प्लाटो इरॉस शब्द को समझाता है।

हीगेल ग्रीक और संस्कृत की मातृभाषा के रूप में आर्यन् भाषा की खोज को उतना ही महत्व देता है, जितना महत्व नयी दुनिया की खोज को दिया जाता है। यही बात हम ग्रीक भाषा एवं संस्कृत भाषा की पुराकथाओं के लिये भी कह सकते हैं। यह खोज जब सम्पूर्णता को पहुँच जायगी तो तुलनात्मक पुराणशास्त्र भी उतना ही महत्वपूर्ण हो जायगा, जितना महत्वपूर्ण आज तुलनात्मक भाषा विज्ञान हो रहा है। मैंने इस बार कुछ ही पुराकथाओं को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है और ये सभी कथाएँ एक छोटी-सी परिधि को ही स्पष्ट करती हैं। यदि समय होता तो इसमें बहुत कुछ जोड़ा जा सकता था। जिनकी इस विषय में रुचि हो वे 'जर्नल आव कम्पेरेटिव फाइलोलॉजी' में प्रकाशित तथा मेरे विद्वान् मित्र श्री कुन द्वारा लिखित लेखों को पढ़ें, जिसमें उन्होंने तुलनात्मक पुराणशास्त्र को तुलनात्मक भाषा विज्ञान के समकक्ष कर दिया है। डा० कुन ने ही वेदों की आख्यायिकाओं की समरूपता की खोज अन्य भाषाओं में भी किया है, उनकी कितनी ही अव्यवस्थाओं को व्यवस्थित किया है; और यद्यपि कई बातों में मैं उनसे सहमत नहीं हूँ फिर भी मेरा विश्वास है कि इस विषय के छात्रों एवं शोध-कार्य करने वालों के लिये वे महत्वपूर्ण होंगे। मेरा विश्वास है कि अभी इस क्षेत्र में बहुत कुछ करने को शेष है, फिर भी मैं सोचता हूँ कि वेदों की सहायता लेकर भी ग्रीक-पुराकथा शास्त्र का समूचा अंग शायद

ही कभी बुद्धिगम्य हो सके। परन्तु यह तो कोई बाधा नहीं है। यह सत्य है कि अनेक ग्रीक शब्द ऐसे हैं जो व्यौत्पत्तिक रूप से हमारे लिये कभी भी बुद्धिगम्य नहीं हो सकते, फिर भी इनकी सहायता से एक विवेकपूर्ण पंथ का निर्माण तो किया ही जा सकता है। यदि हम ग्रीक-पुरा-कथाओं के एक अल्पांश को ही बुद्धिगम्य बना सकें तो हम यह कह सकने की स्थिति में तो आ ही जाँयगे कि जो नियम इन पुराकथाओं के एक अंश पर लागू हो सकता है, वही नियम शेषांश पर भी लागू होना चाहिये। यद्यपि हम सभी शब्दों को व्यौत्पत्तिक रूप से नहीं समझा सकते, फिर भी हम यह कह सकने की स्थिति म तो हो ही जायेंगे कि भाषा के व्युत्पत्ति शास्त्र का भी एक महत्व है और उसके मूल्याकन म कभी कोताही नहीं करनी चाहिये। तब कोई यह नहीं कह सकेगा कि 'ये पुराकथाएँ उस अतीत का चित्रण करती हैं जो कभी भी वर्तमान नहीं रहा।' यद्यपि होमर तथा हीसियॉड में यह स्पष्ट दिखायी देता है कि उनकी पुराकथाओं का अर्थ स्वयम् उनके लिये भी सर्वांशतः बुद्धिगम्य नहीं था, फिर भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उनको स्वयम् उन शब्दों का व्यौत्पत्तिक अर्थ नहीं ज्ञात था, जिनकी सहायता से उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की। यदि ग्रीकों को यह बात मालूम होती कि इवस के माने आकाश के होते हैं तो वे यूरेनस के बदले में कभी भी इस शब्द का प्रयोग नहीं करते। फिर यूरेनस स्वयम् एक पौराणिक शब्द है, जो पहले गुणवाचक विशेषण था, परन्तु बाद में व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में हो गया। कालान्तर में डायोनिशस का प्रयोग शराब के लिये तथा सेरिस का प्रयोग रोटी के लिये होने लगा तो हमें यह सोचना चाहिये कि ये सब प्रयोग लक्षण के हैं न कि अभिधा के। आज हम एथेने, चैंरिस, हेरा इत्यादि शब्दों का स्पष्टार्थ अवश्य जानते हैं पर वे प्राचीन ग्रीस वासियों के लिये। ये उस प्रकार से बुद्धिगम्य नहीं थे, जिस प्रकार आज वे हमारे लिये हो गये हैं। भाषा विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि भाषा में न तो कुछ अविवेक पूर्ण है और न ही आधार विहीन। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पुरा-कथा-शास्त्र में पर्याप्त श्रमपूर्ण शोध किया जाय तो हम इसी प्रकार की बात इस शास्त्र के लिये भी कह सकने की स्थिति में आ जायँगे। पुराण-शास्त्र एक स्थानीय भाषा के सदृश है, एक अति प्राचीन स्थानीय भाषा। उस समय की सभी बातें इसी भाषा में लिखी गयी हैं। हाँ हमें इतना ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि माइथालोजी भिन्न है दर्शनशास्त्र से, इतिहास से, धर्मशास्त्र से और अध्यात्म शास्त्र से।

—:*:—

ही कभी बुद्धिगम्य हो सके। परन्तु यह तो कोई बाधा नहीं है। यह सत्य है कि अनेक ग्रीक शब्द ऐसे हैं जो व्यौत्पत्तिक रूप से हमारे लिये कभी भी बुद्धिगम्य नहीं हो सकते, फिर भी इनकी सहायता से एक विवेकपूर्ण पंथ का निर्माण तो किया ही जा सकता है। यदि हम ग्रीक-पुरा-कथाओं के एक अल्पांश को ही बुद्धिगम्य बना सकें तो हम यह कह सकने की स्थिति में तो आ ही जाँयगे कि जो नियम इन पुराकथाओं के एक अंश पर लागू हो सकता है, वही नियम शेषांश पर भी लागू होना चाहिये। यद्यपि हम सभी शब्दों को व्यौत्पत्तिक रूप से नहीं समझा सकते, फिर भी हम यह कह सकने की स्थिति म तो हो ही जायेंगे कि भाषा के व्युत्पत्ति शास्त्र का भी एक महत्व है और उसके मूल्याकन म कभी कोताही नहीं करनी चाहिये। तब कोई यह नहीं कह सकेगा कि 'ये पुराकथाएँ उस अतीत का चित्रण करती हैं जो कभी भी वर्तमान नहीं रहा।' यद्यपि होमर तथा हीसियॉड में यह स्पष्ट दिखायी देता है कि उनकी पुराकथाओं का अर्थ स्वयम् उनके लिये भी सर्वांशतः बुद्धिगम्य नहीं था, फिर भी मैं यह स्वीकार करता हूँ कि उनको स्वयम् उन शब्दों का व्यौत्पत्तिक अर्थ नहीं ज्ञात था, जिनकी सहायता से उन्होंने अपने ग्रंथों की रचना की। यदि ग्रीकों को यह बात मालूम होती कि इवस के माने आकाश के होते हैं तो वे यूरेनस के बदले में कभी भी इस शब्द का प्रयोग नहीं करते। फिर यूरेनस स्वयम् एक पौराणिक शब्द है, जो पहले गुणवाचक विशेषण था, परन्तु बाद में व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में हो गया। कालान्तर में डायोनिशस का प्रयोग शराब के लिये तथा सेरिस का प्रयोग रोटी के लिये होने लगा तो हमें यह सोचना चाहिये कि ये सब प्रयोग लक्षण के हैं न कि अभिधा के। आज हम एथेने, चैरिस, हेरा इत्यादि शब्दों का स्पष्टार्थ अवश्य जानते हैं पर वे प्राचीन ग्रीस वासियों के लिये। ये उस प्रकार से बुद्धिगम्य नहीं थे, जिस प्रकार आज वे हमारे लिये हो गये हैं। भाषा विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि भाषा में न तो कुछ अविवेक पूर्ण है और न ही आधार विहीन। हमें आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि पुरा-कथा-शास्त्र में पर्याप्त श्रमपूर्ण शोध किया जाय तो हम इसी प्रकार की बात इस शास्त्र के लिये भी कह सकने की स्थिति में आ जायँगे। पुराण-शास्त्र एक स्थानीय भाषा के सदृश है, एक अति प्राचीन स्थानीय भाषा। उस समय की सभी बातें इसी भाषा में लिखी गयी हैं। हाँ हमें इतना ध्यान अवश्य रखना पड़ेगा कि माइथालोजी भिन्न है दर्शनशास्त्र से, इतिहास से, धर्मशास्त्र से और अध्यात्म शास्त्र से।

—:*:—

पुराणशास्त्र का दर्शन

(रावल इंस्टीट्यूशन में सन् १८७१ में दिया गया एक भाषण)

हमारे आज के युग में पुराणशास्त्र का क्या महत्व है ? हमको इससे क्या मतलब है कि क्रोनस गीया तथा यूरेनस का पुत्र था ? हम इसका तात्पर्य ढूँढ़ने का प्रयत्न ही क्यों करें कि यदि क्रोनस ने अपने से ही जन्मे हुए हेस्टिया, डेमेटर, हेरा, प्लूटॉन तथा पेरसीडॉन को उसी समय निगल लिया था, जब उनका जन्म ही हुआ था ? हमको क्रोनस की स्त्री रिहया की इस कथा से क्या मतलब है जिसके अनुसार अपने सबसे छोटे बच्चे को निगल लिये जाने से बचा रखने के लिये क्रोनस को एक पत्थर दे दिया था जिसे वह निगल गया ? हम यह जानने का प्रयत्न ही क्यों करें कि किस प्रकार उस रक्षित पुत्र ने क्रोनस को कोई ऐसी वस्तु खिला दिया, जिसने उसके पांचो भाई-बहिनों को जीवित रूप में ही उगल दिया ? हम क्या सोचेंगे यदि हम बहुप्रशंसित कवियों द्वारा रचित काव्यों में यह देखें कि ये उगले हुए जीव ही आगे चलकर ग्रीस के महान देवताओं के रूप में प्रतिष्ठित हुए, जिन पर होमर को विश्वास रहा, जिनकी प्रशंसा प्रीडियस ने की ? हम इस प्रकार की भयोत्पादक बातें सुने ही क्यों कि टेंटलस ने अपने पुत्र को ही मार डाला और देवताओं के सामने भोजन रूप में परस दिया, देवताओं ने उसे खाने से असहमति प्रगट की, उसके अंग-अंग को फिर से जोड़ा तो उसका एक कंधा गायब था, जिसके स्थान पर देवताओं ने हाथी दाँत का कंधा लगा दिया, जिसे खुद डेमेटर ने ही खा लिया था ?

क्या इससे भी अधिक अविश्वसनीय, इससे भी अधिक पशुतापूर्ण, अज्ञानतापूर्ण एवं अधम घटना की चर्चा हम कहीं पा सकते हैं और उस पर क्षणमात्र के लिये भी विश्वास कर सकते हैं ? हमें तो उन बच्चों पर दया आनी चाहिये जो होमर एवं विरजिल के मोह में फँस कर इस प्रकार की विश्वासातीत बातों को शौक से या विवशतः पढ़ते हैं। एक बार तो हम इस स्थिति पर पहुँच सकते हैं, जहाँ हम यह सोचने को वाध्य हो जाँय कि जिसे दुनिया में कुछ बनना

हो, जिसे दुनिया में कुछ कर दिखाना हो, उसे इन अविश्वसनीय गाथाओं से बचना चाहिये।

फिर भी, यह कितनी विचित्र बात है कि जब से मानव के मन में प्रथम 'क्यों ?' का उदय हुआ तब से लेकर हमारे समय तक (जब लोगों के विचार परिपक्व हो चुके हैं और लोग हर प्रकार के प्रश्नों का समाधान ढूढ़ने में लग चुके हैं) लोगों का विचार पुराण, पुराणशास्त्र तथा पौराणिक गाथाओं के अध्ययन में निरन्तर लगा हुआ है। प्राचीन दार्शनिक गण जो पहाड़ों की चोटियों पर विविध जीवों के अवशेषों को देख कर भी उनका कुछ न ध्यान करते हुए (कि वे वहाँ कैसे आ गये) अपने विचारों में मस्त चले जाते थे, उनको भी शंका होने लगती थी, जब कभी वे प्राचीन देवताओं या नायकों के विषय मे कोई आख्यान सुनते थे। उससे भी विचित्र बात यह है कि वर्तमान काल के दार्शनिक इन प्राचीन समस्याओं को एक बार जान लेने पर इनकी समस्याओं को जानकर चमत्कृत हो उठते हैं। जो दार्शनिक विचारधारा डेकार्टे (१५५६–१६०५, यही अकबर महान् का शासन काल है) के समय से दो विभिन्न धाराओं में चलती थी और जिसकी आदर्शवादी धारा के विचारकों में मेलब्रांश (१६३८–१७१५), स्पिनोजा (१६३५-१६७७), और लिपनिज (१६४६-१७१५) तथा जिसकी इन्द्रियानुभूति पूर्ण विचारधारा में लॉक (१६३२-१७०४), डैविड ह्यूम तथा कारिडलक (१७१५-१७८०) मुख्य थे और जो दोनों कान्ट (१७२४-१८०४) में आकर पुनः एक में मिल कर बहने लगीं. उस धारा को शेलिंग (१७७५-१८५४) तथा होगेल (१७७०-१८३१) ने आगे बढ़ाया। दर्शन की यह आधुनिक विचारधारा वहीं समाप्त हुई, जहाँ से प्राचीन धारा शुरू हुई थी और यह संगमस्थल वही है जिसे हम पुरा-कथा-शास्त्र या पुराणशास्त्र कहते हैं। हम सभी जानते हैं कि शेलिंग की विचारशैली में पुराण-शास्त्र को ही सर्वाधिक महत्व मिला था, जिसे हम पॉजिटिव फिलासफी के नाम से जानते हैं। स्मरण रहे कि शेलिंग को फिलासफी की यह नामकरण उसकी मृत्यु के बाद किया गया था।

मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि शेलिंग और एरिस्टाटिल ने पुराणशास्त्र पर एक ही दृष्टिकोण से विचार किया था कि इन दोनों को ही एक ही प्रकार की या समान प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ा, फिर भी जिस किसी ने भी पुराणशास्त्र पर विचार किया या लिखा है, उन सबसे एक यही साम्य पाया जाता है कि वे सब के सब उसको सत्य या ठीक वही नहीं मानते थे जो स्पष्ट

दिखायी देता था। उनके अनुसार इन कथाओं में से सत्य को खोज कर निकालना था चाहे वह धार्मिक प्रणाली में मिले या मानव मस्तिष्क के विकास-क्रम में मिले या भाषा के जीवन प्रवाह के परमानन्द रूप में मिले।

कुछ लोगों के अनुसार 'पुराणशास्त्र कथाओं के रूप में इतिहास ही है', अन्य कुछ लोगों के अनुसार 'पुराणशास्त्र की कथाएँ ही इतिहास के रूप में आ गयी हैं।' कुछ लोग प्राचीन कवियों के काव्यों की भाषा में नैतिक दर्शन के उदाहरण खोजते हैं, दूसरे लोग इन पंक्तियों में प्रकृतिगत शक्तियों, विशेषकर सूर्य, चन्द्रमा, सितारों, दिन-रात के परिवर्तनों, ऋतु परिवर्तन तथा वर्ष के प्रति वर्ष लौट आने की प्रक्रिया को ही प्राचीन-काव्य जगत में खोजते हैं।

पाइथागोरस का शिष्य था एपीचार्मस। उसने अधिकार पूर्वक कहा कि होमर के काव्य में जिन देवताओं के दर्शन हमें होते हैं वे वास्तव म ग्रीस के देवता नही हैं अर्थात् होमर द्वारा वर्णित देवताओं का ग्रीस के वास्तविक देवताओं से कोई साम्य नहीं है। क्योंकि होमर के काव्य में वे हमें उन व्यक्तियों के सदृश दिखायी पड़ते हैं जो मानवेतर शक्तियों से युक्त थे सही; परन्तु उनकी चारित्रिक अपूर्णताएँ, उनकी वासनाएँ मानव से भी निम्न प्रकृति की थीं। उसके अनुसार ये देवता थे, वायु, जल, पृथ्वी, सूर्य, अग्नि और तारे। उसके समय के थोड़े ही दिनों बाद हुआ इम्पिडाकिल्स, जिसने बताया कि समस्त प्रकृति चार प्राकृतिक उपादानों के विविधि सम्मिश्रण से बनी है। उसी ने घोषित किया कि जीअस अग्नि तत्व था, हेयर वायु तत्व था, एडोनिस या प्लूटान पृथ्वी तत्व था और नेस्टिस जल तत्व था। वास्तव में ग्रीस के स्वतंत्र विचारकों ने विचार और अस्तित्व के नियमों में जो कुछ भी खोज की उन सभी का समावेश जीअस तथा ओलम्पिक माइथोलाजी के अमानवीय (या यों कहें कि अतिमानवीय) चरित्रों के रूप में हो गया, चाहे एनेग्जिमेनस द्वारा प्रतिपादित वायु हो या हेराक्लिटस द्वारा प्रतिपादित अग्नि हो या अनेक्सेगोरस द्वारा प्रचारित नोस या मन हो। मेट्रोडोरस एनेक्सेगोरस का समकालीन था। उसने इस परम्परा को और भी आगे बढ़ाया। जब कि एनेक्सेगोरस जीअस को नोस मान कर संतुष्ट हो गया होता या अधिक से अधिक यह मानकर संतुष्ट हो गया होता कि नोस का ही दूसरा नाम जीअस है, जिसमें सर्वोच्च प्रतिभा है, जो चलाने वाला है, कार्य करने वाला है तथा सभी चीजों का नियंत्रक है; मेट्रोडोरस दो कदम और भी आगे बढ़ गया। उसने जीअस, हेअर तथा एथेने की कल्पना को और भी आगे

बढ़ाया और इनमें मानव राजाओं और नायकों को भी सम्मिलित कर दिया; जैसे आगमेनन, एकिलस तथा हेक्टर। उसने इन मानवों को भौतिक उपादानों के सूचक नामों में मिलाकर उन्हें रूपक के पारदर्शक पर्दे में छिपाकर लोगों के सम्मुख रक्खा।

यह सर्वविदित है कि सुकरात ने इन उपमाओं एवं रूपकों को समझने, समझाने के प्रयत्न को एक व्यर्थ प्रयत्न के रूप में ही स्वीकार किया था, परन्तु अन्तर्गत भावनाओं एवं अन्तर्निहित वास्तविकताओं को उसने भी माना था और प्लाटो ने भी, अर्थात् उसने भी माना था कि प्राचीन कथाओं का वही अर्थ नहीं है, जो प्रथम दृष्टि में सामने आता है पर उनमें कुछ और अर्थ भी निहित है जो सरलता से दृष्टि-पथ में या विचार-पथ में सामने नहीं आता।

अरस्तू ने पर्याप्त स्पष्ट रूप से कहा है :—"प्राचीन काल के हमारे पूर्वजों से ही पुरा-कथाएँ हमें उत्तराधिकार में मिली हैं और उन्हीं से यह पावन उपदेश हमें मिला है कि यही हमारे देवता हैं तथा यह कि समस्त प्रकृति को स्वर्ग का प्यार मिला है। इससे आगे भी इन्हीं बातों को सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य बनाने की आकांक्षा से उसमें कितनी ही और कथाएँ भी जोड़ दी गयी हैं। इसी प्रेरणा के वशीभूत होकर वे कहते हैं कि देवता भी मानव-तन-धारी होते हैं, साथ ही वे अन्य जीवों के समान भी हो सकते हैं तथा वे जड़ वस्तुओं का रूप भी ले सकते हैं। यदि इन कथाओं का विश्लेषण किया जाय और उसमें से मौलिक तत्व को ले लिया जाय अर्थात् यह मान लिया जाय कि पुराकालीन मानव का विश्वास था कि 'जीवन के मूल देवता ही हैं" तो लोग यह सोचने लग जायँगे कि यह स्वर्गीय वाणी है। हर प्रकार की कला एवं हर प्रकार के दर्शन का जन्म होता है, प्रचार होता है और उनकी मृत्यु भी हो जाती है, परन्तु यह पुराण भावना ज्यों की त्यों है और आज भी सुरक्षित है। हमारे सुदूर पूर्वजों द्वारा हमारे निकटस्थ पूर्वजों को दिया हुआ एवं वर्तमान पीढ़ी तक अभंग रूप से चला आते रहने वाला यह पुराणशास्त्र है। हम इतना ही स्पष्टता पूर्वक जानते हैं।"

मैंने ऊपर कितने ही ग्रीक दार्शनिकों के उद्धरण दिये हैं और थोड़े प्रयत्न से ही कितने ही अन्य उद्धरण और भी दिये जा सकते हैं। इन उद्धरणों का तात्पर्य यह है कि हम यह समझ जायँ कि सुदूर अतीत में भी ग्रीक विद्वानों ने इन पौराणिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयास किया है। इसका दूसरा तात्पर्य

यह था कि ग्रीक छात्रों एवं अन्य लोगों का यह भ्रम दूर हो जाय कि होमर के अतिरिक्त अन्य कहीं इस रहस्य की कुंजी की खोज करना तुलनात्मक-पुराण-शास्त्र के समर्थकों का एक हथकंडा मात्र है।

इसमें सन्देह नहीं कि ग्रीक लोग थे ,उनमें महत्वपूर्ण लोग भी थे, जो अपने देवताओं से सम्बन्धित गाथाओं में आये हुए देवताओं एवं नायकों को अभिधात्मक रूप में ग्रहण करते थे, परन्तु होमर तथा हीसियॉड के विषय में उनका क्या कहना है ? जोनॉफेनस पाइथागोरस का समकालीन था। उसके विचार ग्रीस वासियों में व्याप्त भ्रान्त विश्वासों के लिए मुख्यतः होमर तथा हीसियॉड ही उत्तरदायी थे। इस विषय में वह हेराडेटस का समर्थक है, जब वह कहता है कि इन्हीं दोनों ने ग्रीस की नैतिक भावना को बनाया, देवताओं का नामकरण किया, उनके आकार-प्रकार का वर्णन किया एवं उन्हें विभिन्न कलाओं का स्वामी बना दिया। इसके आगे चलकर वह हेराडोटस से भी भिन्न मत का हो जाता है। वह कहता है कि, 'होमर एवं हीसियॉड ने देवताओं में उन अवगुणों को आरोपित कर दिया, जिन्हें साधारण मानव भी घृणा की दृष्टि से देखता है, फिर भी वे घोषित करते हैं कि इन देवताओं ने जो कुछ किया चाहे वह छल, कपट, चोरी या व्यभिचार ही हो, सब विधानतः ठीक ही था।' ऐसा प्रतीत होता है जैसे मानव ने स्वयं ही देवताओं की सृष्टि की हो, उनको अपनी ही ध्वनि दिया हो और स्वेच्छानुसार ही आकृति प्रदान की हो। यूथोपिया वालों के देवता काले हैं, उनकी नाक चपटी है; थ्रेशियन्स के देवता लाल बालों वाले एवं नीली आँखों वाले हैं। प्रायः ४६० वर्षों ईसा पूर्व हेराक्लिटस ने घोषित किया कि होमर का वहिष्कार कर देना चाहिये। एक कथा कही जाती है कि पाइथागोरस (५४० ई० पू० के आसपास) ने होमर को नर्क में एक वृक्ष से लटकाया हुआ देखा था। प्लाटो ने होमर के विरुद्ध जितना कुछ कहा है, उससे अधिक कोई किसी के विरुद्ध कहेगा भी क्या ? प्रोफेसर जोवेट ने प्लाटो के रिपब्लिक का एक सुन्दर अनुवाद प्रकाशित किया है और मैं उसकी कुछ पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ:—

'आप होमर, हीसियॉड तथा अन्य कथाकारों में क्या दोष देखते हैं ?'

'उनका दोष बहुत ही गम्भीर है और वह दोष है झूठ बोलने का'

'परन्तु यह अपराध कब किया गया ?'

'जब भी देवताओं एवं नायकों की प्रकृति का गलत चित्रण किया गया।'

'हाँ, यह दोष तो अवश्य दोषारोपण करने योग्य है, परन्तु किन कहानियों से आपका तात्पर्य है ?

'प्रथमतः, उसने यूरेनस के विषय में जो कुछ कहा वह प्रथम श्रेणी का झूठ है अर्थात् यूरेनस एवम् क्रोनस द्वारा किये गये कार्य। वास्तविकता तो यह है कि यदि ये बातें सत्य भी हों तो भी उन्हें इस रूप में बच्चों एवं जनसाधारण के समक्ष नहीं रखना चाहिये था। इससे तो अच्छा था कि वे बातें अज्ञात ही रह गयी होतीं।'

जो लोग पुराणशास्त्र को धर्म का प्राचीन स्वरूप मानते हैं, उन्हें उपरोक्त वार्ता अवश्य अटपटी लगेगी, परन्तु यदि इलियड को ग्रीस वालों का बाइबिल (जैसा कि अनेकों का मत है) मान लिया गया होता तो किसी को भी ऐसा कहने का साहस नहीं होता। यदि इलियड सचमुच ग्रीसवासियों के लिए बाइबिल के समान आदरणीय होता, तो उपरोक्त वार्ता से अनेक लोग चौंक उठते। हम लोगों को इस सत्य को सदा स्मरण रखना है कि जेनॉफेन ने तमाम पौराणिक देवताओं को अस्वीकृत करके केवल एक महान् देवता परमात्मा पर श्रद्धा प्रगट की थी "जो न शकल मे और न ही विचारों मे मानव सदृश है", परन्तु इसी एक मान्यता ने उसे अ-परम्परावादी होने से बचा लिया। अपनी आत्मा की आवाज को कहने के लिए, प्रचारित करने के लिए उसे राज्य ने कभी कोई भी दण्ड नहीं दिया वरन् इसके विपरीत निज कालीन समाज से उसे पर्याप्त समादर मिला। प्लाटो भी कभी दण्ड भागी नहीं हुआ। सुकरात को दण्ड दिया गया वह शुद्ध राजनैतिक कारणों से था। धर्म का उसमें कोई हाथ नहीं था। सुकरात के मर जाने पर उसके शिष्य प्लाटो ने सुकरात की विचार-धारा को काफी आगे बढ़ाया; परन्तु उसे सदैव सम्मान ही मिला और वह यावज्जीवन एथेंस में अध्यापन-कार्य करता रहा।

आजकल हम लोग धर्म शब्द को जिन अर्थों में ग्रहण करते हैं, उन अर्थों में तो पुराण ग्रन्थ कभी भी हमारे धर्म-ग्रन्थ नहीं रहे, इलियड को बाइबिल या ब्राह्मणों के वेद या पारसियों के जेंद अवेस्तां-सा आदर कभी नहीं मिला; फिर भी इस विचार में सत्यता अवश्य ही है कि ग्रीस के पुराण, उनके पौराणिक आख्यान उनके धर्म के ही अंग हैं। हमें इस स्थान पर भी और अन्य स्थानों पर भी शब्दों के अनुचित अर्थ एवं अनुचित प्रभाव से सदैव ही बचना चाहिए। धर्म भी एक शब्द है और इसका भी इतिहास है। प्रत्येक शती में इसका नया-सा जन्म होता है अर्थात् इसके अर्थ में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य हो जाता है। ऐसी स्थिति में ग्रीस वासियों के लिये और न ही भारत के ब्राह्मणों के लिए धर्म का वह अर्थ था, जो आज हमारे लिये बन गया है। कभी ऐसा भी होता है कि धर्म राष्ट्रीय या पारम्परिक बाना पहन लेता है जो व्यक्ति-

गत या नियमानुमोदित धर्म से अलग की वस्तु है। राष्ट्रीय या पारम्परिक धर्म भाषा के समान स्वदेशीय होता है, इसका कोई ऐतिहासिक प्रारम्भ काल नहीं होता, कोई इसका चलानेवाला नहीं होता और न ही कोई इसका अधिकृत धर्मग्रंथ होता है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत धर्म का कोई न कोई नींव डालनेवाला होता है और प्रायः वह किसी पारम्परिक धर्म के विरोध में उठ खड़ा होता है। उपरोक्त विभाजन न तो लाभजनक ही है और न हमारे काम का ही, क्योंकि इसके सहारे धर्म का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हो सकता, किन्तु हमारा काम इससे चल जायगा। हमें तो इतना ही देखना है कि ग्रीस वासियों के लिए धर्म क्या वस्तु थी और हमारे लिए धर्म का क्या अर्थ है। वस्तुतः ग्रीक धर्म पारम्परिक ही था अतः उसे इस धर्म की सुविधायें भी प्राप्त थीं और असुविधायें भी। ईसाई धर्म ऐतिहासिक है और व्यक्तिगत भी है। इसमें एक धर्म-ग्रंथ भी है, प्रचलन का निश्चित समय भी है, चलानेवाले व्यक्ति का भी पता है, इतिहास है और अन्य ज्ञान भी है। हमारे कहनेका यह तात्पर्य नहीं है कि एक प्रकार के धर्म में सब अच्छाइयाँ और दूसरे प्रकार के धर्म में सब बुराइयाँ ही बुराइयाँ हैं। वास्तविकता यह है कि कोई भी धर्म जब तक अपनी प्राकृतिक स्थिति में रहा अर्थात् जब तक राजकर्ताओं या पुरोहितों के स्वार्थ का साधन नहीं बना तब तक वह लोगों को स्वतंत्र विचार-धारा देता रहा और पवित्रता का जन्मदाता व त्राता बना रहा। ऐसी स्थिति में उनमें, उन धर्मों के माननेवालों में न तो असहिष्णुता ही थी और न परधर्म द्वेष ही; धार्मिक अत्याचारों का तो नाम ही नहीं हो सकता था। उस समय के लोग या तो किसी धर्म को मानते थे या उसका विरोध करते थे, और उनका किसी धर्म को मानना भी सत्य रूप था (न कि छद्मरूप) और उनकी प्रतिकूलता भी सत्य ही होती थी। उसमें न तो अनैतिकता को स्थान था और न कृत्रिमता को। ग्रीस में, विशेषकर प्राचीन ग्रीस में दर्शन शास्त्र अत्यधिक उन्नति कर गया और मेरे विचार से उसका एकमात्र कारण यही था कि वहां पर पुरोहितों का अत्यधिक दबदबा कभी नहीं रहा। इस दृष्टि से ग्रीसवासी प्रशंसा के पात्र रहे हैं। मुझे तो रोमांच हो आता है यह सोचकर कि यदि प्लाटो तथा अरस्तू न हुए होते तो दुनिया का क्या हो गया होता और यह सोचकर तो मैं काँप ही जाता हूँ कि कहीं आनेवाले किसी समय में युवकों के लिए इन प्रेरणाओं के साधन ही न बन्द हो जाँये। हमारा दुर्भाग्य ही है कि हम ग्रीक दार्शनिकों में प्राचीन प्रवक्ताओं के विषय में कुछ नहीं जानते। हमारा जो कुछ ज्ञान उनके विषय में है भी, उसकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। उनकी शिक्षाएँ भी हम तक अंशों

में ही पहुँच सकी हैं जो आसानी से समझ में नहीं आ पातीं। हममें कुछ प्रचलन ही इस प्रकार का हो गया है कि हम लोग थेल्स, पाइथागोरस, जेनॉफेन या हेराक्लिटोस को दार्शनिक मान लेते हैं और इन्हीं की स्फुट बातों को हमने दर्शन की संज्ञा दे रक्खी है। यदि निष्पक्ष होकर देखा जाय तो हमें होमर तथा हीसियॉड के गीतों में उतनी धर्म-चर्चा मिल जायगी, जितनी उपरोक्त दार्शनिकों की वाणी में मिलती है। यह भी सत्य है कि होमर तथा हीसियोड शक्ति के केन्द्र थे, परन्तु हमें यह न मान लेना चाहिए कि ग्रीस की ज्ञान-पिपासाधिक्य को इन्हीं दोनों विद्वानों ने पूरा किया है। प्राचीन बुद्धिमत्ता एवं दर्शन की धारा के साथ ही साथ पुराकथाओं एवं काव्य की धारा भी ग्रीस में साथ-साथ बही और ये दोनों ही धाराएँ ग्रीस वासियों की धार्मिक पिपासा को तुष्टि प्रदान करती थीं। हमें निष्पक्ष होकर इन प्राचीनों की वाणी पर अर्थात् जेनॉफेन एवं हेराक्लिटस की वाणी पर यह समझ कर विश्वास करना चाहिए कि इन लोगों ने जो कुछ भी कहा साधिकार कहा और उन्होंने स्वयमेव अपने को होमर एवं हीसियॉड के समकक्ष माना था, इतना ही नहीं, कई अर्थों में ये लोग अपने को होमर एवं हीसियॉड से अच्छा मानते थे, क्योंकि प्राचीन देवी-देवता इनके सम्मुख विघ्न रूप में कभी भी खड़े नहीं हो सके। आज तो धर्म का दर्शन के प्रति स्पष्ट विरोध सा दिखायी देता है, परन्तु प्राचीन काल में दर्शन या तो धर्म का सहचर था या सहायक।

पुरा-कथाओं के अर्थ एवं उद्देश्यों के विषय में हमने प्राचीनों का मत जान लिया, परन्तु एक प्रश्न की ओर या तो उसकी दृष्टि ही नहीं गयी या जान-बूझ कर उन्होंने इस प्रश्न को अनिर्णीतावस्था में ही छोड़ दिया, जबकि इसी प्रश्न के उत्तर पर पुराण-शास्त्र का सारा दारोमदार है। यदि पुरा कथाएँ इतिहास की ही कथा रूप हैं तो उन्हें इस रूप में परिवर्तित करने की आश्यकता क्या पड़ी? या यदि कथाओं को ही इतिहास रूप में बदल दिया गया हो, तो ऐसा क्यों किया गया? यदि इन कथाओं में नीति के उपदेश हैं तो उनमें इतनी अधिक अनैतिकता कहाँ से आ गयी? यदि इन कथाओं के नायक प्रकृत्ति के ही उपादान हैं तो इन्हें नायक तथा नायिकाओं के रूप में क्यों चित्रित किया गया? इन्हें कभी परी, कभी गड़ेरिया, कभी देवी-देवताओं के रूप में क्यों चित्रित किया गया? सूर्य को देवता कहकर पुकारना सरल है या उषा को देवी कहा जा सकता है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि ये सूचक शब्द बने कैसे? मानव को देवी, देवता, परी, नायक इन सबका ज्ञान सर्व प्रथम कैसे हुआ और प्रारम्भ में इन शब्दों को उन लोगों ने किन अर्थों में प्रयुक्त किया? वास्तव में जिस प्रश्न का

उत्तर हमें देना है, वह यह है–'क्या सम्पूर्ण पुराणशास्त्र कपोल कल्पना ही है या यह एक क्रमपूर्ण विकास प्राप्त शास्त्र है ? इसी को यदि हम और भी स्पष्टता पूर्वक पूछना चाहें तो इस प्रकार पूछ सकते हैं :—क्या पुराणशास्त्र संयोग-जनित है या अनिवार्य रूप से इसकी उत्पत्ति हुई है ? क्या यह एक गलत क़दम है या मानव-मस्तिष्क के ऐतिहासिक विकास क्रम में इस प्रकार का क़दम उठाना अनिवार्य था ? हमें इस प्रश्न को उपरोक्त प्रश्नों के प्रकाश में देखना है।

भाषा के इतिहास का अध्ययन प्रकारान्तर से विचारों के इतिहास के अध्ययन का एक अंश मात्र है। इसी अध्ययन ने हमें उपरोक्त प्रश्न का एक निश्चित उत्तर दिया है। पुराण-शास्त्र अवश्यम्भावी है, यह प्राकृतिक है, भाषा की अनिवार्य आवश्यकता है बशर्ते कि हम भाषा की इस परिभाषा को सही मान लेते हैं कि "विचारों की अभिव्यंजना ही भाषा है।" वास्तव में यह एक प्रकाशहीन छाया है जो भाषा विचारों पर डालती है। इस प्रकाशहीनता को हम तब तक समाप्त नहीं कर सकते जब तक कि भाषा विचारों की सत्य रूपेण सहगामिनी नहीं हो जाती और ऐसा होना प्रायः असम्भव ही है। वास्तव में पुराण शास्त्र मानव की आदिम विचार-प्रणाली की देन है, परन्तु यह आदिमकालीनता कभी भी समाप्त नहीं होती। आप विश्वास मानिये कि आज भी पौराणिक गाथाओं का वही महत्व है जो होमर के समय में था, केवल हमें उनकी ओर देख पाने की फ़ुरसत नहीं है, हममें इतनी शक्ति भी नहीं है, क्योंकि हम उन्हीं की छाया में अपना जीवन व्यतीत करते हैं और हम सत्य को, नंगे सत्य को, सर्वांशतः सत्य को देख सकने का साहस अपने में संजो नहीं पाते। हम यह स्पष्टता पूर्वक देख सकते हैं कि प्राचीन काल के लोग सूर्यवंशीय अथवा जीअस वंशीय कहलाने में अपने को गौरवान्वित मानते थे, अतः किसी का अपने को सूर्यकुलोत्पन्न कहना एक पौराणिक गाथा ही है। हम सरलता पूर्वक देख सकते हैं कि किस प्रकार इसी प्रकार की भावना के कारण अनेक आख्यायिकाओं का जन्म हुआ है, जिनके वशीभूत होकर मानव ने देवताओं से पिता-पुत्र का सम्बन्ध स्थापित किया। परन्तु हम यह देख पाने को प्रस्तुत नहीं हो पाते कि हमारा भाग्य ही ऐसा है कि हम उन रूपकों की छाया में भ्रमण करते रहें जो कल्पनाओं को दृश्य संसार के रूप में दिखाने को गढ़े गये हैं।

ऐसी स्थिति में यदि हम पुराण शास्त्र को इस शब्द की भावना के अन्तर्गत ही समझना चाहते हैं तो हमें अपने मानसिक क्षितिज को उस विस्तार तक ले जाना पड़ेगा, जिसके कारण इस शास्त्र का जन्म हुआ। हमें

यह जानना चाहिये कि ग्रीक पुराण-शास्त्र सम्पूर्ण पुराण-शास्त्र का एक अल्पांश ही है। यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो हमें पता चलेगा कि सारे संसार की धार्मिक पुरा-कथाएँ भी सम्पूर्ण पुराणशास्त्र का एक अंश मात्र ही हैं। हमें इस बात को थोड़ा और स्पष्टतापूर्वक कहना होगा।

विल्हेम वान हम्बोल्ट के समय से लेकर जिन लोगों ने भाषागतविज्ञान की गम्भीर समस्याओं पर विचार किया है वे अन्ततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि विचार और भाषा अविभाज्य रूप से अन्योन्याश्रयी हैं। न तो विचार के बिना भाषा का अस्तित्व सम्भव है और न भाषा के बिना विचार का ही जन्म हो सकता है। इन दोनों का सम्बन्ध बहुत कुछ ऐसा ही है, जैसा सम्बन्ध आत्मा एवं शरीर का है, शक्ति एवं कार्य का या तत्व तथा आकार का है। इस दृष्टिकोण के विरुद्ध जो आवाजें उठी हैं वे दृष्टिकोण अन्तर-जनित हैं और भ्रमों के कारण उनकी उत्पत्ति हुई है। यदि हम कहें कि अंतर्गत विचारों का बाह्य प्रकाशन ही भाषा है तो हम उस भाषा के बारे में नहीं कहते, जिसके शब्द शब्द-कोषों में संग्रहीत हैं, या व्याकरण ग्रंथों में सुव्यव-स्थित हैं। हमारा मतलब उस भाषा से है जो एक कार्य है, जिसके एक-एक शब्द बोले जाने के समय जीवित हो जाते हैं और पुनः मृत हो जाते हैं। शायद हम इसे भाषा के स्थान पर बोली कह सकते हैं।

फिर दूसरी बात यह है कि जब हम बोली की बात करते हैं तो उन संकेतों अथवा प्रतीकों को भी बोली के ही रूप में ग्रहण करते हैं जो बोलते समय व्यवहृत होते हैं। ये संकेत भी विचारवाहन होते हैं; अतः इन्हें भी विचारों के प्रकटीकरण का साधन, अभिव्यंजना का स्वरूप विशेष एवं इसीलिये भाषा कहा जा सकता है। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। हम मान लेते हैं कि बिना भाषा के हम सोच नहीं सकते, परन्तु क्या भाषा के बिना हम कुछ संख्याओं तक गिन भी नहीं सकते? हम निश्चय ही गिन सकते हैं। जैसे हम तीन की भावना को बिना तीन का अंक जाने ही हृदयंगम कर सकते हैं केवल तीन उंगलियाँ दिखाकर। इसी प्रकार पूरा हाथ ५ की संख्या का, दोनों हाथ १० की संख्या का एवं हाथ-पैर दोनों मिलाकर २० की संख्या का बोध कर या दे सकते हैं। भले ही इन संख्याओं का नामकरण भाषा की सहातता बिना हम न कर पायें। आज भी जो गूँगे हैं वे इसी प्रकार काम चलाते हैं। तीन अँगुलियों का काम तीन आघातों से भी लिया जा सकता है या जबान से ही तीन आवाजें निकालकर तीन का बोध कराया जा सकता है। ये सब के सब इशारे ही हैं, जिनमें से कुछ में परिपूर्णता है, कुछ में नहीं।

इशारे (चिन्ह) होने से ही ये भाषा की परिधि में आ जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हर प्रकार से भाषा ही विचारों की वाहिका है।

एक अन्य भ्रान्ति भी है और वह यह है—लोगों का सोचना है कि यदि बिना भाषा के सोचना असम्भव है कि तो भाषा एवं विचार को एक ही होना चाहिये, परन्तु भाषा का वास्तविक दर्शन इससे भिन्न बात कहता है। प्रत्येक दार्शनिक कहेगा कि पदार्थ की सत्ता बिना आकार के नहीं हो सकती और न पदार्थ के अभाव में आकार की ही सत्ता हो सकती है, परन्तु यह तो कोई भी दार्शनिक नहीं कहेगा कि पदार्थ और आकार को अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता। ठीक उसी प्रकार भाषा एवं विचार में से एक के बिना दूसरे की सत्ता नहीं है, फिर भी हम भाषा और विचार को अलग-अलग देख सकते हैं, नित्यप्रति देखते भी हैं; अर्थात् हम आन्तरिक एवं बाह्य विचारों को अलग-अलग करके देख सकते हैं। इतना ही नहीं, हम उससे भी एक कदम आगे जाते हैं। हमारा कहना है, भाषा विचारों को प्रभावित करती है और इसी कथन में पुराणशास्त्र का भेद निहित है।

अब आप समझ जायँगे कि उपरोक्त विवेचना की क्या आवश्यकता थी और मेरा दावा है कि जिन्होंने अब तक की वार्ता को समझा है वे पुराणशास्त्र के समूचे क्षेत्र का विहगावलोकन करने में अवश्य ही समर्थ होंगे।

अभी हमने देखा कि अंकों में से कुछ का काम इशारों से लिया जा सकता है। वस्तुतः अंक विश्लेषणात्मक भावनाओं के ही प्रतिरूप हैं और इसीलिये वे पुराणशास्त्र के अन्तर्गत नहीं आते। उनके अर्थ के विषय में कोई भ्रम भी नहीं हो सकता। ज्योंही हम विचारों के इस क्षेत्र को छोड़ते हैं त्योंही पुराणशास्त्र प्रारम्भ हो जाता है। कम से कम एक उदाहरण देकर मैं यह दिखाने का प्रयत्न करूंगा कि किस प्रकार पुराणशास्त्र धर्म के ऊपर छाया रहता है और आगे बढ़कर किस प्रकार समूचे विचार-जगत को अपने नियंत्रित क्षेत्र में ले लेता है।

अति प्रारम्भ काल में मानव ने सोचा कि जीवन के दो स्पष्ट विभाग हैं और इसमें प्रथम है शरीर, जो मर जाने पर भी ज्यों का त्यों ही रहता है। उन्होंने जीवित शरीर और मृत शरीर का मुख्य भेद यह पाया कि जो शरीर जीवित रहता है वह सांस लेता है, परन्तु जो शरीर मर जाता है, उसकी सांस लेने की क्रिया भी बन्द हो जाती है। अतः उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि ये दोनों अंग हैं—शरीर और सांस। शरीर को जीवित रखने वाले तत्त्व के नामकरण की समस्या उठने पर उन्होंने उस तत्व का नाम रक्खा श्वांस। उन्होंने

पाया कि श्वांस की क्रिया भौतिक क्रिया नहीं है और वह स्वयम् भी दृश्य नहीं है, फिर भी सभी जीवों का जीवन इसी पर अवलम्बित है, क्योंकि श्वांस क्रिया बन्द होते ही शरीर मुर्दा हो जाता है। ऐसी स्थिति में श्वांस को ही जीवन का प्रथम नियम मान लिया गया और उसे नश्वर शरीर से अलग करके माना गया। बाद में उसे ही अभौतिक, अविनाशी, अमर विभाग मानकर उसे आत्मा कहा गया। यह सब कुछ एकदम से प्राकृतिक था। जब कोई व्यक्ति मर जाता है तो हम कहते हैं, 'उसने नश्वर शरीर त्याग दिया।' आप को यह जानकर आश्चर्य होगा कि पहले पहल अँगरेजी का घोस्ट (Ghost) शब्द भी आत्मा का बोधक था और आत्मा श्वांस का बोधक थी।

मि० ई० बी० टेलर ने एक ऐसी ही स्थिति को उद्धृत किया है। यह किस्सा निकारागुआ के रेड-इंडियनों से सम्बन्धित है। स्पेनिश विजय काल के प्रारम्भ में ही फादर फ्रांसिस्को नामक पादरी ने एक तद्देशीय व्यक्ति से कुछ सवाल किया था जो इस प्रकार हैं :—

प्रश्न—'तुम मृत्यु से क्या समझते हो ?'

उत्तर—'जो व्यक्ति अपने घर में मरते हैं वे भूमि के नीचे वाले भाग में जाते हैं और जो लोग युद्ध में मरते हैं, वे देवताओं की सेवा में उनके लोक को चले जाते हैं। जब कोई मर जाता है तो उसके मुख से कुछ ऐसी वस्तु निकल जाती है जो मानवाकार ही होती है और जिसे हम जूलियो कहते हैं। यह निकली हुई अदृश्य मानवाकृति कभी नहीं मरती। यहाँ शरीर ही मुर्दा रूप में पड़ा रह जाता है।'

प्रश्न—क्या जो लोग देवताओं की सेवा में जाते हैं उनका शरीर ज्यों का त्यों ही रहता है ?

उत्तर—'जैसे कलेजा चीर कर निकाल लिया जाता है, वैसे ही वे व्यक्ति भी होते हैं।"

प्रश्न—'इसके बाद क्या होता है ?'

उत्तर—'यह एकदम कलेजा ही नहीं होता, बल्कि यह वह वस्तु है जो आदमी को जीवित रखती है। मरने पर यही चीज शरीर को छोड़ देती है।'

आगे चलकर फिर उस व्यक्ति ने बताया :—

उत्तर—'यह उनका कलेजा नहीं होता जो ऊपर देवताओं के पास जाता है, बल्कि यह वह वस्तु होती है जो हमें जीवित रखती है। यह उनके मुख से निकली हुई सांस है, जिसे हम जूलियो कहते हैं।

प्रश्न—'तो क्या जूलियो भी शरीर के साथ ही मृत हो जाता है?'

उत्तर—'जब मृत व्यक्ति का जीवन अच्छा होता है तो जूलियो देवताओं की सेवा में चला जाता है, परन्तु यदि उसने बुरे काम अधिक किये हों तो जूलियो का भी शरीर के साथ ही अन्त हो जाता है।'

स्वयम् ग्रीस वाले भी ऐसा ही कहते थे। वे भी कहते थे कि आत्मा मुख के रास्ते बाहर निकल गयी? और हेड्स (Hades) को चली गयी। हेड्स का अर्थ था 'अदृश्य देवताओं का देश।' जब हम कहते हैं कि श्वास अदृश्य हो गयी तो हम एक तथ्य का वर्णन करते हैं परन्तु जब हम कहते हैं कि वह हेड्स को चली गयी तब हम पुराणशास्त्र की सीमा में आ जाते हैं जो भाषा की उर्वरा-शक्ति की देन है।

आदिमकालीन पराणशास्त्र आवश्यक रूप से धार्मिक नहीं था। उपरोक्त उदाहरण में ही दार्शनिक पुराणशास्त्र धार्मिक पुराणशास्त्र के साथ ही साथ उत्पन्न हुआ है। जब हम कहते हैं कि मरे हुए लोगों की आत्माएँ प्रेत हो जाती हैं, या हेड्स को चली जाती हैं तो यह धार्मिक पुराणशास्त्र का विषय होता है।

इस नाम से जिस दार्शनिक पुराणशास्त्र का जन्म हुआ वह अधिक महत्वपूर्ण था। हम जानते हैं कि साइकी (Psyche) शब्द का मौलिक अर्थ था सांस लेना परन्तु धीरे-धीरे उसका अर्थ हो गया 'शक्तियुक्त सांस' जिसकी सत्ता शरीर पर निर्भर नहीं थी। धीरे-धीरे यही शब्द मानव जीवन के उस अंग का नाम पड़ गया जो मरता नहीं था। इस प्रकार धीरे ही धीरे आगे चलकर आत्मा की सत्ता और स्वतंत्र सत्ता का बोध हुआ, जिसकी न केवल सत्ता ही स्वतंत्र थी, वरन् जिसकी प्रवृत्ति भी शरीर की विरोधिनी प्रवृति थी। अर्थात् शरीर नाशमान था तो आत्मा अविनाशी थी। शरीर की विभिन्न दशाएँ (बचपन, यौवन, बुढ़ापा) हुआ करती थीं परन्तु आत्मा अजर, अमर थी। इस विरोधाभास के प्रगट होते ही दर्शनशास्त्र ने समझाना शुरू कर दिया कि किस प्रकार दो स्पष्टतया भिन्न प्रकार के तत्व (आत्मा, शरीर) मिल कर कुछ दिनों तक के लिये एक इकाई जैसा कार्य करते हैं, एक दूसरे को प्रभावित किया करते हैं और किस प्रकार शरीर

ही आत्मा की सीमा बन जाता है। यहीं से आध्यात्मिक एवं भौतिक दर्शन का उदय होता है। ऐसा केवल उस स्वयमूकृत कठिनाई को दूर करने के लिये किया गया, जिससे शरीर और आत्मा को एक समझा जा सके, जिसे भाषा ने अलग-अलग नाम दिया था। हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि इस पौराणिक शब्दावली से इस प्रश्न पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि 'क्या आत्मा जैसी कोई वस्तु है' या 'मानव में क्या शरीर से भिन्न भी कोई वस्तु होती है ?' हम शरीर और आत्मा की भावना को अलग-अलग करके देख सकते हैं, परन्तु जब तक हम मानव ज्ञान की परिधि की सीमा से बँधे रहते हैं, तब तक हम अमर आत्मा को साँस नहीं कह सकते। एक १६ वीं सदी का कवि कहता है कि,

"आत्मा का अर्थ केवल साँस है,
और आगे मैं नहीं कुछ जानता।'

ठीक यही विचार सिसरो ने भी दो हजार वर्षों पूर्व प्रगट किया था- 'आत्मा अग्नि है या पानी, यह मैं नहीं जानता।' मानव होकर हम आत्मा के उतने ही अंश के बारे में सोच सकते हैं जो शरीर में बँध कर सीमित हो गया है, वह शरीर चाहे कितना ही भौतिक एवं इसीलिये नश्वर ही क्यों न हो, परन्तु शरीर रहित आत्मा के विषय में हम उतना ही जान पायेंगे, जितना भाषा-विहीन विचार या उषा को एक देवी रूप में तथा रात्रि को दिन की जननी के रूप में जानते हैं।

यद्यपि सांस, आत्मा, घोस्ट इत्यादि नाम रक्खे जा चुके थे, परन्तु नामों की सम्भावना यहीं तक समाप्त नहीं हुई। हम मृत व्यक्ति की छाया को आज भी स्मरण करते हैं। जिस किसी ने भी आत्मा के लिये छाया शब्द का प्रयोग किया, उन्होंने इस शब्द को अवश्य ही उपयुक्त समझा होगा। आज भी संसार के कितने ही भागों के निवासी यह कहते हुए सुने जाते हैं कि मृत व्यक्ति की छाया नहीं पड़ती, क्योंकि वह तो मृत्यु काल में ही अलग हो गयी रहती है।

अब आइये हम उस संकुचित अर्थ पर विचार करें जो माइथोलॉजी शब्द से ग्रहण किया जाता है। अति प्रारंभ में मनुष्य जिस तत्व से सर्वाधिक चमत्कृत व प्रभावित हुआ था, वह था सूर्य। उसी के लिये एक नाम की सर्वप्रथम आवश्यकता पड़ी होगी। हमारे लिये उन भावनाओं का विश्लेषण कर पाना अवश्य ही बड़ा कठिन होगा, सूर्य को देखकर जो भावना आदिम कालीन मानव के मन में उठी होगी। उनकी प्रातःकालीन प्रार्थना या प्रातःकालीन

बलि-प्रथा (पशु बलि नहीं) की भावना को भी समझना सरल कार्य नहीं है। यहाँ हमलोग जितने भी व्यक्ति एकत्रित हैं उनमें से शायद ही एक या दो व्यक्तियों ने सूर्य को उदित होते हुए देखा हो और इसीलिये प्रातःकालीन उपासना या बलि की बात तो हम समझ ही नहीं सकते। एक बार आप आदिम कालीन स्थिति की बात को सोचकर देखें और आप उस वक्त थोड़ी ही देर के लिये यह बात भूल जायँ कि इस (मानव) अवस्था में आने के पूर्व मानव क्या था, कैसा था। उसकी तत्कालीन स्थिति को भूल जायँ, क्योंकि उससे इस समय हमारा कोई काम नहीं है। आप केवल इतना ही सोचें कि मानव, वह मानव जो सोच सकता था, उस समय कैसा था, किस स्थिति में था। हम उस मानव की बात कर रहे हैं जब मानव मस्तिष्क उर्वर होते हुए भी विचार-शून्य था और उस समय उसने सूर्य को दिनकर एवं प्रभाकर को प्रथमतः देखा और उसका उर्वर मस्तिष्क सूर्य दर्शन से चमत्कृत हो उठा। क्या सूर्योदय ही उसके लिये आश्चर्य का, चमत्कार का, कुतूहल का प्रथम दर्शन नहीं था? क्या वही प्रथम विचारोत्तेजक नहीं था? क्या उस समय दर्शन (शास्त्र) का यही एकमात्र विषय नहीं था? क्या उसके लिये यही प्रथम उद्घाटन नहीं था? क्या तमाम विचारों की, धार्मिक विचारों की और स्वयम् धर्म की यही शुरूआत न थी? आज हमारे लिये सूर्योदय आकर्षण विहीन बन चुका है, वह हमारा ध्यान कत्तई आकर्षित नहीं करता, यद्यपि आज भी उसके गुण, उसके प्रभाव, उसकी अनिवार्यता वैसे ही बने हैं। आज भी हमारे भौतिक जीवन का वही एकमात्र सहारा है।

मानव आदतों से बना हुआ प्राणी है। आज तो जिस किसी भी स्थान के मानव को हम देखते हैं, तो हम यही पाते हैं कि वह प्रकृति-क्रम को प्रायः भूल सा गया है, यहाँ तक कि प्राकृतिक क्रमों की महत्ता भी अब विस्मृति के गर्भ में चली गयी है। अब तो क्रम पर नहीं क्रमहीनता पर आश्चर्य होता है। अब तो प्राचीन कवियों की रचनाओं में ही हम देख पाते हैं कि आदिम कालीन मानव ने किस प्रकार की चमत्कार एवं आश्चर्यपूर्ण भावना से सूर्य की ओर देखा था, जो धीरे-धीरे रात्रि के सघन अंधकार के पुंज को हल्का कर देने वाली दिग्दिगन्त में व्याप्त आरक्त यवनिका को धीरे-धीरे अदृश्य रूप से हटाते हुए धीरे-धीरे संसार के नेत्रों के सम्मुख आकर स्वयम् अपनी ही शक्ति से ऊपर और ऊपर चढ़ते हुए आकाश के बीचोबीच पहुँच जाता है, फिर नीचे उतरने लगता है और फिर सायंकाल को उदय दिशा की विपरीत

दिशा में अस्त हो जाता है, जहाँ सागर लहरें मार रहा होता है। इस प्रकार के भावों की अभिव्यंजना करने वाले काव्य ग्रंथ भी इस संसार में बहुत नहीं हैं, केवल कुछ जातियों ने ही अपने पूर्वजों के उस काव्य को सुरक्षित रक्खा है। वेद की ऋचाओं में तो इस बात की भी चर्चा है कि सूर्य पुनः उदय होगा या नहीं; उन्हीं ऋचाओं में यह भी पूछा गया है कि वह इतनी ऊँचाई पर कैसे चढ़ता है? वह उलट कर पीछे क्यों नहीं गिर पड़ता? उसके मार्ग पर धूलि क्यों नहीं है? जब प्रातःकालीन किरणें उसे (मानव को) प्रथमतः जगाती हैं और उसे कर्म का संदेश देती हैं; जब वह सूर्य को देखता है, जब सूर्य की किरणें जन-जन को भय रहित होने का एवं कर्मरत होने का सन्देश देती हैं; उसी समय मानव की आत्मा बोल उठती है (अव्यक्त वाणी में) "उठो, हमारा जीवन, हमारी उमंग, हमारा कर्म काल कार्य आ गया है; अँधेरा जा चुका है, प्रकाश आ रहा है।"

मानव मस्तिष्क में उस आदिम काल में क्या भावनाएँ उठी होंगी, और इन भावनाओं के वशीभूत होकर उसने उस प्रकाश दाता, दिनकर, अभयदाता का नाम रखने का प्रयत्न किया होगा। परन्तु यह नामकरण हो कैसे? यदि सूर्य के आकार का नामकरण करना होता तो वृत्त के समानार्थक किसी शब्द से काम चलाया गया होता, मिश्र में सूर्य का इस प्रकार का नाम है भी, जिसके अर्थ होते हैं वृत्ताकार। यदि यह नाम रख दिया गया होता तो सूर्य से सम्बन्ध रखने वाले शब्द का अर्थ होता गोलाकार या गोलाकृत। इस प्रकार के शब्द पुराण शास्त्र की सीमा से परे ही रहते हैं, क्योंकि इससे सूर्य के एक ही गुण (गोलाकार) होने का पता चलता। अब यदि यही गोला वृत आकाश की आँख हो जाय तो वह पुराण-शास्त्र की सीमा में आ जायगा।

अब आप यह मान लें कि सूर्य के लिये मानव ने कोई नाम खोजना शुरू किया हो, तो इस कार्य को कैसे पूरा किया गया होगा?

हम जानते हैं कि सब शब्द धातुओं या मूलों से बनते हैं और ये धातुएँ या मूल सामान्य भावों को प्रगट करते हैं। प्रत्येक शब्द धातु से बनता है तो धातुएँ कहाँ से आयीं, इस प्रश्न पर हम अभी विचार नहीं करेंगे। वैसे भी यह प्रश्न मनोविज्ञान का है न कि भाषा शास्त्र का। यदि बर्फ का नामकरण करने की आवश्यकता पड़ी तो प्राचीन बर्फ के एक गुण (सफेदी, स्वच्छता इत्यादि में से) को ले लिया और उसका नाम अलग-अलग गुणों पर श्वेत, शीतल या द्रव रक्खा। इतना ही नहीं, बर्फ के गलने वाले गुण को भी नाम मिला और इसी लिये इसे निक्स, निविस के साथ-साथ नियोब (पिघलने वाली)

नाम भी दिया गया। इसी प्रकार यदि सूर्य का नामकरण किया भी गया तो उसका नाम पड़ना चाहिये था अति उज्वल, उष्णता दायक, उर्वरत्व दायक, जीवन दायक, जलाने वाला, नष्ट (तम को) करने वाला इत्यादि।

आइये हम सूर्य के अनेक नामों में से एक विशेष नाम का इतिहास खोजें। आर्यों के विभाजन के पूर्व, ग्रीक, लैटिन इत्यादि संस्कृत की सहोदरा भाषाओं के काल के काफी समय पहले भी एक धातु प्रचलन में थी स्वर् या स्वल् जिसका अर्थ होता था चमकना, गर्मी देना। इसी मूल से ग्रीक भाषा ओलास् (शानदार) ऐंग्लो सैक्सन का स्वेलान (जलाना), आधुनिक जर्मन में श्वूल (अत्यधिक गरम) शब्द बने हैं। इसी मूल से संस्कृत भाषा 'स्वः' शब्द बना है, जिसका अर्थ कभी आकाश होता है, कभी सूर्य होता है। यही शब्द लैटिन में सॉल, गोथिक में सवील, ऐंग्लो सैक्सन में सॉल बन गया है। इसी स्वः का द्वितीय रूप है सूर्य जो स्वर्याः (सूर्य) का छोटा या सुधरा हुआ रूप है जिसका ग्रीक रूप है हीलियॉस (सूर्य)।

प्रारम्भ में ये सभी शब्द विधेयात्मक (वर्णन करने वाले) थे, परन्तु ज्योंही ही स्वः या स्वर्या शब्द बना त्योंही भाषा के सक्षम प्रभाव से यह न केवल जीवित वस्तुओं का नाम बन गया वरन् यह पुल्लिंग भी बन गया। संस्कृत में हर संज्ञा को या तो पुल्लिंग होना चाहिये या स्त्रीलिंग (क्योंकि मूलतः नपुंसक लिंग केवल कर्ताकारक तक ही सीमित था) और जब एक बार सूर्य का नामकरण पुल्लिंग रूप से हो गया तो आगे चलकर यह पुंसत्व का प्रतीक ही बन गया। अतः राजाओं एवं नायकों के नाम के साथ प्रशंसात्मक रूप में प्रयुक्त होने लगा। जिन दूसरी भाषाओं में सूर्य का अर्थ देने वाले नाम स्त्रीलिंगवाची है और जहां सूर्य की कल्पना एक स्त्री रूप में की गयी है, या रानी रूप में या चाँद की दुल्हन रूप में की गयी है, वहाँ समूचा का समूचा पुराणशास्त्र ही इसी प्रकाश में बदल गया है।

आप कह सकते हैं कि इससे यही प्रदर्शित होता है कि भाषा का विचारों पर उतना प्रभाव नहीं पड़ा, जितना प्रभाव विचारों का भाषा पर पड़ा और तमाम शब्दों को जो लिंगीय जामा पहना दिया गया है, इससे अविकसित-मानव मस्तिष्क की एक प्रवृत्ति ही प्रगट होती है, जो किसी भी जीवमय या निर्जीव पदार्थ की कल्पना या तो स्त्री रूप में कर सकती है या पुरुष के रूप में। कोई बच्चा जब किसी कुर्सी से गिर जाता है या टकरा जाता है तो क्रोधित होकर वह कुर्सी को ही मारने लगता है। वह कुर्सी जड़ पदार्थ न मानी जाकर चेतन पदार्थ मानी जाने लगती है। वह कुर्सी उसी तरह शैतान बन जाती है, जिस प्रकार एक

बच्चा शैतान बन जाता है। उपरोक्त तर्क में भी कुछ बल तो है ही, परन्तु इससे इतना ही सिद्ध होता है कि भाषा किस प्रकार विचारों को प्रभावित कर डालती है, क्योंकि यद्यपि यह विचारधारा मौलिक रूप में इच्छापूर्ण (जान-बूझ कर की जाने वाली) होती है और विचार के परिणाम स्वरूप (सीधी नहीं) आती है; अतः यही विचारधारा 'भाषा में परम्परा' की समर्थिका बन गयी। फिर तो मस्तिष्क पर इस परम्परा की जो लीक पड़ी वह अमिट होकर ही रह गयी। ज्योंही सूर्य या हीलीयॉस हमारे सामने पुरुष रूप में आते हैं त्योंही यह पराण शास्त्र का विषय हो जाता है। हमारे कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि इस समय हम उस काल की बात कर रहे हैं जब ग्रीक भाषा में हीलियाँस शब्द बना था, क्योंकि यह शब्द बहुत बाद की विचारधारा का है, जिसे प्लाटो ने अपनी रिपब्लिक के सातवें भाग के प्रारम्भ में दर्शाया है, 'और इसके बाद वह तर्क देगा कि सूर्य वह पुरुष है जो हमारे लिए ऋतुओं की और वर्ष की व्यवस्था करता है, वह उन तमाम वस्तुओं का संरक्षक है जो हमें इस संसार में हमारे सामने दिखायी पड़ती है और प्रकारान्तर से वही उन सबका कारण स्वरूप है, जो हमें इस संसार में दिखाई पड़ती है।' अभी हम इतना आगे नहीं बढ़ गये हैं, फिर भी हम पुराणशास्त्र की प्रारम्भिक स्थिति तक पहुँच गये हैं। हीलियॉस के विषय में लिखी गयी होमर के काव्य में (जिनमें हीलियॉस के प्रशंसा पूर्ण वर्णन हैं) हीलियॉस अमरों की श्रेणी में नहीं आ पाया है, उसे अमर कहा भी नहीं गया है। उसे केवल अमरवत् कहा गया है। हाँ, उसे यूरीफेसा का पुत्र, हाइपरियन का पुत्र तथा यूरेनस तथा गीया का पौत्र कहा गया है। यह सब कुछ पुराण शात्र है, यह प्राचीन भाषा है जो अपने प्राथमिक उद्देश्यों की सीमा के बाहर चली गयी है।

हीलीयॉस के इस पौराणिक आख्यान को समझना कुछ अत्यधिक कठिन नहीं है। हीलियॉस (सूर्य) को हाइपेरियन का पुत्र कहा गया है। कभी-कभी हीलियॉस को हाइपेरियन ही कहा गया है। हाइपेरियन जिस सम्बन्ध वाचक विभक्ति (वेयर) से बना है, इटैलियन भाषा का सुपर भी उसी विभक्ति का रूप है, जिसका अर्थ होता है 'ऊपर'। इस प्रकार हाइपेरियन का शाब्दिक अर्थ हुआ 'वह जो ऊपर रहता है।' यह शब्द अर्थ के मामले में लैटिन भाषा के सुपीरियर, सुमेनस या इक्सेल्सियर का समानार्थक है। इसके विपरीत हीलियॉस को हाइपेरियोनाइड्स भी कहा जाता है। इसका भी अर्थ वही होता है अर्थात् 'वह जो आता है या सम्बन्धित है उन लोगों से जो ऊपर रहते हैं।' केवल इस अर्थ ने ही इस पुरा-कथा को जन्म दिया कि हीलियॉस हाइपेरियन का पुत्र है या स्वयमेव हाइपेरियन है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ये सब नाम

पुराण शास्त्र के अन्तर्गत हैं। केवल सूर्य को ही उच्च स्थान का निवासी नहीं कहा जा सकता, चन्द्रमा और उषा भी उसी लोक के निवासी हैं अतः इन्हें भी हाइपेरियोविस तथा हाइपेरियोनाइड्स का नाम दिया गया है। इसीलिये होमर ने चन्द्रमा को सेलीन, ऊषा को इग्रोस कहकर उन्हें हीलियॉस की बहनें बनाया है। ये दोनों भी हाइपेरियन एवं यूरीफेसा की पुत्रियाँ हैं। ये सभी बातें हमारी समझ की सीमा में आ जाती हैं यदि हम भाषा एवं पुराण-शास्त्र की क्रम-बद्ध प्रगति का ध्यान रक्खें। परेशानी तो तब होती है, जब हम इनके शाब्दिक अर्थ को ग्रहण करने लगते हैं।

यहाँ तक तो सभी बातें स्पष्ट हैं, क्योंकि हर एक नाम हमारी समझ में आ जाते हैं, किन्तु यदि हम यह सुनते हैं कि फोइबस एपोलन प्यार करता है दफने को और दफने अपनी माता पृथ्वी से प्रार्थना करती है कि वह उसे फोइबस के हाथों से बचाये और यह पढ़ते हैं कि कैसे माता पृथ्वी ने उसे अपनी गोद में लिया, वहीं से दफने के स्थान पर एक लॉरेल का पेड़ उग आया या दफने ही लारेल में परिवर्तित हो गयी तो हम इसका क्या अर्थ लगावेंगे। हम कह सकते हैं कि यह तो मात्र एक कहानी है और कहानी में हम तात्पर्य न भी खोजें तो क्या हर्ज है। इस बात पर मेरा उत्तर यह है कि लोग अपने देवताओं या प्रिय चरित नायकों के विषय में ऐसी कहानियाँ नहीं कहते, जब तक कि उनका कोई अर्थ न हो। इसके अतिरिक्त यदि फोइबस का अर्थ सूर्य है तो दफने का भी कुछ न कुछ अर्थ होना चाहिये।

ग्रीक भाषा में दफने का अर्थ होता है लॉरेल और इतने ही ज्ञान से हम उस ग्रीक कथा को समझ जायेंगे, जिससे कहा गया है कि दफने लॉरेल के पेड़ में परिवर्तित हो गयी। पर दफने थी कौन? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये हमें व्युत्पत्ति का सहारा लेना पड़ेगा या दूसरे शब्दों में हम यों कहें कि हमें इसके इतिहास पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। हम सब जानते हैं कि आज का शब्द विचार पहले से कुछ भिन्न हो गया है और आज भी शायद कोई इक्का-दुक्का विद्वान् ऐसा मिल जाय जो ग्रीक शब्दों को संस्कृत की सहायता से स्पष्ट करना अच्छा न समझता हो; परन्तु अधिकतर विद्वान् इस मत को मानने लगे हैं कि अनेक ग्रीक शब्दों का रहस्य संस्कृत भाषा की कुंजियों से ही उद्घाटित होता है। हम पहले भी कह चुके हैं और अब फिर कह रहे हैं कि दफने का सूत्र पकड़ कर हम संस्कृत शब्द अहना तक पहुँचते हैं और अहना संस्कृत में उषा को कहते हैं। ज्योंही हम इस बिन्दु तक पहुँचते हैं, हर बात स्पष्ट हो जाती है। फिर तो फोइबस एवं दफने की कथा में वही

दृश्य वर्णित दीख पड़ता है, जिसे हम-आप नित्य ही देखते हैं। हम सब रोज देखते हैं कि पूर्वाकाश में नित्य उषा की लालिमा फैल जाती है, इसके तुरन्त बाद ही जैसे दूल्हा अपनी दुल्हन के पीछे दौड़ता है वैसे ही उषा आगे-आगे और सूर्य पीछे-पीछे भागते हैं और धीरे-धीरे सूर्य की अग्निमय किरणों के प्रभाव से उषा अन्तर्ध्यान हो जाती है और इस प्रकार अपनी माँ पृथ्वी की ही गोद में मानों समा जाती है। हमें तो यह रूपक इतना ही स्पष्ट लगता है जैसे सूर्य का प्रकाश। यदि हमारे इस तात्पर्य के विरुद्ध कुछ भी कहा जा सकता है तो वह यही है कि यह सिद्ध किया जा सकता है कि अहना उषा (डॉन) नहीं है या दफने का सूत्र पकड़ कर विलोमगति से हम अहना तक नहीं पहुँच सकते या फिर कोई यही कह दे कि हीलियॉस का अर्थ सूर्य नहीं है।

हम समझते हैं कि इस विषय में एक और भी आपत्ति हो सकती है, परन्तु मेरे विचार से वह इतनी आधार हीन है कि शायद ही उसके लिये किसी उत्तर की आवश्यकता पड़े। लोग पूछते हैं कि आखिर उस समय के लोगों ने उषा और सूर्य के विषय में इतनी कथाएँ क्यों गढ़ीं और उन्हें अपनी पौराणिक गाथाओं में सुरक्षित क्यों रक्खा ? इसके उत्तर में हम एक प्रश्न पूछते हैं कि आखिर प्राचीन कालीन लोगों ने इतनी अधिक क्रमहीन क्रियाएँ बनाकर उन्हें अपने व्याकरण में क्यों सुरक्षित रक्खा। यदि हम किसी तथ्य का स्पष्टीकरण तुरन्त ही न दे सकें तो इसका अर्थ क्या यह होगा कि वह तथ्य तथ्य ही नहीं है ? हम इस समय तक जितना जानते हैं वहाँ तक हमारे लिये यह कहना उचित ही है कि अपने विभाजन काल के पूर्व से ही आर्य जाति ने न केवल अपने व्याकरण सम्मत शब्दों एवम् शब्द-कोष को सुरक्षित रक्खा, बल्कि उन्होंने कुछ देवताओं को, देवताओं से सम्बंधित कुछ आख्यानों को, कुछ प्रचलित कहावतों को और हो सकता है कि अनेक रूपकों को भी सुरक्षित रक्खा। वास्तविकता यह है कि आर्य विचारों के इतिहास के एक युग को पुरा-कथाएँ अपने में छिपाये हुए हैं और यह युग है भाषा और साहित्य के संक्रान्ति काल का। यही एक सत्य पुराण-शास्त्र को महत्वपूर्ण बनाने के लिये पर्याप्त है। कम से कम उनके लिये जो प्राचीन इतिहास एवं मानवीय मनोविज्ञान के छात्र हैं।

हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि केवल ग्रीकों, हिन्दुओं या आर्यों ने ही पुराण-शास्त्र का निर्माण किया था। संसार के कोने-कोने में जहाँ भी हमारी दृष्टि जाती है हर सभ्य, अर्द्धसभ्य अथवा असभ्य जातियों में इस प्रकार

की कथाओं की रचना हुई है। इन कथाओं में सर्वत्र ही कथा-मूल में एक अद्‌भुत साम्य है। उदाहरण के लिये एक कथा धुर उत्तर से तथा दूसरी कथा धुर दक्षिण से लेकर आपके सामने रख रहा हूँ। आर्कटिक सर्किल में हडसन की खाड़ी के पास ही रिपल्स खाड़ी है। मि० जौन रे ने वहाँ की एक कथा दिया है :—"बहुत दिनों की बात है कि एक एस्कीमॉक्स विजेता ने इतनी शक्ति अर्जित कर ली कि वह स्वर्ग में निवास करने का अधिकारी बन गया। एक अवसर पर वह अपनी बहन को भी वहाँ ले गया, साथ ही अपने साथ कुछ आग भी लेता गया। वहाँ उसने अत्यधिक परिमाण में ईंधन इकट्ठा करके जो आग जलायी वही सूर्य है। कुछ दिनों तक तो भाई बहन प्रेम से रहे, परन्तु कालान्तर में भाई बहन के प्रति कठोर होने लगा और बहन के साथ अनेक प्रकार के दुर्व्यवहार करने लगा। बहन ने पहले तो सब कुछ सहा, परन्तु भाई ने अन्त में बहन के ऊपर आग फेंक दी, जिससे उसका एक तरफ का मुँह ही जल गया। तब बहन उसके पास से भाग गयी और उसने चन्द्रमा को बनाया। उसका भाई तब से लेकर अब तक अपनी बहन के पीछे-पीछे भाग रहा है, परन्तु आजतक न तो वह बहन को पकड़ पाया है और न कभी पकड़ ही पावेगा। जब प्रथम दिवस का चंद्रमा होता है तो बहन के चेहरे का जला हुआ एवं इसीलिये काला पड़ गया भाग हमारे सामने पड़ता है और जब उसके मुख का अच्छा वाला भाग हमारे सामने पड़ता है तब पूर्णिमा का चांद हमें दिखायी देता है"

इस कथा में भी स्थानीय रंग भर उठा है, जिस प्रकार ग्रीक एवं हिन्दू कथाओं में स्थानीयता-जनित अन्तर आ गया है। यही कथा हमें उसी भू-भाग के दूसरे स्थान पर इस रूप में मिलती है :—"एक भोज में एक लड़की के कंधे को हिलाकर एक युवक ने अपना प्रेम प्रगट किया। उस देश मे प्रेम प्रगट करने का यही ढंग था। अंधेरे में वह नहीं देख पायी कि उसका प्रेमी कौन था। अतः उसने अपने हाथ में कालिख लगा ली और जब उसका प्रेमी आया तो उसके मुख पर वही कालिख पोत दिया। जब दिन हुआ तो उसने देखा कि यह तो उसका भाई ही था। अतः वह भाग गयी। भाई भी बहन के पीछे दौड़ा। जब बहन पृथ्वी के छोर पर आ गयी तो वह आकाश में कूद पड़ी और वहाँ से सूर्य रूप में आज भी दिखायी पड़ती है। उसका भाई भी कूदा और वह चाँद बन गया और यही कारण है कि आज भी चन्द्रमा सूर्य का पीछा करता रहता है। भाई के चेहरे के कालापन के ही कारण उसकी कलायें दिखायी पड़ती हैं।"

अब हम दक्षिण की ओर घूमते हैं। यहाँ की सभ्यता के विचार से निम्नतम स्तर की जातियों अर्थात् एटिनटाट् लोगों में (जिन्हें जूलस जाति के लोग भी अपने से निम्नस्तर का मानते हैं जो सभ्यता के क्रम में स्वयम् बहुत पिछड़े हुए लोग हैं) भी एक आख्यान प्रचलिय है, जो धर्म एवं दर्शन की प्रभापूर्ण किरणों से आलोकित है :—"एक बार चन्द्रमा ने एक कीड़े को मानवों के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि 'तू आदमियों के पास जा और उनसे कह कि जैसे मैं मरती हूँ और मर कर भी जीवित रहती हूँ वैसे तू भी मर कर जीवित रहेगा।' कीड़ा इस सन्देश के साथ चला। अभी वह रास्ते में ही था कि उसे अपने पीछे से आता हुआ खरगोश मिला, जिसने पूछा 'तू किस कार्य के लिये कहां जा रहा है?' कीड़े ने उत्तर दिया, 'मुझे चन्द्रमा ने आदमियों के पास यह कहने को भेजा है कि जैसे मैं मर कर भी जिन्दा हो जाती हूँ, वैसे ही तू भी मर कर जिन्दा रहेगा।' खरगोश ने कहा, 'तू तो बहुत धीमा चलता है, ला तेरा सन्देशा मैं कह आऊँ।' इन शब्दों के कहने के साथ ही खरगोश दौड़ पड़ा और जब वह मानवों के समीप पहुँचा तो उसने कहा, 'मुझे चन्द्रमा ने भेजा है यह कहने के लिये कि जैसे मैं मरती हूँ और मरती हुई क्षीणतर होती जाती हूँ, उसी प्रकार तुम भी मरोगे और एकदम से समाप्त हो जावोगे।' तब खरगोश चंद्रमा के पास पहुँचा और बताया कि उसने मानव से क्या कहा था। चन्द्रमा उस पर बड़ा क्रोधित हुआ, 'तेरी इतनी हिम्मत कि तूने मेरे सन्देशे में विकृति पैदा कर दी।' इन शब्दों के साथ उसने एक डंडा उठाया और उसकी नाक पर मारा और तभी से खरगोश की नाक कट गयी।"

इस कथा के भी कितने ही रूपान्तर हैं और उनमें से एक का अन्त इस प्रकार है :—"खरगोश जब चन्द्रमा के पास पहुँचा तो उससे चन्द्रमा ने पूछा कि उसने क्या सन्देश दिया और जब उसे खरगोश द्वारा दिया गया विकृत सन्देश जानने को मिला, तो वह क्रोधित हो गयी (स्त्री लिंग प्रयोग) और तुरत उसे मारने को कुल्हाड़ी उठायी। चूंकि कुल्हाड़ी का बेंट छोटा था अतः वह सर तक तो न पहुँची, हां वह उसकी नाक पर गिरी और उसे दो टुकड़ों में काट दिया। खरगोश भी क्रोधित हो उठा और अपने पंजों से उसने चन्द्रमा का मुँह खरोंच डाला। चन्द्रमा में जो धब्बे दिखायी पड़ते हैं, वे उसी खरोंच के निशान हैं।"

फिनलैंड, लाप्लाटा तथा इस्थोनियाँ के रहने वाले कोई काव्य प्रतिभा से

युक्तजातियाँ नहीं हैं, फिर भी उनकी धुएँ से भरी झोपड़ियों में काव्य के दर्शन होते हैं। उनकी भी एक कहानी नीचे दे रहा हूँ :—

"वन्ना ईसी के दो नौकर थे—क्वाइट एवम् आम्मरिक। उसने उन्हें एक टार्च दी, जिसे क्वाइट प्रति सुबह जलाता एवम् आम्मरिक प्रति संध्या को बुझा देता था। उन्हें पुरस्कृत करने के विचार से ईसी ने उनसे कहा कि वे स्त्री पुरुष की तरह रहें। वे राजी हो गये कि वे यावज्जीवन दुल्हा दुल्हन के रूप में रहेंगे। ईसी मान गया और तब से क्वाइट हर संध्या को टार्च आम्मरिक को देता था और आम्मरिक का काम था उसे बुझा देना। वर्ष के गर्मी के ऋतु के चार सप्ताह वे एक साथ रहते थे परन्तु केवल अर्धरात्रि को; क्वाइट बुझती हुई टार्च आम्मरिक को देता है, परन्तु आम्मरिक उसे बुझने नहीं देता बल्कि अपनी श्वास से उसे पुनः प्रज्वलित कर देता है। तब उनके हाथ फैल जाते हैं, उनके होंठ मिल जाते हैं और आम्मरिक का लज्जारुणानन अर्द्धरात्रि की लालिमा बन जाता है।"

इस पौराणिक कथा पर तो कुछ कहने की आवश्यकता ही नहीं है। वैसे देखने में यह एक प्रेम-कथा सी प्रतीत होती है, परन्तु यदि वन्ना ईसी को प्राचीन पुरुष और क्वाइट को उषा मान लें तो यह मानना ही होगा कि आम्मरिक मध्यरात्रि कालीन उषा है और उनकी गर्मियों की रात का मिलन उसी दृश्य का प्रतिनिधित्व करता है जो उक्त प्रदेशों में होता है अर्थात् सूर्य रात को भी डूबा हुआ सा नहीं जान पड़ता।

मेरी तो इच्छा होती है कि आप लोगों को ऐसी अन्य कथाएँ भी सुनाऊँ जो संसार के कोने-कोने से संग्रहीत की गयी हैं और जो यद्यपि देखने में बचपने से भरी मालूम होती हैं, परन्तु उनमें प्रकृतिगत काव्य की अति स्पष्ट झलक दृष्टिगोचर होती है।

यदि लोग ग्रीस वासियों एवम् हिन्दुओं की सौर गाथाओं पर विश्वास करने के इच्छुक नहीं हैं तो उन्हें सेमेटिक एवम् तूरानियन जातियों में प्रचलित गाथाओं को पढ़ना चाहिए। मैं जानता हूँ कि आर्यन और नानआर्यन पौराणिक गाथाओं की तुलना करना कुछ विद्वानों को पसन्द नहीं है और एक बात में उनकी आपत्ति आधारपूर्ण भी है। जिस प्रकार हम भाषा एवम् स्थानीय बोलियों में भेद कर लेते हैं, उसी प्रकार पौराणिक कथाओं एवम् जन-कथाओं में भी भेद कर लेना चाहिये। पहले तो हमें यही देख लेना चाहिये कि एक भाषा की कौन-कौन सी बातें ऐसी हैं जिन्हें समझने के लिए हमें दूसरी भाषाओं

की सहायता लेनी पड़ती है। हाँ, हमें यह भी जान लेना चाहिये कि आख्यानों एवम् भाषा के तुलनात्मक अध्ययन में हमारी रुचि भाषा-विज्ञान से ही सम्बन्धित नहीं है, उसमें दार्शनिक एवम् मनोवैज्ञानिक रुचि की भी आवश्यकता है। हमें यह भी ध्यान रखना होगा कि मानव जाति के इस प्रकार के अध्ययन में भाषा एवम् जाति की सीमाओं को कभी न विस्तृत करें, परन्तु ऐसा भी न होना चाहिये कि कहीं इन झमेलों में फँसकर हमारा दृष्टिकोण ही दूषित हो जाय और हम अनेक औचित्यों की ओर से आँखें ही मूँद लें। हम देखते हैं आर्यन भाषाओं के अध्ययन से जो बात हमें प्रागैतिहासिक दीख पड़ती है, वही तूरानियन भाषा के अध्ययन से इतिहास कालीन सिद्ध हो जाती है। यह बात धर्म, पौराणिक कथाएँ, जन-कथाएँ और रीति-रिवाजों पर भी समान रूप से लागू होती हैं। फिनलैंड निवासी हों या लाप्लाटा के; जूलस हों या मावरी, चाहे खोंद जाति वाले हों या कैरेन जाति वाले, परन्तु इन सभी जातियों में आर्य परम्पराओं की समानताएँ देखने को मिलती हैं। ऐसी स्थिति में हमें यह मानने को बाध्य होना पड़ता है कि भाषा में भी एवम् माइथॉलौजी में भी कहीं भी और कुछ भी ऐसा नहीं है जो सार्थक न हो, जिनका प्रारम्भ न हो, उद्देश्य न हो और इतिहास न हो।

जुपिटर को जुविटर कहा गया, यह कोई संयोग मात्र नहीं था। यह दशा पॉलिनेशिया के 'मोवी', सैमॉयड के 'नम्' या चीन के 'तेन' की भी है। यदि हम इन नामों का मूल खोजें तो हम उस भूमि पर जा पहुँचेंगे, जहाँ इनका जन्म व विकास हुआ था। हमारे कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि पौराणिक आख्यानों में आये हुए नामों के स्पष्टार्थ जान लेने के बाद समस्त पुराणशास्त्र हमारी समझ में आ जायगा। मेरा कहना तो यह है कि नामों का स्पष्टीकरण हो जाने पर हमें निश्चित आधार प्राप्त हो जायगा। मैं इस बात को मानता हूँ कि प्रत्येक शब्द का शब्द-विचार हमें उसके ऐतिहासिक विकास-क्रम का स्मरण करा देता है, क्योंकि स्वयमेव ये नाम ही एक ऐतिहासिक सत्य है और प्राचीन विचारों के क्रमागत विचार-विकास को जानने के लिये इन ऐतिहासिक सत्यों की उपयोगिता है। आइये हम उसी बात पर विचार करें, जिस पर किसी को भी किसी प्रकार की कोई शंका नहीं है। हम जानते मानते हैं कि ग्रीक, रोमन, जर्मन तथा भारतीय आर्यों के महत्तम देवता का नाम समान है, बल्कि एक ही है। क्या केवल यही बात प्राचीनता के उस पर्दे को उठा देने के लिए पर्याप्त नहीं है, जो हमारे सामने अन्यथा अभेद्य रूप में खड़ा था। यह पर्दा उतने अधिक प्रचीन काल के दर्शन हमें

करा देता है, जिसे हम शताब्दियों में भी नहीं नाप सकते। ग्रीक शब्द जीअस वही है, जो लैटिन जुपिटर का जु है, यही जर्मन का त्यु है और ये सभी शब्द संस्कृत द्यौस् के परिवर्तित रूप हैं। संस्कृत में द्योस् शब्द आकाश के अर्थ में प्रयुक्त होता है यदि इसका प्रयोग स्त्रीलिंग में है, किन्तु जैसा वेद में है, यदि इसका प्रयोग पुल्लिग में होता है तो इसका अर्थ होता है देवता और जीअस यही देवता है, जो देवताओं का भी और मानवों का भी पिता है। आप सभी जानते हैं कि प्रचीन भारत की समूची भाषा ग्रीक, लैटिन, जर्मन, केल्टिक तथा स्लाव भाषाओं की भगिनी है। इसीलिये यदि एक ग्रीक कहता है एस्ति, रोमन कहता है एस्ट, जर्मन कहता है इस्ट, स्लाव कहता है एस्ते तो आज से तीन सहस्र वर्ष पूर्व हिन्द् कहते थे अस्ति (वह है)। यह साम्य उसी समय उपस्थित रहा होगा जब कि एक भी ग्रीक या जर्मन ने योरप भूमि को तथा एक भी भारतीय ने भारत भूमि को नहीं छुआ था। उस सुदूर काल में ही हमें उस भाषा के मूल को रखना पड़ेगा जिसे हम आज बोल रहे हैं तथा उन विचारों को भी वही समय देना होगा, जिन्हें हम आज अपना करके मानते हैं। इनके साथ ही साथ हम उन नामों की रचना को भी तभी स्पष्टता पूर्वक समझा सकेंगे, जिनका निर्माण प्रकृति की विभिन्न शक्तियों का नामकरण करने के लिये हुआ था और जो आगे चलकर देवताओं के नाम बन गये थे, पुरा-कथाओं के नायक बन गये थे, कितनी ही जन-कथाओं के नायक बन गये थे और जिनमें से कितने ही आज भी विभिन्न रूपों में स्मरण किये जाते हैं।

मैं देखता हूँ कि जितना समय मुझे बोलने के लिये दिया गया था, वह अब समाप्त हो चला है, किन्तु अपनी वार्ता समाप्त करने के पूर्व मुझे एक कर्तव्य पूर्ति करनी है, जिसकी पूर्ति में हमें प्रमाद नहीं करना चाहिये। आज यहाँ पर जितने लोगों ने उपस्थित बने रहकर मुझे सम्मानित किया है, उन्हें स्मरण होगा कि प्रायः एक वर्ष पहले प्रोफेसर ब्लिकी ने इसी कक्ष में भाषण दिया था, जिसमें उन्होंने पौराणिक कथाओं को स्पष्ट करने के लिये उस वैज्ञानिक ढंग पर अविश्वास प्रगट किया था, जिसे हम तुलनात्मक पुराण-शास्त्र कहते हैं। यदि उन्होंने केवल इस विषय तक ही अपने को सीमित रक्खा होता, तो मैं उनके द्वारा की गयी आलोचना के लिये उनका कृतज्ञ होता। आप विश्वास मानिये कि उनके प्रस्तुतिकरण के ढंग से मैं अप्रभावित ही रहता। उन्होंने जो व्यक्तिगत आक्षेप किये थे, उनका शिकार भी मैं अकेला नहीं था। यदि हम अपनी ही अनुचित प्रशंसा का खण्डन नहीं कर सकते तो हमें अनुचित बुराई का भी खण्डन नहीं करना चाहिये। मेरा विश्वास है कि आज जो भी लोग

यहाँ पर उपस्थित हैं, उनसे मैं अपील कर सकता हूँ कि जब भी मैंने इस संस्था में या कहीं अन्य स्थान पर भाषण किया है तो मैंने हर सम्भव प्रयत्न किया है कि मैं व्यक्तिगत आक्षेपों से दूर रहूँ और कम से कम उन व्यक्तियों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप न करूँ जो उस समय अनुपस्थिति के कारण मेरी बात का उत्तर देने में असमर्थ हों। वैसे भी जो लेखक जीवित हैं, मैं उनका भी नाम बचाने का प्रयास करता हूँ, परन्तु चूंकि प्रो० ब्लैकी ने मेरे एक मित्र का नाम लिया है, मुझे ऐसा प्रतीत होता है जैसे मुझे क्रोधित होना ही चाहिये और घूसे का जवाब घूँसे से ही देना चाहिये। अर्थात् माइथालोजी के लेखक मेरे मित्र ए० जी कावस के विषय में मि० ब्लैकी ने इस प्रकार बातें कहीं हैं जैसे वे स्वयम् मेरे द्वारा कही गयी हों। इससे अधिक अवांछनीय बात की तो मैं कल्पना ही नहीं कर सकता। तुलनात्मक पुराण-शास्त्र पर जो कुछ भी काम मैंने किया है वह यही है कि उक्त शास्त्र के कुछ नियम मैंने स्थापित किये हैं और साथ ही कुछ देवताओं, देवियों एवं नायकों के नामों की व्युत्पत्तियाँ मैंने दे दी हैं। वास्तविकता तो यह है कि मैंने नियम बना लिया है कि ग्रीस, इटैली, जर्मनी एवं भारत की कथाओं की तब तक तुलना न की जाय जब तक कि नामों में एवं कथा वस्तु में पर्याप्त साम्य न दिखाई पड़े। मि० कॉक्स ने मेरी मान्यताओं की प्रामाणिकता को मानकर ही मेरे द्वारा व्यौत्पत्तिक अर्थ को उद्धृत किया है। अस्तु !

मुझे अपने मत के समर्थन में किसी के मत की आलोचना ही नहीं करनी है तो दुरालोचना मैं क्यों करूँ? मुझे आशा है कि मि० बिल्की यदि यहाँ होते भी तो मेरी बात को बुरा नहीं मानते। मेरा विचार है कि ज्ञान की पिपासा किसी राष्ट्र की बपौती तो नहीं ही है। व्यक्ति चाहे जिस राष्ट्र का हो, उसे सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की पूरी स्वतंत्रता है। विद्या के क्षेत्र में राष्ट्रीयता को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिये। ज्ञान का क्षेत्र तो समस्त मानव जाति का है।

—: ० :—

सौर-कथाएँ

प्राचीन रोमनों के पुराकालीन रीति-रिवाजों को स्पष्टतः समझ पाना पुरातत्व के सर्वोत्तम विद्वानों के लिये भी कठिन ही है। इसी प्रकार प्रत्येक ग्रीक-पुराकथा का तात्पर्य एवम् रचना उद्देश्य समझ पाना भी कठिन ही है। ऐसी स्थिति में यदि कोई मावरियों या हाटेनटाट जातियों की परम्पराओं को न समझ पावे तो क्या आश्चर्य है? इस कार्य के लिये आवश्यकता पड़ती है उस देश की भाषा के सम्यक् ज्ञान की, जो उन्हें पुराकथाओं के विभिन्न नामों एवम् उनके उद्देश्यों को बताती है। यदि गॉटफ्राइड हरमैन की जर्मन भाषा में तथा ग्रीक भाषा में समान गति थी, यदि क्रूज़र, वेल्कर, प्रेलर तथा अन्य विद्वानों ने होमर के देवताओं व नायकों में अन्तर्निहित विचारों को नहीं जान पाया, तो जिन नृतत्व शास्त्रियों ने हाटेनटाट तथा जूलू जाति की भाषाओं के व्याकरण का कभी दर्शन ही न किया हो, उन्होंने यदि इस विषय में भूलें की हों तो क्या आश्चर्य है?

नृतत्व शास्त्रियों को व्याकरण में माथापच्ची करने की खुली छूट देकर हम लोगों को निर्द्वंद भाव से अपने काम में आगे बढ़ना चाहिये। यदि हमको असभ्य जातियों की पुरा कथाओं से ज्ञान की क्षीणतम् किरण भी मिलती है तो हम उसका बहिष्कार क्यों करें? हम जानते हैं जाति सम्बन्धी शोधों का पर्याप्त महत्व है, परन्तु हम यह भी जानते हैं कि ये शोध पुराण-शास्त्र को सभी कथाओं के रहस्यों एवम् रहस्यात्मक वृत्तों का उद्‌घाटन नहीं कर सकते।

प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि यदि हमें पुरा-कथा-शास्त्र का अध्ययन करना ही हो तो हमें केवल आर्यों की कथाओं एवम् उन्हीं की भाषाओं का अध्ययन करना आवश्यक है और असभ्य जातियों में प्रचलित पुराकथाओं का अध्ययन करने की कोई आवश्यकता नहीं। प्रोफेसर सेसी ने तो यह नियम ही बना दिया है कि आर्य गाथाओं की तुलना हमें आर्येतर जातियों की गाथाओं से करनी ही नहीं चाहिये। इसमें शक नहीं कि शब्द विचार पर आधारित पुराशास्त्र के छात्र भी ऐसा ही मानते हैं, परन्तु मैं तो देखता हूँ कि आर्य गाथाओं के कितने ही रहस्य न केवल सेमेटिक पुराकथाओं से वरन् बुशमैन के जन-गीतों से भी उद्‌घाटित हुए हैं।

हमें जानना चाहिये कि मानव की विभिन्न भाषाओं में अन्तर है, महान

अन्तर ; किन्तु हमें यह भी जान लेना चाहिये कि मानव प्रकृति प्रायः सारे संसार में समान है, और इसीलिये यह आवश्यक हो जाता है कि हम पुरा-कथाओं का अध्ययन करते समय 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की मान्यता को लेकर चलें। भाषाओं के विभिन्न परिवारों में चाहे जितना अन्तर हो, परन्तु हमें भूलना न चाहिये कि भाषा में निहित उद्देश्य एवम् जीवन की सामान्य एकताएँ सर्वत्र एक-सी रही हैं। यदि विचार सारणी सबकी एक सी हो तो उनके व्याकरण में (स्थानागत भेदों के अतिरिक्त) समानताएँ होनी आवश्यक हैं।

यदि आर्यन् और आर्येतर भाषाओं का अध्ययन लाभजनक न भी हो तो भी वह मानव भाषा की उत्पत्ति एवम् उसके कारणों पर पर्याप्त प्रकाश डाल सकता है। हमने देखा है कि आर्य पराकथा-शास्त्र को समझ पाने के लिये आर्येतर जातियों की पुरा-कथाओं से कितनी सहायता मिली है, क्योंकि हमने देखा है कि विभिन्न जाति के मानवों में अन्य कोई समानता हो या न हो, परन्तु एक बात में सभी मानव समान हैं कि सब में धर्म का अस्तित्व है और उस धर्म में सभी का न्यूनाधिक विश्वास है। यदि अर्द्ध सभ्य अथवा असभ्य जातियों की गाथाएँ सभ्य जातियों की पुरा-कथाओं पर स्पष्ट प्रकाश डाल सकती हैं तो कोई कारण ऐसा नहीं है कि हम उस प्रकाश-किरण की ओर से आँखें मूँद लें यदि सभी लोगों की प्राथमिक आवश्यकताएँ समान हैं तो उनके विचारों में भी साम्य होना आवश्यक है। इतना ही नहीं बल्कि विचारों की वाहिका भाषा एवम् भाषा को नियंत्रित करने वाले व्याकरण में भी समानता हो सकती है।

आप धर्म पर ही विचार कर लें। धर्म चाहे जो भी नाम या ढंग अख्तियार कर ले, फिर भी उसमें विचित्रताएँ कम ही मिलती हैं। जैसे संसार के सभी धर्मों में अनन्त एवम् अदृश्य में आस्था है। अनन्त से हमारा (और सभी धर्मों का भी) तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो हमारी इन्द्रियों से परे हो। अब यह भिन्न बात है कि यही अनन्त की भावना हमें पूर्वजों एवम् देवताओं में विश्वास करने को बाध्य करती है। अनन्त की इस भावना ने ही हमारे मन में अज्ञात एवम् अज्ञेय की भावना को जन्म दिया है। यही दो बातें संसार के सभी धार्मिक विश्वासों के मूल में हैं और सम्भव है कि यही दो बातें विचार-विज्ञान के लिये भी उपयोगी हों।

यदि हम समूचे संसार की सभी सभ्य, अर्द्धसभ्य तथा सभ्य जातियों में समान गाथाएँ देखने को पाते हैं, जिनमें अविश्वसनीय तथा असम्भव की अभिव्यजनाएँ; दैत्य एवं बवने, मानव के समान व्यवहार करने वाले पशु, पशु की तरह व्यवहार करने वाले मानव, पेड़ों का मानव रूप में एवम

मानव का वृक्ष रूप में परिवर्तन की भावनाएँ होती हैं, तो क्या हमारे मन में मनोरंजन की भावना के साथ इस विश्वव्यापी विचार प्रणाली के कारणों की जाँच करने की भावना का उदय नहीं होता ? यह सत्य है कि यदि दो समान बातें दो असमान स्थानों में घटित होती हैं या अनेक स्थानों में घटित होती हैं तो यह आवश्यक नहीं है कि इस साम्य के कारण ही हमें उस घटना के कारण या मूल का पता लग कर ही रहे। इससे तो हमें यह अनुभूति होती है कि देखने में जो अविवेक मय है, वह सम्पूर्णतः अविवेक मय नहीं हो सकता और यह कि जो बातें इतने बड़े संसार में समान रूप से पायी जाती हैं, उसका कुछ न कुछ कारण तो अवश्य ही होना चाहिये।

संसार के जनगीतों ने अद्भुत साम्य है और मजा तो यह है कि यह सम्भावना न तो इतिहास युग में ही दिखायी पड़ती है न इतिहास-पूर्व-युग में ही कि इन सभी के स्रष्टाओं में कभी का आवागमन रहा हो। बोलने वाले जानवर हमें यहूदियों की गाथाओं में मिलते हैं और हाटेनटाट्स की कथाओं में भी। आदमियों का तारों के रूप में परिवर्तित हो जाना अवश्य ही एक चौंका देनेवाली बात है, फिर भी सभ्यता के विचार से निम्नतम् स्तर से लेकर उच्चतम् विचार की जातियाँ भी ऐसी बातों में यदि विश्वास नहीं करतीं तो अविश्वास भी प्रगट नहीं करतीं।

जन-गीतों पर विचार करनेवाले लोगों के समक्ष ये सब समानताएँ इस रूप में खड़ी हो जाती हैं कि उसे यह विश्वास करने को बाध्य हो जाना पड़ता है कि एक समय समूचे संसार पर एक अति विचित्र पागलपन का दौरा पड़ गया था, जिसके वशीभूत होकर समस्त संसार की सभी जातियों ने ऐसी उन्मादपूर्ण कथाओं को जन्म दिया। विभिन्न जातियों ने चन्द्रमा के धब्बों से एक मानव की आकृति का दर्शन किया या एक स्त्री आकार को देखा या किसी पशु की छाया देखी, यह तो समझ में आनेवाली बात है; परन्तु एक ओर तो हिन्दू चन्द्रमा के बिम्ब में खरगोश का दर्शन करें और उधर मंगोलिया वाले भी चन्द्रमा के धब्बों में खरगोश को ही देखें इस साम्य पर मुश्किल से ही विश्वास होता है। इस बात पर विचार करते समय हमें यह बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिये कि मंगोलिया निवासी पर्याप्त समय तक बौद्ध उपदेशकों के उपदेश से प्रभावित रहे हैं और वे बौद्ध लोग भारत के थे जो चन्द्रमा को शशेन् कहते ही हैं। इसी प्रकार से विचार करके हम कितनी ही समानताओं को समझ सकते हैं। यह सत्य कि सारी बातें इस साधन से स्पष्ट नहीं होंगी। फिर भी हम सन्तोष पूर्वक इस मान्यता को

तो स्थान दे ही सकते हैं कि 'जो एक स्थान के मानव के लिये सम्भव है, वह अन्य स्थानों के मानव के लिये सम्भव तो हो ही सकता है।

जन-कथाओं में जो अविवेकता की भरमार दिखाई पड़ती है उसको समझाने के लिये, स्पष्ट करने के लिये कम से कम एक नियम को तो मान्यता प्राप्त हो चुकी है और विभिन्न जातियों की परम्पराओं एवं रीतियों से हमारा जो भी परिचय हो चुका है, उसके बल पर उस मान्यता का समर्थन ही होता है। उक्त मान्यता को हम इस प्रकार प्रगट कर सकते हैं: प्रत्येक भाषा की प्रकृति में ही कुछ ऐसी बातें होती हैं (और यही बात रिवाजों के बारे में भी सत्य है) जो अविवेक की वृद्धि में सहायक होती हैं। कुछ दिनों पूर्व स्वयम् मैंने ही पुरा-कथाओं को भाषा की रुग्णता के रूप में अभिहित किया था; यद्यपि आज मैं सोचता हूँ कि यह कहना अधिक मर्यादित होता यदि मैंने उसे भाषा की सुधार का, प्यार का, सहानुभूति का रूप दिया होता। यह बात और भी दार्शनिकता पूर्ण होती यदि मैंने कहा होता कि हमारे विचारों की अभिव्यंजना की सफलता भाषा की सबलता या निर्बलता पर अवलम्बित है अर्थात् हम जो कुछ भी कहना चाहते हैं यदि उसे कहने योग्य शब्द हमारी भाषा में नहीं रहते तो हम समीपतम् अर्थ देने वाले शब्दों का सहारा लेते हैं। मैं भी उपमा उपमेयों का सहारा यदि लूं तो कहना पड़ेगा कि ये आधे समझ में आनेवाले रिवाज तथा ये पुराकथाएँ एक प्रकार की पुनर्जागृति के रूप हैं। हमें यह सोचना चाहिये कि हमारे शरीर में जब भी कोई विजातीय पदार्थ ऐसा पहुँच जाता है, जिसे न तो हमारा शरीर पचाकर काम में ही ले आ सकता है और न उसे सामान्य रूप से बाहर ही निकाल सकता है तो हमारे शरीर में ऐसा कोई रोग हो जाता है, जिसके वजह से वह विजातीय पदार्थ बाहर निकल जाता है। यदि रोगी के शरीर में या यों कहें कि अनेक रोगियों के शरीर में समान रोग लक्षण उत्पन्न हो जायँ तो हम यही तो कहेंगे न कि वे सब समान रोग से पीड़ित हैं।

हमें जिस बात का दृढ़ विश्वास होना चाहिये वह यह है कि प्रत्येक कथा के जन्म काल में वह समझ की सीमा में थी और समझ में आनेवाले कार्यों की ही कलापूर्ण अभिव्यंजना करती थी। जब प्राचीन काल में ग्रीक लोग कहते थे कि रात सबको निगल लेती है तो उसका मतलब स्पष्ट था कि रात में कोई वस्तु दिखायी नहीं देती। आज हम कहते हैं कि पृथ्वी अपने अक्ष पर घूमती है और इसी के परिणाम स्वरूप दिन-रात होते हैं। इसी को पुराकालीन जन कहते थे कि रात और दिन एक दूसरे का पीछा करते हैं। यही पीछा करने का भाव कालान्तर में समझ की सीमा से बाहर हो गया, जब रात

श्रौर दिन के सूचक शब्दों का अर्थ हम भूल गये। बस ऐसी ही स्थिति में हम किसी कथा को पौराणिक कथा कहने लगते हैं।

इसी प्रकार जब तक हम दफने को उषस् के रूप में तथा फोबस को प्रातःकालीन सूर्य के रूप में पहचानते रहे तो यह कहना विवेक पूर्ण ही था कि दफने फोबस के आलिंगना-पाश से दूर भाग जाती है, किन्तु जब दफने शब्द का वास्तविक अर्थ विस्मृत हो गया, तो यही कथा पुरा-कथा के रूप में हो गयी। धीरे-धीरे फोबस के रूप में भी परिवर्तन होने लगा श्रौर कालान्तर में फोबस शब्द सूर्य बोधक न होकर मात्र एक सुन्दर राजपुत्र का नाम रह गया श्रौर फिर तो दफने को भी एक सुन्दरी राजपुत्री के रूप में मान्यता मिल गयी।

प्रायः ऐसा कहा गया है कि किसी का किसी द्वारा निगल जाने की प्रथा उन्हीं जातियों में प्रचलित हुई होगी, जो नरभक्षक रहे होंगे, जिन्हें इस प्रकार की बातें घृणित न मालूम होती रही होंगी। ऐसी मान्यताश्रों को गलत प्रमाणित करना वास्तव में एक कठिन काम है। उन लोगों की बातों को भी असत्य सिद्ध करना असम्भव ही है जो यह कहते हैं कि एक समय हिन्दू भी नरभक्षी थे और ग्रीक लोग भी, क्योंकि श्राज भी ग्रीक जाति का विश्वास है कि क्रोनस ने श्रपने ही बच्चों को खा लिया था श्रौर हिन्दुश्रों का विश्वास है कि राहु सूर्य श्रौर चन्द्र को ग्रस लेता है। मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि इस प्रकार के सिद्धान्त की कोई श्रावश्यकता ही नहीं है। यदि हम उक्त सिद्धान्त को मान भी लें तो भी हम जितने का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं उसके एक बहुत ही अत्यन्त श्रंश का स्पष्टीकरण हो सकेगा। ऐंथ्रोपोलोजिस्ट का यह कहना है कि ऐसा भी समय था जब लोग श्रपने बच्चों को निगल जाते थे श्रौर श्रावश्यकता पड़ने पर फिर उगल देते थे; परन्तु इससे भी इन कथाश्रों को समझने में कोई सहायता नहीं मिलती। बात चाहे जो भी हो, परन्तु ऐसे भी तथ्य हैं जिनसे इन गाथाश्रों पर ज्यादा ही प्रकाश पड़ता है। श्रौर हमें जिनका ध्यान अवश्य ही रखना चाहिए। निगल जाना या खा जाना ऐसी क्रियाएँ हैं जो कई अन्य श्रर्थों में प्रयुक्त होती हैं। कितने ही लोग ऐसे हैं जो किसी भी बात को पचा नहीं सकते (उगल देते हैं); दूसरे लोग हैं जो श्रपमान को निगल जाते हैं; कितनों के भाग्य को ग्रहण लग जाता है। ऐसी स्थिति में जब हमारे पूर्वज कहते थे कि रात दिन को निगल लेती है, या सूर्य उषा को खा जाता है, या तूफान बादलों को खा जाते हैं या चन्द्रमा को उसका शत्रु राहु ग्रस लेता है तो हम उन्हें मानव-भक्षी क्यों मानने लगें? हम लोग कहते हैं कि चन्द्रमा को ग्रहण लग गया है, एंथ्रोनि वाले

कहते हैं कि चन्द्रमा को खा लिया जाता है और मेरा विचार है कि हम सब लोग जानते हैं कि चन्द्रमा को ग्रस लिये जाने अथवा चन्द्रमा को खा लिये जाने का क्या तात्पर्य है। इस प्रकार की सभी अभिव्यंजनाओं के जन्मदाताओं ने इनके अर्थों को स्पष्ट समझा था परन्तु समय बीतने पर इस प्रकार की अभिव्यंजनाओं का अर्थ अस्पष्ट हो गया। जो कुछ भी हो हमारा तो यह कहना है कि भाषा में अभिव्यंजना-कौशल का यदि ध्यान रक्खा जाय तो अधिकांश पौराणिक गाथाओं का अर्थ स्पष्ट हो जायगा। हिन्दुस्तानी भाषा में तो खाना क्रिया के बड़े ही विचित्र प्रयोग देखने को मिलते हैं। वहाँ मार भी खायी जाती है।

जिस प्रकार भाषा में नष्टावशेषों के पुनः प्रचलन में आ जाने की प्रक्रिया होती है, उसी प्रकार रीति-रिवाजों में भी होता है। इन रीति-रिवाजों के विषय में भी मेरा मत है कि जब ये रीतियाँ प्रचलित हुईं तो लोग इनका अर्थ समझते थे। कालान्तर में लोग बिना तात्पर्य समझे ही इन्हें करने लगे तो धीरे-धीरे अस्पष्ट होते-होते उनके तात्पर्य के लोग भूल गये और आज वे हमारे सामने एक अनबुझ पहेली के रूप में खड़ी है। इसी प्रकार हम मानते हैं कि कुछ मणियों में औषधि का असर होना माना जाता है। ऐसी स्थिति में आज जिस मणि से कलेजे की बीमारियों के शान्त होने की बात मानी जाती है, कल उसी से बुखार भी शान्त होने की बात भी मानी जा सकती है। और भी आगे चलकर वही मणि समस्त रोगों के नाशक रूप में प्रख्यात हो जाय तो क्या आश्चर्य है? मि० ऐण्ड्रू लैंग ने अपनी पुस्तक 'कस्टम ऐंड मिथ' में वार्ता दी है जिससे कितनी ही बातें स्पष्ट हो जाती हैं। हमारे मित्र मि० जे. जे. ऐटकिंसन ने न्यू कैलिडोनियाँ की विभिन्न जातियों की रीतियों का अच्छा अध्ययन किया है। उन्होंने एक बार एक व्यक्ति से पूछा कि उसके परिवार वाले एक पत्थर विशेष को क्यों इतना आदर देते हैं। उस व्यक्ति ने बताया कि 'एक बार उसके परिवार में एक व्यक्ति मर गया। उसकी लाश रक्खी हुई थी और कुछ अंतिम रिवाज पूरे किये जा रहे थे उसी समय लाश के अति समीप एक छिपकली दिखाई पड़ी। छिपकली हमलोगों के यहां पवित्र चिन्ह (Totem) मानी जाती है। एक आदमी ने उक्त छिपकली को छूने का प्रयास किया तो वह वहां से गायब हो गयी और उसी स्थान पर एक छोटा-सा पत्थर का टुकड़ा मिला, जो पहले वहां नहीं था। बस तभी से हम इस पत्थर को पवित्र मानने लगे। सचमुच उस जाति में उस पत्थर को परम पवित्र माना जाता है।'

उक्त स्थिति में यदि उस व्यक्ति को उक्त कथा न मालूम होती तो उसकी पवित्रता के कारण का किसी को पता भी नहीं चलता। फिर उसके बच्चों को सन्तोष प्रदान करने के लिये किसी न किसी सम्भव या असम्भव का कारण या कथा का सहारा ही तो लेना पड़ता। यही स्थिति प्रायः प्रत्येक पवित्र या अपवित्र मानी जाने वाली वस्तु की है।

इस प्रकार हम यदि यह मान लें कि आज जितने भी रीति रिवाजों के स्पष्टार्थ का पता हमको नहीं है, उनका कभी न कभी कोई तात्पर्य था और बाद में लोग उनको भूल गये तो हमारे लिये अनेक बातें, अनेक रहस्य आप ही आप सुलझ जायेंगे। इस व्यापक अस्पष्टता में मानव प्रवृत्ति का भी कम हाथ नहीं है। बात यह है कि मानव की आस्था स्पष्ट रीतियों में कम परन्तु अस्पष्ट रीतियों में अधिक होती है; और यदि वे पुरा-काल की हो तो कहना ही क्या? इसीलिये जिन प्रचलनों एवं पुरा-कथाओं के प्रारम्भबिन्दु हमारी पहुँच के सर्वथा बाहर रहते हैं उनके विषय में विचार करते समय हमें उनकी समानान्तर कथाओं एवं रीतियों के रहस्य को जानने का प्रयत्न करना चाहिये, भले ही वे कथाएँ या रीतियाँ दूरदेशीय हों। यही बात नैतिक-मनोवैज्ञानिक-पुरा-कथा शास्त्र को बल देती है। इस प्रकार के विचारों का यह विश्वास है कि यदि समय और स्थान के विचार से अत्यधिक अन्तर पर रहने वाली दो मानव जातियों में समान अविवेकपूर्णता युक्त कथा या रीति मिलती है तो हमें मानना चाहिये कि आज भले ही वे हमारे लिये उद्देश्य रहित दिखाई पड़ें, परन्तु प्रचलन काल में इनका कुछ न कुछ अर्थ, कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य था। अभी यह शास्त्र मान्यता रूप में ही है, इसे सिद्धांत का रूप नहीं मिला है, किन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि आने वाले समय में यदि इस मान्यता के अनुकूल तथा प्रतिकूल पक्षों में कार्य होता रहा तो इसकी प्रतिक्रिया, इसका परिणाम ज्ञान-वर्द्धक होगा।

आइये हम केवल एक विषय पर विचार करें। पुराकथाओं पर विचार करते समय (चाहे वे रोमन हों या ग्रीक हों या वैदिक) हम कितनी ही बार इस परिणाम पर पहुँच चुके हैं कि इन कथाओं में सूर्य के ही विभिन्न रूपों (प्रातःकालीन, दोपहर एवं सांयकालीन, बसंत ऋतु का सूर्य इत्यादि) को कथा का नायक बनाया गया है। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम कथाओं का सूत्र पकड़ कर विलोम गति से चलते हुए उस आदिमकाल में पहुँच जाते हैं जब इन कथाओं की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई थी। बार-बार यह कहना अच्छा नहीं लगता कि 'यह सौर कथा है और इस कथा का विषय

उषस् से सम्बन्धित है।' परन्तु जब हम जाति विज्ञान के शोधकों की राय मानने लगते हैं और जब उनके ही मतानुसार तुलनात्मक पुराण-शास्त्र पर पहुँचते हैं, जब हम हॉटेनटाट जाति के जनगीतों पर विचार करते हैं, साथ ही अमेरिका के रेड इण्डियन, नेविसकन तथा अण्डमान के लोगों में प्रचलित जन-कथाओं पर विचार करते हैं और सब ही जगह एक ही भाव देनेवाली जन-कथाएँ पाते हैं तो हम साहस पूर्वक यह सोचने लगते हैं और इस बात पर हमारे आश्चर्य की मात्रा घटने लगती है कि ग्रीस, रोम तथा भारत वालों ने भी क्यों इतनी अधिक सौर-कथाओं की सृष्टि की। आज हमारे जीवन का क्रम प्राचीन काल की अपेक्षा एकदम बदल गया है। ऐसी स्थिति में हम प्रायः भूल ही गये हैं। सूर्य से हमारे जन-जीवन का कितना बड़ा भाग प्रभावित है, फिर भी नित नये वैज्ञानिक अनुसन्धानों एवं आविष्कारों का भी यही कहना है और वे यही सिद्ध भी करते हैं कि हमारी इस पृथ्वी पर का जो कुछ भी है सब सूर्य की ही देन है। आज भी हमे कोई आश्चर्य नहीं होगा यदि कोई कहे कि 'हमारे सामने जितने भी भौतिक पदार्थ हैं, उनमें सूर्य ही हमारा सबसे बड़ा मित्र और पोषक है।' आज भी हम कहें कि 'दृश्य तत्वों में से सूर्य से हमारा जितना उपकार होता है उतना उपकार अन्य किसी भी प्राकृतिक पदार्थ से नहीं होता,' तो हमें कौन गलत कहेगा ?

यदि हम कहें कि अनपवाद रूप से पृथ्वी की सारी जातियाँ अपनी सभ्यता के प्रारम्भ में सूर्य को सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक महान् मानकर उसकी उपासना करती थीं, तो यह अतिशयोक्ति न होगी। वास्थोम ने कुछ ऐसी जातियों का विवरण दिया है जो सूर्य को न पूज कर चन्द्रमा की पूजा करती हैं, परन्तु ऐसी जातियाँ तो शायद नहीं हो, जो सूर्य की पूजा तो करती हों परन्तु चन्द्रमा की पूजा न करती हों। आज भी मानव-जाति शास्त्रियों का कथन है कि सूर्य की उपासना इसलिये नहीं की जाती थी कि वह आग के एक वृहदाकार गोले के सदृश हैं वरन् उसे जो लोग पूजते थे वे उसे (सूर्य को) प्रकाशोद्गम, ऊष्मादायक जीवनदायक, मानकर ही पूजते थे। आश्चर्य तो इस बात का है कि इस प्रकार की सूर्योपासना भू-मध्यरेखा से लेकर ध्रुव प्रदेश तक के तथा भारतीयों से लेकर रेड इण्डियन जाति के लोग भी करते हैं। यही कारण है कि जब ग्रीक तथा रोमन पुराकथाओं की पृष्ठ-भूमि से सदैव सूर्य ही झाँकता दिखायी पड़ता है तो हमे कोई आश्चर्य नहीं होता।

सन् १८७५ में हिबर्टलेक्चर्स में व्यस्त था तो इन बातों को इतना अधिकार पूर्वक कहने का साहस मुझे नहीं हुआ था, परन्तु इधर जाति शास्त्र ने इतनी अधिक बातें बतायीं की पुरा-कथाओं के सौर-सिद्धान्त ने सिद्धान्त न रहकर तथ्य का रूप धारण कर लिया है।

विद्वानों ने इस नवीन उपलब्धि से फायदा भी कम नहीं उठाया है। मेरे द्वारा दिये गये 'हिबर्ट लेक्चर्स' की प्रतिलिपियाँ सम्बन्धित विज्ञानों के अनेक लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वानों के पास भेजी गयी थीं, और मुझे यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई है कि उनमें से प्रायः सभी विद्वानों ने मुक्तकंठ से पुरा-कथाओं के सौरमूलक सिद्धान्त को तर्कसंगत एवम् सही माना है।

मुझे सम्बन्धित विषय पर जितने भी ग्रंथ पढ़ने को मिले हैं, उनमें मि० रेनाड लिखित 'मिश्र का धर्म' नामक ग्रंथ विशेष सामग्री-पूर्ण जान पड़ा। यदि हम मिश्र के देवताओं को देवताओं की संज्ञा दे सकते हैं तो मि० रेनाड ने उन देवताओं पर पर्याप्त बल दिया है। अन्त में उन्होंने यह प्रदर्शित किया है कि मिश्री देवताओं के समूह को यदि उनकी प्रकृति के अनुसार विश्लेषित किया जाय तो हमें पता चलता है कि उनमें भी पूर्वा पर सम्बन्ध स्थापित करके मिश्र के समस्त पुरा-कथा-शास्त्र को रॉ और ओसिरिस की कथाओं के अनेक रूपों में लाया जा सकता है। अन्त में ये दोनों भी परमेश्वर की ही एकमात्र सत्ता में विलीन हो जाते हैं। मि० रेनाड के साथ-साथ मिश्र के जाने-माने विद्वान् स्वर्गीय रोज का भी यही मत है कि अति प्रारम्भ काल में मिश्र का धर्म एक देववादी था और कालान्तर में वह बहुदेव वादी हुआ। मि० रेनाड का तो यह कहना है कि मिश्र में एक ही व्यक्ति ने एकदेववाद के साथ ही साथ बहुदेववाद का प्रचार किया और सुनने वालों को, उसकी बातों को मानने वालों को उस व्यक्ति की बातों में कहीं भी अव्यवस्था न दीख पड़ी। अन्त में जब मि० रेनाड ने मिश्र की धार्मिक पुरा-कथाओं का विश्लेषण किया तो उन्होंने पाया कि इन कथाओं का प्रत्येक शब्द सौरमूलक था।

यदि हम मिश्र से अपनी दृष्टि मेक्सिको की ओर फेरें तथा वहाँ की कथाओं का विश्लेषण करें तो हम देखेंगे कि मेक्सिको की कथाओं में से सब की सब सौर-मूलक हैं, यद्यपि यह सत्य है कि वहाँ के बहुदेववाद के पीछे एकदेव की भावना उतनी प्रबल नहीं है। अपने हिबर्ट लेक्चर्स के क्रम में मि० रेविली ने कहा था, "सेन्ट्रल अमेरिका वालों के धर्म में मूलविश्वास इसी बात पर प्रकट किया गया है कि सूर्य का स्थान ही उन देवों में सर्वोच्च है, जिनका उस देश के निवासियों

ने मानवीकरण कर लिया है। सूर्य की प्रेमिका के रूप में चन्द्रमा की मान्यता है और उन्हें पितामह तथा मातामही कहा गया है। सूर्य के एक पुत्र का होना भी कहा गया है जो स्वयम् सूर्य का बदला हुआ रूप ही है और इस बदले हुए रूप में सूर्य ही उनका विधायक, विजेता एवं सुधारक है जो विभिन्न जनों में विभिन्न देवों के रूप में प्रख्यात हैं"

अब इसी का प्रतिरूप मि० रेनाड के लेख में देखें :—

"प्राचीन संसार एवम् सेन्ट्रल अमेरिका के बहुदेववाद में एक ही अन्तर है और वह यह है, कि द्यौस्, वरुण, जीअस, अहुर्मज्दा तथा चीन के तायन अमेरिकन पुरा-कथाओं में उस उच्च पद पर प्रतिष्ठित नहीं किये गये हैं, जो उन्हें प्राचीन संसार ने दिया है। शेष बातों में नवीन संसार एवम् प्राचीन संसार की पुरा-कथाओं में कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनों ने ही विभिन्न प्राकृतिक शक्तियों को देवता के रूप में माना है और वे शक्तियाँ देव रूप में दोनों द्वारा पूजित होती हैं।"

जिस प्रकार मेक्सिको में सम्पूर्ण पुराण-शास्त्र सौर-मूलक है, उसी प्रकार पीरू के इंका लोगों में भी धार्मिक रूप से भी और पौराणिक रूप से भी सूर्य की ही प्रधानता है। स्वयम् अपने ही विश्वास के अनुसार इंका लोग सूर्य के वंशज हैं। इस विषय में भी मि० रेविली के शब्दों को सुनिये :—

"जितनी अधिक निष्ठा से एवम् जितने अधिक प्रत्यक्ष रूप में पेरू में सूर्य की उपासना होती है उतनी निष्ठा एवम् प्रत्यक्षता संसार के किसी भी भाग में दिखायी नहीं देती। सूर्य को ही समस्त संसार का अधिष्ठाता माना जाता है और वही पृथ्वी एवम् स्वर्ग का मालिक है। पेरू की भाषा में उसे इन्ती (प्रकाश) कहा जाता है। गांवों का सामना पूर्व की ही ओर होता था ताकि गृहस्थ लोग उदय होने के तुरन्त बाद ही सूर्य का दर्शन कर सकें। वहाँ के तमाम मेले, सभी उत्सव सूर्य के ही सम्मान में होते हैं।"

जब सूर्य पुरुष रूप है तो उसकी स्त्री का भी अस्तित्व होना ही चाहिये। अतः सूर्य की स्त्री के रूप में चन्द्रमा को मान्यता दी गयी, जिसे पेरू में मामा किला कहते हैं। एक बार जब प्रकृति के इन महा उपादानों को देवता का स्वरूप मिल गया तो जो शक्तियां छोटी थीं, जैसे वर्षा, तूफान, बादल की गरज, बिजली इत्यादि, उन्हें भी देव स्वरूप प्राप्त हो गया। नीचे मैं डा० ब्रिण्टन लिखित ग्रंथ 'ऑन द मिथ्स आव द निउ वर्ल्ड' की कुछ पंक्तियाँ दे रहा हूँ

जिससे मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। ये पंक्तियाँ एक जनगीत के अनुवाद का रूप है :—

"जब सूर्य उदय होता है तो मानव अपनी निद्रा को त्याग कर उठता है, सूर्याभिमुख होकर प्रार्थना करता है। पूर्व की ओर उसका मुख होता है और इसी से वह सारी दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करता है। पूर्व की उसके लिये वही स्थिति है, जो कुतुबनुमा की सुई के लिये उत्तर की है। पूर्व में ही स्वर्गीय अग्नि का निवेश है, सूर्य का गृह है, प्रातःकाल का गर्भस्थल है। यही दिशा अन्तरिक्ष में समय का निर्माण करती है।......

"इसी दिशा से धर्म और कला के शिक्षक, उनके पूर्वज आये थे, वहीं वे गये भी और अपना पद ग्रहण करने के लिये वहीं से वे फिर आवेंगे। उषा प्रकाश लाती है और प्रकाश ज्ञान का स्वरूप है। चूँकि वह रात की भयंकरता को दूर करता है, अतः वह सुरक्षा, गौरव, स्वर्गीयता का प्रतीक है। इन सब को देने वाली पूर्व दिशा को प्राचीन जनों ने अत्यधिक महत्व दिया था।"

पश्चिम स्वर्गस्थ आत्माओं की कब्र है या वही उनका अन्तिम लक्ष्य है और विश्रामस्थल है।

मैं जब इन पंक्तियों को नकल करके लिख रहा था तो मुझे यह जानकर परम प्रसन्नता हुई कि इनके लेखक का मत भी वही है जो स्वयम् मेरा है।

अब आइये, हम देखें कि 'ग्रेट हेअर' के विषय में डा० ब्रिण्टन का क्या कहना है। मिकाबो मिको (महान्) का रूप है और वैबस का अर्थ खरगोश, परन्तु वैबस एक ऐसी धातु से बना है जिसका अर्थ होता है उज्वल होना। वास्तव में यह धातु संस्कृत धातु दिव् का ही रूपान्तर मात्र है, जिससे बने दिव, द्यौस्, दिव्य, देव इत्यादि। ऐसी स्थिति में यदि हम यह मान लें कि ग्रेट हेअर वही है जो द्यौस है तो हमें इन कथाओं के सौर रूप को मानना ही होगा।

इतना कह चुकने के पश्चात् डा० ब्रिण्टन आसानी से कह सकते हैं कि प्राचीन काल की जितनी भी ऐसी पौराणिक कथाएँ हैं, जिनमें ग्रेट हेअर का वर्णन है, वे सब की सब अर्थपूर्ण हो जाती हैं। उनके दो चक्र हैं। एक में मिकाबो प्रकाश का देवता है, दाता है जो अंधकार को दूर कर देता है; दूसरे चक्र में वह दिशा-सूचक है, वह वायु का स्वामी है, गरज जिसकी ध्वनि है, बिजली जिसका अस्त्र है। उसी के समक्ष लोग उदय काल में हाथ उठाकर प्रार्थना करते हैं, जिसका घर पूर्वाकाश में है।

जिन लोगों की इस विषय में रुचि है, मैं उनको डा०ब्रिण्टन द्वारा लिखित

पुस्तक का ध्यान दिलाना चाहता हूँ, जिसमें उन्होंने प्रदर्शित किया है कि प्राचीनों को सूर्य की महत्ता का, सूर्य के गुणों का एवं सूर्य के प्रभावों का कितना ज्ञान था और उनकी प्रकाश, प्रातः, उषा, प्रसन्नता, एवं भले की भावना से उन प्रभावों का एकीकरण हो गया था। अन्य भू-भागों की तरह ही अमेरिका में भी सृष्टि सम्बन्धी कथा उज्ज्वल पुरुष (White one) उषा इत्यादि में केन्द्रित हो गयी है। उनमें ऐसी भी प्राचीन कथाएँ हैं जिनमें श्वेतवर्णीय बालकों की क्रीड़ा का वर्णन है और ऐसी कथाएँ यूरोप निवासियों में भी पायी जाती हैं। पश्चिमी आस्ट्रेलिया में आदि वासियों का विचार था कि प्रथम यूरोपियन आक्रामक उन्हीं के पूर्वज थे, क्योंकि वे पश्चिम से आये थे, जिधर उनके पूर्वज मर कर गये थे।

इसी प्रकार के विश्वासों की श्रृंखला प्रायः हमें सभी देशों में मिलती है। न्यूजीलैण्डर्स के जनगीतों का संग्रह सर जार्ज ग्रे ने किया है। इन कथाओं में मौई एक महान् सौरनायक है। उससे कहा जाता है कि जब वह सफल होकर अपने पितृदेश को लौटेगा तो उसकी शक्तिशालिनी पूर्वजा हिने-नुई-टी-पो उसे पराभूत कर देगी। वह क्षितिज के समीप चमकती रहती है। मौई बुरा नहीं, फिर भी वह यह देखने के लिये आगे बढ़ा कि मनुष्य के भाग्य में अमरत्व है या मृत्यु। जिस समय मौई का बपतिस्मा हो रहा था, उस समय कार्य-क्रम में कुछ त्रुटि हो गयी थी और उसके पिता को भय था कि कहीं मौई का अनिष्ट न हो जाय, हम मौई को एकिलस, सिफ्रीड तथा अन्य सौरनायकों की भाँति ही सम्माननीय पाते हैं। संध्याकाल होने पर वह अपने पूर्वजा के निवास की ओर गया और उसे शयन-रत पाया। वह धीरे से उसके शरीर में प्रवेश कर गया, साथ ही पास की चिड़ियों को आदेश देता गया कि वे तब तक शब्द न करें, जब तक वह बाहर न आ जाय। जब वह कमर तक निकल चुका तो तिवाकुआका नामक पक्षी अपने पर नियंत्रण न कर सका; फलतः हिने नुई-टी-पो जग गयी और मौई वहीं मारा गया। यदि मौई वापस निकल सका होता तो मानव अमर हो जाता।

इस प्रकार स्वयं अपने ही जनक-जननी द्वारा निगल लिये जानेवाली कथा प्रायः सभी देशों में मिलती है। यह या तो रात्रि द्वारा निगल लिये जाने दैनिक सूर्य है, या जाड़े द्वारा निगल लिये जाने वाला ग्रीष्मऋतु का सूर्य है या यदा-कदा बादलों से ढक्क लिये जाने वाले सूर्य है। मि० टाइलर ने इस कथा की तुलना कैरेन कथाओं में से ताय्वा वाली उस कथा से किया है, जिसमें ताय्वा शिशु काल में ही सूर्य की ओर चल देता है, जिससे वह शीघ्र उदित हो। सूर्य,

गर्मी एवं वर्षा के आक्रमणों को वह सहता गया और अन्त में वह इतना बढ़ा कि आकाश को स्पर्श करने लगा। वह दुबारा यात्रा पर गया, जिसमें एक सर्प ने उसे निगल लिया, परन्तु ताव्वा उसे चीरकर फिर स्वतंत्र हो गया। यह पौराणिक कथा महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसमें दैनिक एवं वार्षिक दोनों ही प्रकार के सूर्यों के दर्शन हो जाते हैं।

मौई अपने चार भाइयों में सबसे छोटा है। उन चारों ही भाइयों का नाम मौई है। कनिष्टतम मौई को उसकी माँ तरंग ने सागर में फेंक दिया था, परन्तु उसके पूर्वज तमा-नुई की-ता-रंगी ने उसे बचा लिया और उसे छत से लटका दिया। एक दिन जब तरंग आयी तो उसने मौई को अपने पास सुला लिया। मौई नित्य ही देखने जाता कि उसकी माँ सूर्योदय पूर्व ही घर से निकल जाती थी और सूर्यास्त बाद लौटती थी। एक रात को वह माँ के पास से खिसक गया और प्रकाश आने के सभी रास्तों को बन्द कर दिया। तरंग सोती रही यद्यपि सूर्य काफी ऊंचा उठ आया। वह अचानक उठी और घबड़ा कर भगी। मौई ने उसे एक सूराख में घुसते देखा। तरंग सूर्योदय एवं सूर्यास्त के बीच इसी सूराख मे घुसी रहती थी।

इसके बाद मौई अपनी एक अन्य पूर्वजा मुरोरंगा- हनुआ के पास जाता है। सूंघकर जान जाती है कि वह उसी का वंशज है। वह उसे एक हड्डी देती है, जिससे वह अपनी दूसरी यात्रा में सूर्य को घायल कर देता है और तभी से सूर्य की गति मन्द पड़ जाती है।

इसी हड्डी में फँसा कर मौई न्यूजीलैंड को बाहर निकालता है और इसीलिये न्यूजीलैंड को आस्ट्रेलिया भाषा में ते-इकाए मौई (मौई की मछली) कहते हैं। इस प्रकार मछली मारने वाली कांटे से द्वीपों को बाहर निकाले जाने की पालिनोशिया में भी मिलती है। इस प्रकार की कथाओं का अर्थ या तो यह हो कि सूर्य के प्रकाश में ही ये द्वीप दिखायी देते हैं या यह कि सूर्य ही इन्हें निवास योग्य बनाता है।

मौई सम्बन्धी प्रत्येक कथा का अर्थ स्पष्ट हो जाता है यदि हम मौई को सूर्य का नाम मान लें। यदि हम उसे अग्नि या दिन के अर्थ में भी ग्रहण करें तो भी अर्थभ्रष्टता नहीं आती। एक कथा के अनुसार उसने आग को हाथ में उठा लिया और जब उसका हाथ जलने लगा तो वह समुद्र में कूद पड़ा। उसी समय पहले-पहल सूर्य डूबा और पृथ्वी अंधकारग्रस्त हो गयी परन्तु मौई ने सूर्य का पीछा किया और वहीं से फिर सूर्य को लाया।

उपरोक्त सभी कथाओं का नायक या तो सूर्य (दैनिक या वार्षिक) है या अग्नि जो सूर्य की अनुपस्थिति में प्रकाश का स्रोत है। मौई की हत्या रात्रि द्वारा सूर्य की ही हत्या है।

वास्तव में यह तो असम्भव ही है कि हम यह सिद्ध कर दें कि ये घटनाएँ ऐतिहासिक घटनाएँ नहीं हैं, फिर भी मेरा यह विश्वास है कि मि० हरबर्ट स्पेंसर के सिवा किसी भी अन्य व्यक्ति को इस प्रकार के प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। मैं किसी भी ग्रीस निवासी द्वारा डेल्फी स्थिति उस पाषाण को पूजे जाने को सार्थक मानता हूँ, जिसे क्रोनस ने जुपिटर के बदले निगल लिया था, परन्तु कोई भी दार्शनिक स्पेंसर के दृष्टिकोण को माननीय कैसे समझ सकता है?

हम पहले भी देख चुके हैं कि सूर्य का व्यक्तित्व दो प्रकार का है:—एक तो दैनिक सूर्य है और दूसरा शास्वत अर्थात् वह सूर्य जो सृष्टि के आदि से अन्त तक संसार को प्रकाश-दान, जीवन-दान करता रहता है। स्लाव जाति में वैसीलिसा की एक कथा है, उसमें सूर्य के दोहरे व्यक्तित्व के दर्शन होते हैं:—

वैसीलिसा की मां सौतेली है और उसकी दो सौतेली बहनें भी हैं। वे वैसीलिसा को मार डालने के लिये एक षड्यंत्र करती हैं वे उससे कहती कि वह जाय और बाबा यगा के यहाँ से अग्नि ले आवे। बाबा यगा एक जादूगरनी है। वह बेचारी जाती है और जंगल में भ्रान्त हो घूमने लगती है। सहसा वह एक सवार को देख कर चौंक पड़ती है, जो उज्वल वर्ण का है, उसके कपड़े श्वेत वर्ण के हैं और उसका घोड़ा भी सफेद ही है। इसी समय पूर्व में उषा के दर्शन होते हैं। वह आगे बढ़ती ही जाती है। थोड़ा ही आगे चलकर उसे एक दूसरा सवार मिलता है जो रक्त वर्ण का है, उसके कपड़े लाल हैं और उसका अश्व भी लाल ही रंग का है। वह दिन भर चलती रहती है और संध्याकाल में वह जादूगरनी के निवास-स्थान के पास पहुँचती है, तो उसे तीसरा सवार मिलता है, जिसका सब कुछ कृष्ण वर्णीय है। यह सवार जादूगरनी के फाटक के अन्दर घुसता तो है परन्तु इस प्रकार गायब हो जाता है, जैसे उसे जमीन खा गयी हो और रात्रि आ जाती है। ताकि बड़े से बड़े अविश्वासी के मन में भी शंका का स्थान न रह जाय अतः कहानी आगे बढ़ती है। जब वैसीलिसा ने जादूगरनी से पूछा कि श्वेत सवार कौन था, तो उसने बताया कि वह उज्वल वर्णीय दिन था। इसी प्रकार रक्त-वर्णवाले सवार को रक्ताभ सूर्य तथा कृष्णवर्णीय सवार को उसने रात्रि का स्वरूप बताया और कहा कि वे तीनों ही उसके असली मित्र हैं।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि वैसीलिसा को दिये गये ये स्पष्टार्थ भी कहानी के ही भाग हैं और ये कहानी में उस आदि काल से जुड़े हुए हैं, जब किसी को इस कथा के किसी अंश के प्रति किसी भी प्रकार की कोई शंका करने का कोई भी कारण नहीं था।

मुझ पर प्रायः यह दोष लगाया गया है कि मैंने प्राचीनों को इस प्रकार के भावुक एवम् दार्शनिक विचारों से भरे हुए माना है, जो न तो वैदिक ऋषियों के ही लिये सम्भव थे और न अमेरिका के रेड इन्डियनों के ही लिये, परन्तु आप स्वयम् देखें कि एस्थोनियां की क्वाइट तथा अमरिक वाली कथा से अधिक भावुकता के दर्शन कहाँ होंगे ? यदि हाटेनटॉट लोगो में प्रचलित 'चांद, खरगोश एवं कीड़ा' की ही कथा को लिया जाय तो उससे अधिक दार्शनिकता कहां मिल सकेगी ? यह प्रश्न तो एकदम अलग है कि इन कथाओं के सर्जक या सर्जकों ने अथवा कहने या सुनने वालों ने इन कथाओं की रचना करके, कहके या सुनके किस प्रकार का अर्थ इनसे ग्रहण किया है। प्रायः इन कथाओं को कहने-सुनने वालों को अर्थगाम्भीर्य का पता नहीं रहता और वे इसे अति सामान्य स्थिति में ही ग्रहण करते हैं। वास्तविकता यह है कि ये कथाएँ जितनी ही प्राचीन होती जाती हैं, उतना ही उनके वास्तविक अर्थ को वक्ता और श्रोता भूलते जाते हैं और उसी परिमाण में उनकी विचित्रता बढ़ती जाती है। विचित्रता की वृद्धि के साथ ही साथ उनकी ख्याति वृद्धि भी होती ही जाती है। फिर भी हमने देखा है कि कुछ कथाएँ ऐसी हैं कि कितनी भी प्राचीन हो जाने पर भी उनका अर्थ एकदम स्पष्ट ही बना रहता है।

इस प्रकार यदि हम उद्धरण देने को तुल ही जायँ तो उद्धरणों की समाप्ति ही नहीं होगी परन्तु उन सब उद्धरणों का सार यही होगा कि प्राचीन काल में सूर्य ही समस्त धर्मों, धार्मिक क्रियाओं एवम् कथाओं का मूल था। मेरा विचार है कि अब हम साहस पूर्वक कह सकते हैं कि पुरा-कथाओं के घने बादलों के पीछे सूर्य सदैव ही चमकता रहता है, भले ही समय-समय पर कुछ देर के लिये हमारी आंखें उसे, उसकी चमक को न देख पायें।

—▬—

बेलेरॉफन

प्रश्न होता है कि बेलेरॉफन नाम रखने में नाम रखने वाले का क्या उद्देश्य था ? शब्द का प्रथम भाग है बेलेरॉ जो अँधेरा, सूखा, सर्द, सर्दी या नैतिक बुराई के अर्थ में प्रयुक्त होता था। ग्रीस वासियों का कहना है कि एक शब्द था टा इलेरा जो किसी भी बुरी या घृणित वस्तु के लिये प्रयुक्त होता था और कालीमैकस नामक विद्वान ने इस शब्द का इसी अर्थ में प्रयोग किया है। इसका भी प्रमाण मिलता है कि बेलेरॉफन शब्द एलेरॉफन के रूप में भी प्रयोग में चालू था। स्वयम् ग्रीस वासी ही कालान्तर में उस शब्द के वास्तविक अर्थ को भूल गये और इसका प्रमाण यह है कि बहुत बाद में इस शब्द को समझाने के लिये उन्होंने एक कथा को जन्म दिया जो इस प्रकार थी :— बेलेरॉफन ने एक प्रख्यात कोरंथियन को मार डाला था, जिसका नाम था बेलेरॉस। उसे मारकर वह स्वयम् हत्या के दोष से त्राण पाने के लिये आर्गास या टाइरिंस को भाग गया ताकि वहाँ पर प्रोटॅास उसे हत्या के दोष से मुक्ति दे दें। इस बेलेरॉस के विषय में कहीं पर कुछ भी लिखित प्रमाण नहीं है। इस व्यक्ति के विषय में साधारण वर्णन इस प्रकार के मिलते हैं कि बेलेरॉफन अपने भाई डेलियेड्स (इसे पीरेन तथा अल्किमेनस भी कहते हैं) की हत्या करके भाग गया था। इससे प्रतीत होता है कि कोरंथियन पुरुष बेलेरॉस पौराणिकों की कल्पना मात्र है और उसे केवल इसी लिये जन्म मिला कि बेलेरॉफन शब्द को सार्थक बनाया जा सके। इसके अतिरिक्त अन्य कल्पना तो की ही नहीं जा सकती।

यह तो मानी हुई बात है कि जिस समय बेलेरॉफन शब्द का जन्म हुआ तो यह शब्द निरर्थक तो रहा न होगा और इसका जन्म हिप्पानोज की दुखान्त गाथा की अभिव्यंजना के लिये ही हुआ रहा होगा, क्योंकि हम सभी जानते हैं कि हिप्पानोज ने ही कालान्तर में बेलेरॉफन के नाम पर एकाधिकार स्थापित कर लिया। बहुत सम्भव है कि इस शब्द के व्यौत्पत्तिक विश्लेषण से ही इस नाम का मौलिक अर्थ निकल सके।

यदि इस शब्द के उत्तरार्द्ध पर विचार किया जाय तो हम देखेंगे कि चाहे हम फन कहें या फाण्टेस, पर अर्थान्तर नहीं होगा। यदि किसी यौगिक शब्द के अन्त में फाण्टेस शब्द आता है तो उसका अर्थ होता है 'हत्यारा', जिसे संस्कृत में

हन्ता कहते हैं। ऐसी स्थिति में फॅन शब्द भी हन्ता का ही अर्थ देगा जो संस्कृत में हन् धातु से निकला है। कई बार ऐसा होता है कि ग्रीक भाषा में लिखे जाते हैं दो ल किन्तु उच्चारण होता है एक ही ल का। ग्रीक भाषा के दो शब्दों पर विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। पोलस में अकेला ल है, पोलोई में दो ल हैं, किन्तु उच्चारण में दोनों में ल का उच्चारण समान ही होता है। ग्रीक भाषा का पोलस शब्द संस्कृत भाषा के पुलु (ऋग्वेद १.१७९,५) या पुरु का समानार्थी है। इसीसे संस्कृत का विशेषण बनता है पूर्वः जिसका षष्ठी विभक्ति में पूर्वस्य रूप होता है। जिस प्रकार ग्रीक शब्द पोलोई संस्कृत के पूर्व शब्द की ओर इंगित करता है, उसी प्रकार ओलोई शब्द संस्कृत के सर्व की ओर ले जाता है। लैटिन भाषा में भी दो एल मिलकर प्रायः एक ही एल का काम करते हैं। हम देखते हैं कि मेलिस (मूल रूप मेल=संस्कृत मधु) शब्द में दो ल हैं किन्तु उच्चारण में एक ही ल का उच्चारण होता है। संस्कृत में मधु से ही माधवी, मद्वि, मल्लि, मल्वि इत्यादि रूप बनते हैं। मोलिस शब्द संस्कृत के मृदु का समानार्थी है, जिससे मर्द्वि, मल्द्वि, मल्वि या मल्लि रूप बनते हैं। इसी प्रकार मधु मक्खी के लिए वेद में आनेवाले शब्द रिदुपा (ऋ० ८, ७७, ११) पर विचार करें तो देखेंगे कि वास्तव में मेलिस शब्द मृदु का रूपान्तर है न कि मधु का। इसी प्रकार की समानताओं पर यदि हम निष्पक्ष विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि बेलेरों शब्द का साम्य है बर्बर शब्द से। संस्कृत में बर्बर शब्द का प्रयोग हुआ है, लोम युक्त, बालों से युक्त, एवं असंस्कृत के अर्थों में। वास्तव में यह शब्द भारत के उन आदिवासियों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिन्हें हराकर आर्यों ने भारत पर अधिकार किया या भारत में बस पाये। ग्रीक भाषा का बारबरस (Barbarous) शब्द इसी बर्बर का रूपान्तर है। उत्तरी भारत से हटाये जाने पर भारत के आदिवासी लोग दक्षिण-भारत की ओर चले गये और उनमें से कुछ लोग मलाबार की पहाड़ियों के आसपास रहने लगे, जहाँ चन्दन के वृक्ष उगते थे। उन बर्बरों के देश में उत्पन्न होने के कारण चन्दन का संस्कृत नाम पड़ा बर्बरत्थ। यह सिद्ध करना अवश्य एक कठिन काम है कि ग्रीसवासियों एवं हिन्दुओं ने किन भावनाओं के वशीभूत होकर बारबेरस एवं बर्बर शब्दों को जन्म दिया। हम तो केवल इतना ही कह सकते हैं कि उन्हें जिस जाति का विरोध करना पड़ा, जिनसे युद्ध करना पड़ा, जिनसे सुरक्षा पाने को सतत् सचेष्ट रहना पड़ा, उन्हें ही वे बर्बर तथा बारबेरस कहने लगे। न तो वे लोग आर्यों की भाषा ही बोलते थे और न उनकी

विचारधारा ही आर्यों के अनुरूप थी। यह सत्य है कि होमर ने सर्वप्रथम बारबेरस शब्द का प्रयोग किया था भाषा के विशेषण के रूप में। ऋग्वेद में भी बर्वर शब्द भाषा के विशेषण के ही रूप में प्रयुक्त हुआ है (ऋग्वेद, प्रातिशाख्य, सूत्र ७८'४; १४.६)। बर्बरता शब्द भी भाषा में अशुद्ध उच्चारण के ही अर्थ में देखा जाता है।

कारण चाहे जो कुछ भी हो यह तो स्पष्ट ही है कि उनके अर्थ में कितने ही शब्द वर् धातु से ही निकले हैं और यह भी सत्य ही है वर्वर या बर्बर शब्द भी इसी धातु से निकले हैं। मूलतः इस धातु का अर्थ होता है ढँक लेना और इसी धातु से उर शब्द भी निकला है जिससे आगे चलकर उरभ्र (भेंड़ा) शब्द भी बना है। इसी का स्त्रीलिंग वाची उरा (भेंड़) शब्द भी वेद में मिलता है:— ऋग्वेद, ८, ३४, ३, 'उराम् न धुनते वृकः' (भेड़िया भेंड़ को फाड़ डालता है।) ऋग्वेद में (८. ६६, ८) भेड़िया के अर्थ में उरामथि शब्द आता है जिसका अर्थ होता है भेंड़ को हिला देने वाला या उठा ले जाने वाला।

वर् धातु में अन्त में ण लगा कर संस्कृत का ऊर्णा शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है, ऊन; विशेषतया भेंड़ का ऊन। कालान्तर में ऊर्णायु शब्द से भेंड़ का भी एवं मकड़ी का भी बोध होने लगा; जिनमें से भेंड़ तो ऊन की दात्री थी और मकड़ी अपने पेट से ऊन के रेशों के समान ही रेशे निकालती थी। संस्कृत में मकड़ी को ऊर्णनाभि व ऊर्णनोभि भी कहते हैं और इन दोनों ही शब्दों का अर्थ होता है—ऊन को कातने वाला। इन्द्र ने जितने शत्रुओं को मारा उनमें से एक अरुणवाभ भी था और यह शब्द मकड़ी के लिए न प्रयुक्त होकर मेढ़ा के ही लिए आया होगा। बॉप साहब के कथनानुसार ऊर्णा शब्द ही रशन भाषा में वोलना हो गया है, गोथिक के वुल्ला शब्द में संस्कृत का र परिवर्तित हो गया है ल में और ल + न मिलकर ल्ल हो गया है।

वस्तुतः उरा शब्द मूलतः ढँक लेने वाले के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था। चूँकि चमड़ा भी शरीर की अस्थियों को ढँके रखता है अतः उरा शब्द से चर्म का भी बोध होने लगा और चूँकि भेंड का शरीर ऊन से आच्छादित रहता है अतः इसी शब्द से ऊन का भी अर्थ निकलने लगा। कालान्तर में ऊन के दाता के रूप में भेंड़ा को ऊर्णः, भेंड़ को ऊर्णी कहने लगे, परन्तु उराणः शब्द का अर्थ होता है रक्षक। उदाहरणार्थः—

ऋग्वेद, १'१७३,७. समत्सु त्वा सुरसताम् उराणाम "प्रपथिन्तमम्"

" तू युद्ध में वीरों का रक्षक एवम् सर्वश्रेष्ठ पथ-प्रदर्शक है।

,, ७·७३.३. 'अहेमा यज्ञम पथाम् उराणः'
हम परम्परा पालक के रूप में शीघ्रतापूर्वक यज्ञ करें।

,, ३.१६,२. '(अग्निः) देवा ततिम् उराणाह'
अग्नि जो देवताओं की रक्षा करती है।

,, १६·१,६.६. 'इन्दुः पुनानः प्रजाम् उराणह'
पवित्र सोम लोगों की रक्षा करें।

,, ४. ६,४ '(अग्निः) प्रदिवः उराणः'
अग्नि सनातन रक्षक है।

यदि ऊर्णा शब्द का वास्तविक अर्थ होता था ढँकने वाला तो वर्ण (जिसका अथ अब रंग होता है) की भावना भी बहुत कुछ ढँक लेने के ढंग की रही होगी। किसी वस्तु का रंग उस वस्तु का आवरण ही होता है। इसी वर्ण से वर्णी शब्द बना है, जिसका अर्थ होता है स्वर्ण। इसी प्रकार रूप (आकार) से रुपया बन गया है जो अंगरेजी में रुपी हो गया है।

वेद में वर्ण शब्द का प्रयोग रंग, चमकदार रंग या जाति के रूप में हुआ है। देखें:—

ऋग्वेद १·७३.७. 'कृष्णम् च वर्णम् अरुणम् च समधुः'
'उन्होंने रात्रि के तम को व दिन के प्रकाश को एकत्रित ही रक्खा।

,, १,११३,२. 'द्यावा वर्णम् चरथाः'
रात्रि एवम् दिन अपने रंग का नाश करते हुए चलते रहते हैं।

कितनी बार वेद में वर्ण शब्द चमकदार रंग या प्रकाश के लिये प्रयुक्त हुआ है :—

ऋग्वेद २.३४,१३ 'मिघमानः अत्येन पाजसा सुष्चन्द्रम् वर्णम् दधिरे सुपेषसाम्'
वे (रुद्रगण) द्रुतगति से अपने घोड़ों पर नीचे आते हुए चमक रहे थे।

ऋग्वेद, २.१,१२. 'तव······वर्णों'
तुम्हारे रंग में।

,, ३.३४,५. इमम् वर्णम् अतिरत शुक्रम् आसाम्
उसने (इन्द्र ने) उषा के चमकदार रंग को प्रसारित किया।

नवें मण्डल में वर्ण का प्रयोग रंग के अर्थों में सोमरस के लिये हुआ है, जैसे हरि, रुसत्, शुचि, असूर्य इत्यादि।

ऋग्वेद १०.३,३. 'अग्निः वितिस्थन रुषद्भिः वर्णै' ।
उज्वल रंग की चमकदार अग्नि ।

हम देखते हैं कि विविध जातियों के शारीरिक रंगों के कारण ही उनके विशेषणों की सृष्टि हुई। कितनी ही जातियों के नाम भी इसी प्रकार पड़ गये हैं। वेद के भाष्यकारों ने कितने ही स्थानों पर वर्ण को जाति के अर्थ में ग्रहण किया है। इसीलिये ब्राह्मण, क्षत्रिय एवम् वैश्यों को त्रैवर्णिकाः कहा गया है।

ऋग्वेद ३.३४,९. 'हत्वी दस्यून प्र आर्यम् वर्णम् आवः'
(इन्द्र ने) दस्युओं को मारकर आर्यों के वर्ण को सुरक्षित रक्खा।

ऋग्वेद २.१२,४. 'यः दासम् वर्णम् अधारम् गुहाकर'
(स्वर्गीय द्वार) उस वर्णवालों को प्रकाशित करते हैं जिनमें वीरों का आधिक्य होता है।

आइये एक बार फिर हम बर्बर शब्द पर विचार करें। शब्द विचार पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इस शब्द से मूलतः कृष्ण वर्णीय, बालों से युक्त लोगों का बोध होता था, किन्तु वेद में इन्द्र या अग्नि द्वारा मारे गये अनेक दैत्यों, दानवों में से बेलेरॉस नाम की संगति किसी भी दैत्य, दानव, दनुज से नहीं बैठती। ऐसा अनेक बार होता है कि कोई शब्द ग्रीक भाषा की पौराणिक कथाओं में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु उस शब्द का वास्तविक अर्थ संस्कृत भाषा में प्रयुक्त उसी के समरूपी शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करने से समझ में आ जाता है। इसी प्रकार ग्रीक शब्द हेरा को संस्कृत शब्द स्वारा की सहायता से समझा जाता है, परन्तु स्वयम् स्वारा शब्द वेद में कहीं भी नहीं आया। अभी एक और प्रश्न है, जिसका उत्तर देना शेष है। यदि कोई प्रश्न करे कि क्या सौर नायकों द्वारा मारे गये दैत्यों में से किसी का नाम बर्बर से मिलता है, तो हम कह सकते हैं कि अवश्य मिलता है।

इन्द्र ने जिन शत्रुदासों को मारा है, उनमें से काला बादल भी एक है। इसी काले बादल में वह पानी होता है जो वनस्पति व कृषि के लिये अनिवार्यतः आवश्यक है और इसी पानी को मुक्त करने के लिये इन्द्र से प्रार्थना की जाती है। पानी तब तक मुक्त नहीं हो सकता जब तक काले बादल का वेधन नहीं होता, क्योंकि काले बादल ने पानी को बन्दी बना रक्खा है। इस कृष्ण वर्ण के बादल को ही वेद में कई बार कृष्ण चर्म वाला कहा गया है।

ऋग्वेद. ९. ४१. १. 'घ्नन्तः कृष्णम् अपत्वचम्'
बादलों को धक्का देकर दूर करते हुए।

अन्य स्थानों में बादल को ही वर्षा का दाता तथा उर्वरता-जनक चर्म कहा गया है।

ऋग्वेद. १. १२६, ३. दस्मः हिस्म वृषणाम पिन्वसि त्वचम।'

एक बार काले बादलों को कृष्ण चर्म कह देने से ही यह तात्पर्य स्पष्ट हो गया कि बादल का मानवी करण हो चुका अर्थात् उसे कृष्ण लोममय भेंड़ा कहने का भी रास्ता खुल गया जो काला है, जिसका चर्म बालों से ढँका है अर्थात् जो बेलेरॉस है।

यद्यपि ग्रीक भाषा में बेलेरॉस व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में आया है, फिर भी इसका मौलिक अर्थ ऊन से आवृत्त मेष (मेंढ़ा) ही था, जिसका तात्पर्य काले बादलों से था।

उपरोक्त स्थिति में हम बेलेरॉस या बेलेराफन की कथा को आर्यों के विभाजन काल का पूर्ववर्ती नहीं मान सकते क्योंकि उस समय में आर्यों में द्यौस=जीअस; वरुण=यूरेनस; उषस्=हवस्; सरण्यु=इरिवस; अहना=आथवन; रिभु=आरफियस; हरितस्=जेरिटस इत्यादि नाम ही द्युतिमान देवताओं के लिये प्रयुक्त होते थे। इस प्रकार हम इतना तो मान ही सकते हैं कि अधिकांश पौराणिक नायकों के समान बेलेराफन भी किसी न किसी ऐसे सौरनायक का नाम है जो अंधेरे का नाशक है, चाहे वह अंधेरा रात का हो, या बादलों द्वारा दिन में ही फैल गया हो या जाड़े की ऋतु में सूर्य की प्रचंडता कम होने के कारण उत्पन्न हुआ हो। इस प्रकार के दैत्यों में एक नाम है वृत्र का, जो प्रकाश या जल को ढँक लेने वाला है, छिपा लेने वाला है। इन्द्र वेद का महान् सौरनायक है और वही वृत्र का हन्ता है, इसी लिये उसे वृत्रहन भी कहते हैं। इस बात को अब सभी लोग जानते-मानते हैं कि इन्द्र की कल्पना भारतीय आर्यों की ही है और विभाजन की परवर्ती है। इन्द्र शब्द इन्दु से निकला है और वह ग्रीक देवता जुपिटर के समकक्ष है और भारत की जलवायु ही उसकी प्रधानता के मूल में है। द्यौस उज्वल आकाश का देवता है और वही अविभक्त आर्यों का मुख्य देवता है। भारत में द्यौस को ही इन्द्र बनाकर उसे द्यौस का पुत्र कहा गया है। इस प्रकार प्रामेथिअस की भविष्यवाणी भारत में उसी समय पूर्ण हो गयी थी, जब ग्रीस में उसका अस्तित्व भी न था।

यद्यपि ग्रीक पुराणों में हमें इन्द्र जैसे किसी नाम की खोज नहीं करनी चाहिये, फिर भी यह असम्भव नहीं है कि इन्द्र के शत्रुओं के नामों में से कुछ नाम अन्य देशों में सुरक्षित रह गये हों। इन्द्र के ये शत्रु वही थे, जो द्यौस के शत्रु माने जाते थे। चूंकि द्यौस के शत्रुओं का नामकरण विभाजन के पूर्व ही हो चुका था; अतः आर्यों की अनेक भाषाओं में उनका पाया जाना हर प्रकार से उचित एवम् ठीक ही है।

देवताओं का एक ऐसा भी प्रतिद्वन्दी है, जिसको भारत एवम् ग्रीस में समान नाम से पुकारा गया है। इस समानता की चर्चा मैंने अपने मित्रों से की थी। उन लोगों ने इसकी चर्चा सर्वसाधारण में जिस समय किया, उस समय मैं उक्त तथ्य को प्रमाणित करने योग्य कुछ भी नहीं जुटा सका था। मेरे एक मित्र थे प्रोफेसर ट्रिथेन, जो यदि असमय में ही न मरे होते तो संस्कृत के विषय में हमलोगों को बहुत कुछ दे गये होते। उन्हीं से मैंने कहा कि 'मुझे ऐसा लगता है कि ग्रीक देवता करबरॉस वैदिक आख्यान के शर्वर से बहुत कुछ मिलता है।' उन्होंने इस बात को सन् १८४८ ई० में ट्रांजेक्शन आव फाइलालाजिकल सोसाइटी' में प्रकाशित करा दिया। मेरे एक अन्य विद्वान् मित्र ने उस बात का समर्थन भी किया परन्तु दोनों के ढंगों में मेरे ढंग से कम ही समानता थी। मैंने पहली बात यही कहा था कि वेद में शर्वरी शब्द रात्रि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः शर्वर का अर्थ होना चाहिये तमपूर्ण, या आभाहीन-ऋग्वेद ५.५२,३. 'ते स्यन्द्रासो नोक्षणः अति स्कन्दन्ति शर्वरीः'

ये (तूफानों के देवता) बलवान साँड़ों के समान रात्रि की तमिस्रा के ऊपर उठते हैं (या काले बादलों के ऊपर

दूसरी बात मैंने यह कहा था कि शर्वर के र् का लोप हो जाना चाहिये और इस बात को मैंने सिद्ध किया था शर्वरीक से शवर की तुलना करके। शर्वरीक का अर्थ होता है निम्न वृत्ति वाला, शवर का अर्थ होता है जंगली एवम् शर्वर का प्रयोग नीच के अर्थ में होता है। इस प्रकार की तुलना से मैं शवर तक पहुँचा। अन्त में मैंने इस बात को मान लिया था कि प्रायः र परिवर्तित हो जाता है ल में और इस प्रकार मैंने शवर को यम के कुत्ते शबल का प्रतिरूप मान लिया था। शबल सरमा का पुत्र था। इसी शबल का प्रतिरूप माना मैंने करबरॉस को यद्यपि इन दोनों में उच्चारण की भिन्नता थी। इस प्रकार ग्रीस भाषा में करबरॉस का मूलार्थ होता रहा होगा कृष्ण-वर्णीय, रात का कुत्ता जो निम्नस्थ संसार को जानेवाले मार्ग का रक्षक है। वेद में इस प्रकार के दो कुत्तों का अस्तित्व है परन्तु उनके लिये कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं दी गयी है। बाद की कथाओं में उन्हें मुख्यता अवश्य मिली है, परन्तु वेद में विना नाम के ही हैं। वेद उनके विषय में इतना ही बताता है कि उनके नथने चौड़े हैं, उनको चार आँखें हैं, उनका रंग काला है और वे यमद्वार के रक्षक हैं, जो मृतकों का स्वामी है। किसी भी मृतक को यम के सामने पहुँचने के लिये इन्हीं के पास से होकर जाना पड़ता है। ऐसा भी कहा

गया है कि वे यम के दूत-रूप में आदमियों के बीच घूमते रहते हैं और मानव यम से प्रार्थना करता है कि वह उन्हें इनकी भयंकरता से बचावे। कुछ स्थलों पर यम एवं मृत्यु के समान ही उनसे भी प्रार्थना की गयी है कि वे मानव को लम्बी आयु प्रदान करें। सरमा का पुत्र होने से उन्हें सारभेय कहा गया है। इससे अधिक उनका कोई नाम नहीं दिया है। करबरॉस की स्थिति भी वही है। उसके लिए होमर के काव्य में कोई व्यक्तिवाचक संज्ञा नहीं मिलती। उसने केवल हेड्स के एरेबॉस स्थित कुत्तों का ही जिक्र किया है। सर्वप्रथम हीसियाड ने करबरॉस की वंशावली दी है जिसमें उसे पचास मुख वाला कहा गया है। परवर्ती काव्यों में उसके केवल तीन ही सर हैं और उसकी पूँछ में सर्प लटके हैं। और भी आगे चलकर उसके सौ मुख हो जाते हैं। हम जानते हैं कि इस करबरॉस को हेराक्लिस ने पकड़ लिया था, उसे प्रकाश में लाया था और अन्ततः फिर उसे हेड्स में ही फेंक दिया था।

हेराक्लिस ने एक अन्य श्वान को भी पराजित किया था, जो करबरॉस की ही भाँति टाइफान तथा एचिना का पुत्र था। इस प्रकार इस श्वान को भी हम या तो करबरॉस के रूप में ही मान सकते हैं या उसके भाई के रूप में। इस दूसरे श्वान का नाम है ऑर्थास और आर्थास शब्द वैदिक वृत्र शब्द का वास्तविक प्रतिरूप है। हम इस बात पर आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि वेद का दनुज वृत्र ग्रीस में कुत्ता कैसे हो गया। इसके बाद ही हम ऑर्थास को नीमियन सिंह के पिता के रूप में देखते हैं। ऑर्थास शब्द के वास्तविक अर्थ का पता इस बात से भी लगता है कि आलंकारिक भाषा में इस शब्द से सूर्योदय के पूर्ववर्ती समय का बोध होता है। इसीलिये स्वैलो (पक्षी विशेष) को ऑर्थायन (सुबह के पूर्वकाल का गायक) कहा जाता है। मुर्गे के आर्थोंबोग्रस कहा जाता है, क्योंकि वह तड़के ही बाँग देता है।

इस प्रकार हम हेराक्लिस को वस्तुतः वृत्रहन के रूप में ग्रहण कर सकते हैं और वृत्र ही ग्रीकभाषा में आर्थोफ़ुन या आर्थोफ़ाएटस हो गया है। यद्यपि नामों में अन्तर है, फिर भी हम कह सकते हैं कि बेलेरॉफ़न या बेलेरॉफ़ाएटस वही है, जिसने यदि एक बकरे को नहीं तो एक बकरी को अवश्य ही मारा था, जिसे हम शिमैरा कहते हैं और इस प्रकार अब हम यह कहने की स्थिति में आ गये हैं कि बेलेरॉफ़न वृत्र को मारनेवाला वेद का इन्द्र ही है। आर्थास एवं करबरॉस के ही समान शिमैरा के भी तीन सर या तीन शरीर हैं (ट्रायोमैटोज़ और ट्रिक्स फैलोज़) और उन्हीं के समान शिमैरा भी टाइफ़ोन एवं एचिना की संतान है।

यद्यपि ग्रीक माइथालोजी में आर्थरोफ़न या आर्थरोफ़ाएटस का नाम सुरक्षित नहीं है, फिर भी मेरे विचार से यह सम्भव है कि ग्रीक भाषा में वृत्रहन के समानार्थक या समरूपी शब्द की खोज की जा सके और यह शब्द है दस्यु-हन। वेद में देवताओं के शत्रुओं को दस्यु या दास की संज्ञा दी गयी है और ये लोग भारत में बसने की इच्छा करनेवाले आर्यों के भी शत्रु हैं। दस्यु हन्ता या दास हन्ता का ग्रीक रूप होगा। डिउफाएटस (Dewfontes)। प्राचीन ग्रीक भाषा में अनेक स्थानों पर उ का उच्चारण ल की तरह होता है, अतः इसका उच्चारण हो जायगा लिउ फायटस। ग्रीक माइथालोजी में लिउफ़ाएटस का दूसरा नाम है बेलेरॉफ़न का और यह स्पष्ट ही है कि बेलेरॉफ़न का मौलिक अर्थ 'शेर को मारने वाला' तो नहीं ही रहा होगा, क्योंकि तब इसका रूप हो जाता लिउएटाफाएटस। ऐसी स्थिति में इसका अर्थ अवश्य ही उस जीव, वस्तु या दृश्य का हन्ता रहा होगा, जिसकी अभिव्यंजना डिउ या लिउ से होती थी।

यह बात पूर्णसत्य है कि ग्रीक की कुछ ही जन-भाषाएँ ऐसी हैं, जिनमें ड ल में परिवर्तित हो जाता है और इसीलिये इस परिवर्तन को नियम के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता, जब तक कि इस बात के लिये कोई अश्रुतपूर्व साक्षी न मिल जाय। यदि इस प्रकार की साक्षी मिल जाती तो लोग ग्रीक शब्द लाओस् को संस्कृत शब्द दास का रूपांतर मान लेते, क्योंकि दस्यु शब्द मौलिक रूप में शत्रु के अर्थ में ही प्रयुक्त होता था और यही शब्द जिन्द भाषा में दत्यु या दक्यु हो गया है। इसी प्रकार का अर्थान्तर ग्रीक भाषा में भी मान लिया जाना चाहिये और वैसी स्थिति में ग्रीक शब्द डिओपोटम्स तथा डिओ-पोइना संस्कृत शब्द दास-पति एवम् दास-पत्नी के रूपान्तर मात्र हो जायँगे। केवल एक ही कठिनाई यह रह जायगी कि जब दो स्वरों के बीच में स का लोप हो जाता है तो स को अलुप्त क्यों रक्खा गया। संस्कृत के दास शब्द का वास्तविक ग्रीक रूप होना चाहिये डाओस या डिअस और ऐसा है भी।

एक बार जब हम दास शब्द को ग्रीक भूमि पर शत्रु के अर्थ में पा जाते हैं तो हमारे सामने यह बात स्पष्ट हो जाती है कि बेलेरॉफन का दूसरा नाम लिओफाएटस कभी भी 'लोगों का हत्यारा' के अर्थ में न प्रयुक्त होकर अवश्य ही शत्रहन्ता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ रहा होगा। यदि लिओफाएटस का मूल अर्थ था 'शत्रु हन्ता' या 'दानव हन्ता', तो इसका अर्थ तबतक स्पष्ट नहीं होगा जब तक इसका सम्बन्ध दास हन्ता शब्द से न स्थापित किया जाय। ये शत्रु या दास वही हैं जिन्हें वेद में वृत्र (आर्थास), नमुचि तथा शम्बर कहा गया है।

जन कथाओं का स्थानान्तरण

रॉयल इंस्टीट्यूशन में दिया गया भाषण (शुक्रवार, जून ३, १८७० ई०)

अँगरेजी में एक कहावत है कि अंडों के फूटने से पहले ही चूजों को मत गिनो। यदि लोगों से यह जानने का प्रयत्न किया जाय कि यह कहानी उन्होंने पाया कहां से तो अधिकांश व्यक्ति यही उत्तर देंगे कि यह कथा उन्हें लॉ फॉण्टेन की पुस्तक से मिली है। प्रायः हम लोगों में से अधिकांश जन उस पेरेटी (एक लड़की) को जानते-पहचानते हैं जो अपने घर से एक दूध से भरा पात्र अपने सर पर लेकर समीपस्थ कस्बे की ओर जा रही थी। मार्ग में ही उसकी कल्पना उड़ाने भरने लगी और उसने सोचना शुरू किया कि वह उस दूध को अच्छे दामों में बेचेगी, फिर प्राप्त द्रव्य से सौ अण्डे खरीदेगी, उससे चूजे निकलेंगे, वे बड़े होंगे तो उन्हें बेंचकर एक सुअर खरीदेगी, उसे खिला-पिलाकर मोटा करके बेच देगी, प्राप्त धन से वह एक सवत्सा गाय खरीदेगी और वह बछड़ा चारों ओर कूदता फिरेगा। इतना सोचते सोचते कल्पना में विभोर होकर पेरेटी भी बछड़े के ही समान कूद जाती है और सर पर का दूध पृथ्वी पर बिखर जाता है। उसका समूचा महल भरभरा कर धूलि सात् हो जाता है और अब उसे एक ही फिक्र पड़ती है कि वह क्या करे कि पति के हाथों से पिटने से बच सके।

प्रश्न होता है कि क्या यह कथा फॉण्टेन द्वारा ही रची गयी थी या वह भी सुकरात के ही पदचिन्हों पर चला था, जो (फायडन के अनुसार) बन्दीगृह में अपने अन्तिम दिनों में एसोप की कथाओं को पद्यों में बदलता रहा था।

लॉ फॉण्टेन ने अपनी जन-कथाओं के छः भागों को सन् १६६८ में प्रकाशित किया था। यह बात स्वयम् सिद्ध है कि इन भागों में प्रकाशित अधिकांश कथावस्तु एसोस फाड्रस, होरेस तथा अन्य कथाकारों से ली गयी थी। हमें यह भी जान लेना चाहिये कि लॉ फॉण्टेन ने ही इस (Fable) शब्द को फ्रेंच भाषा में प्रयुक्त किया था।

सन् १६७८ ई० में इस पुस्तक के ६ पुराने खण्डों में ५ नये खण्ड मिलाकर प्रकाशित हुए। सन् १६९४ ई० में इस पुस्तक में एक खण्ड और जुट जाने

से इसके कुल १२ भाग हो गये। इनमें पेरेटी की कहानी ७ वें भाग में है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि यह कहानी सर्व प्रथम सन् १६७८ ई० में प्रकाशित हुई। उसकी भूमिका में लॉ फॉण्टेन ने लिखा है, "मेरे लिये यह आवश्यक नहीं है कि मैं लोगों को यह बताऊं कि ये कथाएँ हमें कहाँ से मिली हैं, फिर भी कृतज्ञता-ज्ञापन के रूप में मैं यह बता देना चाहता हूँ कि इन कथाओं की अधिकांश संख्या के लिये मैं पिलये नामक भारतीय सन्त का कृतज्ञ हूँ।"

यदि लॉ फॉण्टेन स्वयम् ही इस बात को मानता है कि उसके द्वारा सम्पादित अधिकांश कथाओं के लिये वह भारतीय सन्त का कृतज्ञ है, तो हमें चाहिये, हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि हम इस बात की खोज करें कि क्या, कहीं भारतीय कथा साहित्य में पेरेटी की कथा या उस कथा के कथावस्तु की झलक दिखायी पड़ती है।

भारतीय साहित्य कथाओं एवं कहानियों की दृष्टि से प्रचुर धनी साहित्य है। इस माने में संसार के किसी भी देश का साहित्य उसकी समानता में नहीं आ सकता। यह भी सम्भव है कि इन कथाओं का विशेषतः पशु-कथाओं का आदि स्रोत भारत ही हो। हम देखते हैं कि बौद्धों के साहित्य में कथा-साहित्य की बहुलता है। बात यह है कि जब बौद्ध उपदेशक भारतीय जनता, अशिक्षित, अपढ़ जनता के समक्ष उपदेश देने खड़े होते थे तो वे सदैव कथाओं, सूक्तियों एवं कहावतों का सहारा लिया करते थे; जिस प्रकार आज भी बच्चों को कोई चीज समझाते समय हम कथाओं, सूक्तियों एवं कहावतों का सहारा लेते हैं। बहुत सम्भव है कि इनमें से अनेक कथाएँ बौद्धोदय के पूर्व से चली आती रही हों और बौद्ध उपदेशकों ने यथावश्यक फेरफार करके उनका प्रयोग कर लिया हो। यह माना जा सकता है कि उपदेश के क्रम में वे कथाओं में हेर-फेर, परिवर्तन, संक्षिप्तीकरण या परिवर्द्धन कर लेते रहे होंगे। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भी ऐसा किया करता था कि उपदेश के दौरान में ही आवश्यक होने पर वह सर्वथा नवीन कथाएँ गढ़ लिया करता था। कहानियां मानव हृदय को अतिशीघ्र स्पर्श करती हैं और इसी लिये उनमें प्रभविष्णुता अधिक होती है। चूंकि इस कथाओं का धार्मिकरूपेण उपयोग पहले पहल बौद्धों ने ही किया अतएव हम यह कह सकने की स्थिति में हैं कि ये कथाएँ प्रायः बौद्धों द्वारा ही जन-जन के पास पहुँचीं। इन कहानियों का धार्मिक रूप हमें बौद्ध साहित्य में ही सर्वाधिक स्पष्ट रूप में देख पड़ता है और यह बात ईसा पूर्व की तीसरी शती की है। बौद्ध धर्म

के पतनकाल में या उसके पतन-काल के बाद ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार हुआ और वह दिन दूने रात चौगुने वेग से प्रसारित होने लगा। ब्राह्मण विद्वान बौद्धों द्वारा प्रयुक्त कथाओं का प्रभाव देख चुके थे, अतः उन्होंने भी इन कथाओं को अपने साहित्य में स्थान देना प्रारंभ कर दिया और इस प्रकार शैक्षणिक कार्यों में इनका प्रयोग धड़ल्ले से होने लगा। इस प्रकार की कथाओं का सर्वप्रथम ज्ञात संग्रह पंचतंत्र है। कुछ कथाएँ पंचतंत्र से तथा कुछ कथाएँ अन्य स्रोतों से लेकर एक संग्रह और तैयार किया गया जिसे हितोपदेश की संज्ञा दी गयी। ये दोनों ही संग्रह इङ्गलैंड में भी एवं जर्मनी में भी प्रकाशित हुए हैं और इनके अनुवाद तो योरप की प्रायः सभी भाषाओं में हो चुके हैं।

इस विषय में हमें सर्व प्रथम इस बात का उत्तर देना है कि ये कथाएँ संग्रहीत कब की गयीं। हम सभी जानते मानते हैं कि संस्कृत साहित्य में किसी भी प्राचीन रचना का काल निर्धारण एक कठिन कार्य है, अतिकठिन। हमारा सौभाग्य ही है कि हम पंचतंत्र का काल निरूपण कर सकते हैं, क्योंकि प्राचीन फारसी भाषा में इसका अनुवाद हुआ है जो ५५० ई० का है। उपरोक्त बात केवल यह सिद्ध करती है कि कम से कम ५५० ई० में पंचतंत्र नाम का संग्रह था। इससे पंचतंत्र की संग्रह-तिथि का सही अनुमान करना एकदम असम्भव कार्य है।

यदि हम प्राप्य पंचतंत्र में पेरेटी वाली कथा की खोज करें तो हमें एक बिलकुल ही भिन्न कथा मिलती है। पाठकों की सुविधा के लिये उक्त कथा का संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है :—

'किसी स्थान पर स्वभाव कृपण नाम का ब्राह्मण रहता था। उसने भिक्षा मांग-मांग कर कुछ चावल इकट्ठा कर लिया। खाने से जो कुछ भी शेष रहा, उसे उसने एक मृत्तिका पात्र में भर कर एक खूँटी से लटका दिया। उसकी चारपाई खूँटी के नीचे ही थी अतः रात को सोने के पूर्व उसकी विचारधारा अनिरुद्ध भाव से बहने लगी। आह, वह पात्र चावलों से भर गया है। ऐसी स्थिति में यदि अकाल पड़ जाय तो इतने ही चावल एक सौ रुपये में बिक जायँगे, जिनसे मैं एक जोड़ा बकरियाँ खरीद सकूंगा। उनके हर छः मास में बच्चे होंगे और इस प्रकार कुछ ही दिनों में मेरे पास पूरा रेवड़ (Rewar) हो जायगा। उन्हें बेच कर मैं गायें खरीद लूँगा, जिनसे ढेर सारे बछड़े हो जायँगे। उन्हें भी विक्रय करके मैं भैंसें खरीदूँगा और भैंसों को बेचकर मैं घोड़ियाँ क्रय कर लूँगा,

जिनसे शीघ्र ही मेरे पास काफी संख्या में घोड़े हो जायँगे। उन्हें बेचकर मैं रुपया इकट्ठा करके एक चौपहला मकान बनवाऊँगा और तब किसी सुन्दरी ब्राह्मण-कन्या से विवाह करूँगा, जिससे शीघ्र ही एक पुत्र उत्पन्न होगा। उसका नाम रक्खूँगा सोम शर्मा। जब वह घुटनों पर खेलाने योग्य हो जायगा तो एक दिन मैं अस्तबल के पास बैठा रहूँगा और बच्चा माँ की गोद से उतर कर मेरी ओर आयेगा। मैं पढ़ने में व्यस्त रहूँगा। बच्चा घोड़े के पैरों के पास आ जायगा और तब मैं क्रोधित होकर उसकी माँ को पुकारूँगा, परन्तु चूँकि वह गृहस्थी की झंझटों में व्यस्त रहेगी अतः सुन नहीं सकेगी। तब मैं उठकर जाऊँगा और उसे एक लात मारूँगा।' यहाँ तक सोचते-सोचते वह इतना विभोर हो गया कि उसका पैर भी उसकी चिन्तना का साथ देने लगा। उसने कसकर लात चलाया और खूँटी पर टँगा हुआ मृत्तिका-पात्र चूर हो गया और सारे चावल बिखर गये। अतः कहा गया है कि "जो साधन के बिना ही मूर्खतापूर्ण योजनाएँ बनाता है, उसकी दशा सोमशर्मा के पिता की सी ही होती है।"

इसी कथा को हितोपदेश में भी दिया गया है, यद्यपि उसमें कुछ परिवर्तन कर दिया गया है। हितोपदेश का संग्रहकर्ता पंचतंत्र का ऋण स्वीकार करते हुए यह भी कहता है कि इसमें कुछ अन्य स्रोतों से भी कथाएँ ली गयी हैं। सम्भव है कि निम्नलिखित कथा पंचतंत्र की न होकर किसी अन्य स्रोत से ही ली गयी हो। इस कथा में हम देखेंगे कि हवाई महल बनाने में कल्पना को कितनी अधिक स्वतंत्रता दी गयी है।

"देवीकोट नगर में देवशर्मा नामक ब्राह्मण रहता था। संक्रान्ति के अवसर पर उसे एक थाल चावल मिले। उसे लेकर वह एक कुम्हार की दूकान में गया जो मिट्टी के पात्रों से भरी थी। दोपहरी बिताने के लिये वह दूकान के ही एक कोने में पड़ गया और लेटे ही लेटे कल्पना-कुमारी के मधुर-नूपुर-रव का आनन्द लेने लगा, छड़ी उसके हाथ में ही थी। नृत्य प्रारम्भ हो गया, "यदि मैं इस चावल को बेच दूँ तो मुझे दस कपर्दक (कौड़ी) मिलेंगे। उससे मैं मृत्तिका पात्रों के क्रय विक्रय का काम करूँगा और थोड़े ही दिनों में अत्यधिक धनी हो जाऊँगा। तब मैं चार विवाह करूँगा। उनमें से चौथी स्त्री सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी होगी और उसी को मैं सर्वाधिक प्यार करूँगा। मेरे इस पक्षपात के कारण हमारी स्त्रियों में खूब झगड़े होंगे और तब मैं क्रुद्ध होकर इसी छड़ी से उनकी खूब मरम्मत करूँगा।" इतना सोचते सोचते उसने सचमुच छड़ी चला दी और कुम्हार के कितने ही पात्र चूर-चूर हो गये। उसका चावल भी बिखर गया।

शोर सुनकर कुम्हार दौड़ा आया और उसने ब्राह्मण को बहुत कुछ बुरा-भला कहकर बाहर निकाल दिया। अतः मेरा (कथाकार) का कहना है कि जो भविष्य की योजनाओं पर प्रसन्न होगा, उसकी दशा इसी ब्राह्मण की सी होगी।"

यदि पेरेटी तथा ब्राह्मण के अन्तर का विचार न किया जाय तो यह माना जा सकता है कि पेरेटी की कथा का भी बीज वही है जो इन कथाओं का। यहाँ आश्चर्य की बात यह है कि सहस्रशः योजना की दूरी तै करके आखिर यह कथा फ्रांस तक पहुँची कैसे। पंचतंत्र एवम् हितोपदेश के ये ब्राह्मण फ्रांस में जाकर ग्वालिन कैसे बन गये ?

दीर्घ जीवन का यह एक आश्चर्य जनक उदाहरण है। भाषाएँ बदल गयीं, कितनी ही कला की वस्तुएँ धूलिसात् हो विस्मृति के गर्त में जा पड़ीं, साम्राज्य बने और इतिहास के पन्नों में ही शेष रह गये, फिर भी ये छोटी-छोटी कथाएँ आज भी पूर्व के घरों एवम् पश्चिम के नर्सरी स्कूलों में समान रूप से कही सुनी जाती हैं और आज भी इनका जादुई आकर्षण समाप्त नहीं हुआ है। इन कथाओं के दीर्घजीवन में किसी को शंका तो हो नहीं सकती। पूर्व से इन कहानियों का पश्चिम की ओर का स्थानान्तरण सचमुच आश्चर्यजनक है। इन कहानियों का दीर्घ जीवन और उनकी इतनी लम्बी यात्रा वस्तुतः अद्भुत है। क्या हम विश्वास करें कि आज उन्नीसवीं शताब्दी की अन्तिम दशाब्दियों में भी हम योरपीय अपने बच्चों को सांसारिक बुद्धिमत्ता की बातें उन कहानियों के माध्यम से सिखाते हैं, जो आज से दो या तीन सहस्र वर्षों पूर्व भारत के किसी गाँव या वन में कही गयी थीं ? क्या हम यह भी मान लें कि जिन बौद्धों एवम् ब्राह्मणों को हम पाखण्डी, मूर्तिपूजक और न जाने क्या क्या कहते हैं, उन्हीं द्वारा कही गयी कहानियाँ हम अपने बच्चों के उस पवित्र हृदय में डालते हैं जो मानव की तो बात ही क्या स्वयम् भगवान के लिये भी सर्वाधिक पवित्र वस्तु है ? क्या हम यह मान लें कि प्राचीन होने के साथ ही साथ इन कथाओं का गौरव, इनकी उपादेयता एवम् इनकी महत्ता शत सहस्रगुनी हो गयी है ? इन बाल कथाओं के स्रष्टा ने संसार के हृदयों को जिस प्रकार और जिस सीमा तक प्रभावित किया है उस प्रकार और उतनी सीमा तक तो उच्च दार्शनिकों की बातें भी नहीं पहुँच पायीं। आज हम प्रायः प्राचीन दार्शनिकों की बातों को भूल गये हैं परन्तु ये कथाएँ तो ज्यों की त्यों हैं। प्रश्न होना स्वाभाविक है कि वह व्यक्ति था कौन, जिसने इन कथाओं की रचना की ? हमें इसका उत्तर नहीं

मालूम। मानव जाति के कितने ही उपकारकों को जैसे हमने भुला दिया, वैसे ही इस उपकारक को भी हम भुला बैठे। हम इतना ही जानते हैं कि वह भारतीय था, साधु था और वह हमसे कम से कम दो सहस्र वर्षों पूर्व हुआ था।

इसमें सन्देह नहीं कि जब हम यह पता पाते हैं कि इन कथाओं का जन्मस्थान भारत है और वहीं से ये योरपीय देशों में आयीं, तो हमें आश्चर्य होता है कि क्या वस्तुतः ऐसा हो भी सकता है। सत्य तो यह है कि इन कथाओं के इस यात्रा का प्रमाण ऐतिहासिक वस्तु है और इस तथ्य को न तो कभी पूर्व वाले भूले, न पश्चिम वाले। प्रत्येक अनुवादक इस बात के लिये उत्सुक प्रतीत होता है कि वह लोगों को मूलस्रोत का पता देता रहे।

जितने विचारकों ने इन कहानियों पर विचार किया है, उन सभों में दो तीन प्रश्नों का विचार ही नहीं किया। पहला सवाल तो यह है कि विभाजन के समय जब आर्य विभिन्न दिशाओं में जाने लगे तो वे अपने साथ मूलस्थान की भाषा एवम् उस भाषा में प्रयुक्त होने वाले शब्दकोष के साथ ही साथ क्या वे जन कथाएँ भी लेते गये जो भारत, फारस, ग्रीस, रोम, जर्मनी प्रभृति देशों में समान रूप से पायी जाती हैं? अब इस बात से कोई भी विद्वान् इनकार नहीं कर सकता कि कितने ही देवता ऐसे हैं, जिनका स्वरूप, गुण तथा नाम भी प्रायः सभी आर्य जातियों में समान हैं। कितने भारतीय, ग्रीक एवम् रोमन नायक ऐसे हैं जो समान गुणवाले तथा समान कार्यों के कर्ता माने जाते हैं। उनका मूल भी समान ही हैं। इन बातों को वे सभी विद्वान् मानते हैं, जिनके मानने का कुछ मूल्य हैं। चूंकि कथा-नायक भी प्रकारान्तर से देवता ही हैं अतः हमें यह मान लेने में संकोच नहीं करना चाहिये कि इन सभी जातियों ने समान देवताओं को माना है, उनकी पूजा की है एवम् उनके विषय में समान कथाओं को भी जन्म दिया है। विचार क्रम से परवर्ती काल में ये ही देवता या नायक परियों के रूप में भी हमारे सामने आते हैं। यह प्रश्न उस समय और भी समस्या-मूलक हो जाता है, जब हमारे सामने यह प्रश्न आता है कि क्या नैतिक उद्देश्य से कही गयी कथाएँ भी हमें उत्तराधिकार के ही रूप में ही मिली हैं? कुछ लोग ऐसे हैं कि वे मानते हैं सभी आर्य जातियों की कथाओं में साम्य है, कुछ ऐसे हैं जिन्होंने मेरी तरह परीक्षण पूर्ण तर्कों के प्रकाश में इस कथा-साम्य को सिद्ध किया है। साथ ही यह भी सिद्ध किया है कि सभी जातियों में समान रूप में या यत्किंचित परिवर्तित रूप में पायी जाने वाली जन-कथाएँ अवश्य ही आर्यों के विभाजन की पूर्ववर्ती काल की हैं। ऐसा करने

के लिए विभिन्न क्षेत्रीय जनकथाओं के बीच सम्बन्ध सिद्ध करने की आवश्यकता पड़ी है और उन्होंने ऐसा किया भी है। उदाहरण स्वरूप जो लोग जानते हैं कि सूर्योदय के पूर्व उषाकाल में किस प्रकार दिगदिगन्त एक स्वर्णमयी आभा से आप्लावित हो उठता है वे ही जर्मन भाषा की इस कहावत के सम्पूर्ण अर्थ को समझ सकते हैं कि 'मार्जेनस्टण्डे हैट गोल्ड इन मण्डे।' ऐसे लोगों को इस कहावत में पौराणिकता की स्पष्ट आभा दिखायी पड़ेगी। इस प्रकार की कहावतों को जन्म देने वाले लोगो को मूल आर्यस्थान की उषा के सौन्दर्य से अवश्य ही तृप्त होने का अवसर मिला होगा। हम जानते हैं कि पराकथाओं में चुराये गये पशुओं के खुरों के निशानो को मिटाने की बात बार-बार दुहरायी गयी है। ऐसी ही कथाएँ यदि हमें संसार के अनेक कोनों में देखने को मिलती हैं, तो हमें यह मानना ही पड़ता है कि एक दिन इन कथाओं के कहने सुनने-वालों के पूर्वज अति सुदूरभूत में एक ही स्थान पर रहते थे, उनका खान-पान, रहन-सहन, वेष-भूषा, आचार-विचार सभी समान थे। 'वेस्टीजिया नला रिट्रार्सम' अवश्य ही उस काल की कहावत है जब आर्य लोग अपने-अपने पशुओं के साथ खानाबदोशी की जिन्दगी बिता रहे थे। यही कारण है कि जब हम देखते हैं कि प्लाटो एसोय की कथाओं को जानता था तो उसकी वह बात हमारे समझ में आ जाती है कि किस प्रकार लोमड़ी शेर की माँद में इसलिये नहीं गयी कि उसने अनेक जानवरों के पदचिन्ह देखे जो गुफा की ओर गये तो थे, पर लौटे नहीं थे। पंचतंत्र की एक कथा में एक गीदड़ इसलिये अपनी माँद में नहीं घुसता कि उसने शेर के पांवों के निशान मांद की ओर जाते देखे पर लौटने का कोई भी निशान नहीं था। उपरोक्त दोनों कथाओं में कथावस्तु की समानता को देखकर क्या हम यह नहीं मान सकते कि दोनों कथाओं का बीज एक ही हैं साथ ही वह भूमि भी एक ही है जहां वह बीज अंकुरित हुआ। इस स्थल पर यदि हम यह कहें कि ग्रीकों ने इस कथा को भारतीयों से लिया तो वह बात निरर्थक होगी। इससे अधिक विवेक पूर्ण बात तो हमें यही लगती है कि यह कथा ग्रीस देश की है और सिकंदर के भारत अभियान के बाद भारतीयों ने इसे ग्रीकों से लिया। यदि हम उपरोक्त कथाओं पर ध्यान पूर्वक विचार करें, तो हम देखेंगे कि एक कथा में लोमड़ी ने उन जानवरों के पैरों के निशानों को देखा जो गुफा की ओर गये तो थे पर लौटे नहीं थे और दूसरी में शृंगाल ने स्वयं शेर के पंजों को ही गुफा की ओर जाते देखा परन्तु शेर के लौटने के निशान नहीं थे। ऐसी स्थिति में 'वेस्टीजिया नला रिट्रार्सम' ही उपरोक्त अन्तर को समझा सकता है। मैं इस अर्थ की कठिनाइयों को खूब अच्छी

तरह समझ रहा हूँ और इसीलिये मैं डा० ब्लीक द्वारा उद्धृत हाटेनटाट जाति की उस कथा की ओर संकेत कर देना चाहता हूँ, जिसमें एक श्रृंगाल इसलिये गुफा में बीमार पड़े हुए शेर को देखने के लिये जाने से रुक गया, क्योंकि गुफा की ओर जाने वाले अनेक पशुओं के पदचिह्न उसे देखने को मिले परन्तु ऐसा निशान एक भी नहीं मिला जो किसी वापस लौटते हुए पशु का हो। इस विवाद ग्रस्त प्रश्न पर कोई निश्चित प्रगट करने का मेरा कोई इरादा नहीं है, मैं मत तो सिर्फ इतना ही कह देना चाहता हूँ कि इन कथाओं को दो निश्चित वर्गों में बाँट देना चाहिये। प्रथम वर्ग में विभाजन पूर्व की उन कथाओं को रखना चाहिये जो विभाजन के समय आर्यों की विभिन्न शाखाओं के साथ गयी थीं और दूसरे वर्ग में उन कथाओं को रखना चाहिये जो विभिन्न अनुवादों द्वारा विभिन्न देशों में पहुँची थीं। जिनकी इच्छा हो वे मानें और जिनकी इच्छा हो इस बात को न माने कि जीअस ही द्यौस है; दफने की अह्ना है; और ला वेली ओ व्याइस ही एल अरोरे एवं ली जूर की माता है, किन्तु यह तो ऐतिहासिक सत्य है कि हमारे ही सम्वत् के ६वीं शती में भारतीय कथाओं का प्राचीन फारसी भाषा में अनुवाद हुआ और वहीं से अनूदित कथाएँ योरप एवं एशिया के विभिन्न देशों की विभिन्न भाषाओं में अनूदित व प्रचारित हुई। इन कथाओं के दो स्पष्ट विभागों को अलग अलग करके ही देखना विवेकपूर्ण होगा अन्यथा हमारी सारी विचार-शैली ही भ्रान्तिपूर्ण हो जाने की आशंका है।

एक अन्य प्रश्न भी है। हमें यह देखना है कि जिन दो सम्भव रास्तों की चर्चा मैंने ऊपर की पंक्तियों में की है, उनके अतिरिक्त क्या कोई अन्य रास्ता भी है, जिनसे इन कथाओं का निर्बाध स्थानान्तरण सम्भव हो सकता था। हाँ और भी रास्ता है। भारतीय मूल की फारस तथा अरब में जो कथाएँ प्रचलित थीं वे उन लोगों द्वारा योरप के देशों में पहुँचीं जो धार्मिक युद्धों के क्रम में उस ओर गये थे। बौद्धों की कथाएँ १३वीं शताब्दी में मंगोलियन विजेताओं द्वारा ले जायी गयी थीं और उन्हीं द्वारा वे रूस एवं पूर्वी योरप में फैलीं। ग्रीस देश की कथाएँ सिकन्दर के आक्रमण के समय भारत में पहुँची होंगी। ईसाई जगत् की कहानियाँ ईसाई धर्मोपदेशकों द्वारा संसार के विभिन्न भागों में पहुँच सकती थीं। इधर से उधर और उधर से इधर यात्री एवं व्यापारी भी आते जाते रहते थे। गुलाम भी इधर उधर होते ही रहते थे।

अन्तिम प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न जातीय विश्वासों, रिवाजों, कहावतों एवं कथाओं में जो सादृश्य पाया जाता है और जिनके : पष्टीकरण

के लिये हमें इतिहास की शरण लेनी पड़ती है, उन सादृश्यों को हम मानव-प्रकृति के सहारे कहां तक समझ सकते हैं? मुझे केवल एक उदाहरण देना है:—प्रोफेसर विल्सन ने स्वलिखित संस्कृत साहित्य सम्बन्धी निबन्धों में पृष्ठ २०१ पर लिखा है कि ट्रोजन हार्स की कथा का परिवर्तित रूप हमें भारत में भी किंचित परिवर्तनों के साथ मिलता है। वहां पर लकड़ी के घोड़ों में कुछ सिपाही छिपे थे और भारत में एक यंत्रनिर्मित पर वास्तविक दिखने वाले हाथी के शरीर में सिपाही छिपे थे। इस विषय पर लिखते हुए विल्सन ने लिखा कि यह सादृश्य आकस्मिक है। अन्य किसी भी पुराक-था शास्त्री ने इन कथाओं को सममूलक नहीं माना है। उनके कहने का तात्पर्य यह है कि यंत्रपूर्ण हाथी या घोड़े की रचना एक सामान्य भावना का प्रदर्शन मात्र है जो दोनों कथाकारों में समान थी। इधर हम देखते हैं कि ट्रोजन हार्स एक पौराणिक जीव बन गया है, जब कि भारतीय हाथी में इस प्रकार की पौराणिकता नहीं आ पायी है। संसार के हर कोने के लोग ऐसी कथाओं से परिचित हैं, जिनमें गधा शेर की खाल ओढ़ लेता है, या किसी भी प्रकार एक जानवर दूसरे के वेष में काम करता[1] है और यदि यह बात सत्य है तो यह उससे थोड़ी ही अन्तर पर तो है कि कोई व्यक्ति या व्यक्तिसमूह घोड़े में, (कृत्रिम) या हाथी में छिप जाय।

उपरोक्त तीनों प्रश्नों का समाधान अलग अलग खोजना चाहिये। इनमें प्रथम वर्ग (विभाजन पूर्व) की कथाओं का समाधान खोजने के लिये हमें समय क्रम के धागे के सहारे विलोम गति से भूतकाल में प्रवेश करना होगा और द्वितीय वर्ग की कथाओं का समाधान पाने के लिये ऐतिहासिक सूत्र के सहारे हमें ऐतिहासिक युग के आदिकाल के आदिम युग में प्रवेश करना पड़ेगा अर्थात् पुस्तकालयों में स्थित हमें तत्कालीन या तत्काल-विषयक ग्रंथों का

---

१. देखिये प्लाटो का क्रौटिलोस पृ० ४११; "चूंकि हमने शेर की खाल पहन रक्खी है"। इससे प्रतीत होता है कि प्लाटो इस कथा से परिचित था। पंचतंत्र ४·८ में भी ऐसी ही एक कथा है—एक रंगरेज अपने गधे को शेर की खाल ओढ़ा कर चरने के लिये छोड़ देता है और लोग तब तक उससे भयभीत होते रहते हैं, जब तक कि एक गधी को देखकर वह रेंगने नहीं लगता। अन्त में वह मारा जाता है।

हितोपदेश में खेत का रखवाला ही गधी की खाल ओढ़ लेता है, जिसे देखकर सिंह-चर्माच्छादित गधा रेंगने लगता है। चीनी कथा पंचतंत्र से मिलती-जुलती है। यहां यह निश्चय करना कठिन है कि ये भाव एक देश से दूसरे देश में गये या स्वतंत्र रूप से विभिन्न लोगों में उठे।

अध्ययन करना पड़ेगा। इस प्रकार पेरेटी तक या पिलये द्वारा लिखित कथा तक हम पहुँच सकते हैं। लॉ फॉण्टेन को केवल भारतीय भाषा से अन्य भाषाओं में किये प्रमुख अनुवादों की भूमिकाएँ पढ़नी पड़ी थी। डा० हूट ने सन् १६७० ई० में अपनी पुस्तक पेरिस से प्रकाशित किया था। उस समय से अब तक (मैक्समूलर के समय तक) अनेक प्रमाण सामने आये हैं। सिलवेटर डी सेसी ने इस विषय पर पूरा प्रकाश डाला है। प्रोफेसर बेनेफे ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण काम किया है। इन सबके सम्मिलित प्रयास से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो गयी है कि इन भारतीय कथाओं ने फारस से बगदाद तथा कुस्तुन्तुनियां होते हुए योरपीय देशों में पदार्पण किया था।

जिन देशों से होते हुए इन कथाओं की यात्रा हुई है उनका सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिये आइये हम बगदाद को अपना केन्द्र बनायें और वहीं से इन कथाओं के पूर्व से पश्चिम की यात्रा के पथ को देखें। आठवीं शताब्दी के मध्य में खलीफा अलमंसूर का राज्य था। उसी समय अलमुसफ्फा के पुत्र अब्दुल्ला ने 'कलीला और दिम्नह' नामक संग्रह किया था। यह पुस्तक आज भी देखने को मिल सकती है। इस पुस्तक का अरबी प्रकाशन सिलविस्टर डी सेसी ने किया है। इसका अँगरेजी अनुवाद किया है मि० नैचबुल ने जो आक्सफोर्ड में अरबी के प्राध्यापक थे। अब्दुल्ला जनमतः फारस देश का था जो बाद में मुसलमान हो गया और खलीफा के दर्बार में उच्चपद पर आसीन हुआ। चूँकि उसे राज्य के अनेक बहुमूल्य भेद ज्ञात हो गये थे अतः खलीफा अलमंसूर ने उसे धोखे से मरवा डाला। अपने संग्रह की भूमिका में अब्दुल्ला ने लिखा है कि उसने इन कथाओं का अनुवाद पहलवी भाषा से किया जो फारस की प्राचीन भाषा थी और इन कथाओं का पहलवी में अनुवाद किया था बर्जुएह ने जो अब्दुल्ला से दो सौ वर्ष पूर्व हुआ था। यह व्यक्ति फारस के बादशाह नौशेरवां का वैद्य था। नौशेरवां जस्टीनियन का समकालीन था। फारस के बादशाह ने किसी अधिकारी व्यक्ति से सुना था कि भारत में अनेक प्रकार की बुद्धिमत्ता से पूर्ण अनेक कथा-ग्रन्थ थे, अतः उसने अपने वजीर बुर्ग मेहर को आज्ञा दी कि इन कथाओं को उसकी भाषा में अनदित किया जाय। इसके लिये एक ऐसे व्यक्ति की खोज की गयी, जिसे दोनों ही भाषाओं का ज्ञान हो। इस कार्य के लिये बर्जुएह चुना गया। बर्जुएह भारत गया, उसने पुस्तक प्राप्त किया, उसका अनुवाद किया और फारस लौट आया। बादशाह खुसरो ने उसे बहुत-सा पारितोषिक देना चाहा परन्तु उसने केवल वस्त्र ही स्वीकार किया और यह इच्छा प्रगट की कि स्वयम् अनुवादक

(बर्जुएह) का जीवन चरित्र उस ग्रंथ में जोड़ दिये जाने की इजाजत बादशाह दे दे। स्वयम् बर्जुएह द्वारा लिखित उसका जीवन और उससे सम्बन्धित उसकी बातें बड़ी ही कुतूहल जनक हैं। वे जैसे ६वीं शताब्दी की दर्पण ही हैं। उनको पढ़ने मात्र से प्रतीत हो जाता है कि जैसे स्वयम् लेखक की आत्मा तत्कालीन परम्पराओं एवम् आडम्बरों में बँधी हुई छटपटा रही थी। उक्त जीवनी से ही पता चलता है कि लेखक सांसारिक वाह्याडम्बरों को छोड़ कर सत्यान्वेषी बनने का इच्छुक था जो (सत्यान्वेषण) मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

इस फारसी वैद्य की भारत यात्रा का एक अन्य विवरण भी है। अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ शाहनामा में फिर्दौसी ने उसकी चर्चा की है। शाहनामा के अनुसार फारसी वैद्य को इस बात की सूचना किसी तरह मिली कि भारत में ऐसी जड़ी-बूटियाँ हैं, जिनके रस के प्रयोग से मुर्दा भी जीवित हो जाता है। बादशाह की आज्ञा से वह उन जड़ी - बूटियों की खोज में भारत गया। साल भर उसने प्रयत्न किया कि उसे ऐसी बूटियाँ मिल जाँय, पर उसका सारा प्रयत्न बेकार गया। हार कर उसने कुछ विज्ञ भारतीयों से सलाह ली। उन लोगों ने उसे समझाया कि इस प्रकार पुनर्जीवन प्राप्त करने की बात को आध्यात्मिक अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। उन्होंने उसे समझाया कि भारत में ऐसी बुद्धिमत्ता पूर्ण पुस्तकें हैं जो उन लोगों को नवजीवन प्रदान करती हैं जो पापपंक में आकंठ डूब चुके हैं। इन बातों से प्रभावित होकर उक्त वैद्य ने इन कथा ग्रंथों का अनुवाद किया, जिनमें से एक का नाम उसने रक्खा 'कलीला और दिम्नः।'

सम्भव है कि ये दोनों ही कथाएँ बाद की हैं। अलशाह फरेसी के पुत्र अली ने जो भूमिका लिखी है तथा जिसमें बिदपई तथा शाह दबसलीम की चर्चा प्रथम बार हुई है, वह पर्याप्त पीछे के समय की है। इसके बावजूद भी यह तथ्य ज्यों का त्यों ही रह जाता है कि इन कथाओं को अब्दुल्ला ने ही पहलवी भाषा अरबी भाषा में अनूदित किया। पहलवी भाषा शाह नौशेरवाँ के समय की राजभाषा थी। यह भी सत्य ही है कि पहलवी भाषा का कथा संग्रह भारतीय कथाओं का अनुवाद मात्र ही था और यह अनुवाद ईसा की ६ वीं शताब्दी में हुआ था। जिस भारतीय कथा संग्रह से पहलवी भाषा में अनुवाद हुआ था, वह अवश्य ही पंचतंत्र नहीं रहा होगा। वह ग्रंथ आज के पंचतंत्र की अपेक्षा अवश्य ही बृहत्तर रहा होगा क्योंकि कलीला एवं दिम्नः में १८ अध्याय है, जबकि पंचतंत्र में केवल पाँच अध्याय हैं। पहलवी भाषा के ग्रंथ में ५ वें, सातवें, आठवें, नवें तथा दसवें अध्यायों

में वही कथाएँ दी गयी हैं, जो पंचतंत्र में हैं। इसमें भी कुछ कथाओं का हेर-फेर है, अर्थात् पंचतंत्र की कुछ कथाएँ छोड़ दी गयी हैं तथा कुछ अन्य कथाएँ जोड़ दी गयी है।

अरबी भाषा के कथासंग्रह में ब्राह्मण एवं चावल की कथा इस प्रकार दी गयी हैं :—

'एक ब्राह्मण को एक व्यापारी के घर से नित्य कुछ मक्खन एवम् कुछ शहद दान में मिला करता था। नैत्यिक व्यय से जो कुछ शेष रह जाता था, उसे ब्राह्मण एक खूँटी से लटके घड़े में भर देता था। उसे आशा थी कि कभी न कभी यह घड़ा भर जायगा। एक दिन वह चारपाई पर लेटा था। एक छड़ी उसके हाथ में थी। घड़ा ठीक सर पर लटक रहा था। वह सोचने लगा कि घड़ा भर मक्खन और शहद बेच कर वह १० बकरियां खरीदेगा। इन बकरियों का कुछ ही दिनों में एक बड़ा झुण्ड तैयार हो जायगा। इस प्रकार दो वर्षों में उसने ४०० बकरियों का हिसाब लगाया। उसने निश्चय किया कि वह प्रति चार बकरी के बदले एक गाय या बैल खरीद कर १०० पशुओं का एक झुण्ड तैयार कर लेगा। तब कुछ जमीन खरीद कर तथा हलवाहे रख कर वह कृषि कार्य करने लगेगा। पांच ही वर्षों में कृषि की उपज तथा गायों का दूध बेच कर वह एक धनी व्यक्ति बन जायगा और एक शानदार भवन बनवायेगा। बाद में उसके बहुत से दास-दासी होंगे और तब वह एक सुन्दर-सी दुल्हन लायेगा। उससे जो बच्चा होगा, उसे सुयोग्य अध्यापकों से शिक्षा दिलवायी जायगी। यदि उसने पढ़कर योग्यता प्राप्त कर ली तो ठीक अन्यथा इसी छड़ी से उसकी खूब मरम्मत करूँगा। यहाँ तक सोचते-सोचते उसके हाथ ने भी दिमाग का साथ दे दिया और छड़ी सचमुच ही चल गयी। छड़ी उस घड़े में लगी और घड़े के फूट जाने से सारा शहद भूमि पर फैल गयी...।'

आप सभी ने संस्कृत एवम् अरबी में लिखी गयी इन कथाओं का अन्तर देखा होगा। दोनों के नायक हवाई किले बनाते हैं। एक अपनी स्त्री को छड़ी से मारता है और दूसरा अपने पुत्र को। यह अन्तर कैसे आया, यह जानने का कोई साधन नहीं है। कारण चाहे जो भी हो, परन्तु हमने संस्कृत से पहलवी और पहलवी से अरबी के अनुवाद के नमूने देख लिये ? यह कथा कैसे भारत की झोपड़ियों से निकल कर फारस के राजमहलों में होती हुई अरब के रेगिस्तान में जा पहुंची, यह भी हमने जान लिया। हमें भूलना न चाहिये कि अरबी भाषा में अनुवाद किया गया था खलीफा अलमंसूर के लिये और वह अब्दुर्रहमान का समकालीन था, जो स्पेन का शासक था। ये दोनों ही हारुनुल रशीद तथा

शार्लमेन से थोड़ा ही पहले हुए थे। ऐसी स्थिति में इन कथाओं के बगदाद पहुँच जाने पर पश्चिम के देशों में उनका प्रवेश आसानी से हो सकता था और शार्लमेन के समूचे साम्राज्य को पहुँच जाना उन कथाओं के लिये सहज ही था। इन कथाओं की गति ऐसी ही रही भी, परन्तु यूरोप के साहित्य में इन कथाओं के दर्शन हमें तीन सौ साल बाद होते हैं। कार्लोविजियन साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े हो गये थे, स्पेन मुसलमानों के हाथ से निकल चुका था, विजयी विलियम का इंग्लैण्ड में प्रवेश हो चुका था और धर्मयुद्धों ने यूरोप निवासियों का ध्यान पूर्व की ओर खीचना प्रारम्भ कर दिया था। इसी समय सन् १०८० ई० के करीब हम यहूदी सेथ के पुत्र सीमियन का नाम सुनते हैं, जिसने अरबी से इन कथाओं को ग्रीकभाषा में अनूदित किया। अपनी भूमिका में वह कहता है कि यह ग्रंथ भारत से आया और यह फ़ारस के बादशाह खुसरो के लिए लाया गया था। वहाँ से यह अरबी में अनूदित हुआ। स्वयम् सीमियन का अनुवाद अरबी भाषा से हुआ है जो डी सेसी के अनुवाद से कहीं बढ़कर है और कहीं घट कर। ग्रीक ग्रंथ का भी प्रकाशन हो चुका है, जिसमें वही कथा इस प्रकार कही गयी है :—

'ऐसा कहा जाता है कि एक भिखारी ने शयनस्थान के समीप ही मिट्टी के ही पात्रों में कुछ शहद और कुछ मक्खन जुटा रक्खा था। एक रात उसकी विचारधारा इस प्रकार बहने लगी, "मैं इस शहद व मक्खन को कुछ पैसों में बेच दूँगा। जो कुछ भी मिलेगा, उससे मैं दस बकरियाँ खरीद लूँगा। पांच मास में ही वे दुगुनी हो जायँगी। पाँच वर्ष में वे चार सौ हो जायँगी। इनसे मैं सौ गायें खरीदूँगा। तब मैं कुछ भूमि खरीदकर कृषि कार्य प्रारम्भ कर दूँगा। अगले पांच वर्षों में प्राप्ति धन एकत्रित करके मैं चौपहलू मकान बनवाकर उसमें किमती पत्थर जड़वाऊँगा। तब एक सुन्दरी बाला से ब्याह करके एक बच्चा पैदा करूँगा। वह लड़का यदि शिक्षाप्राप्ति में सुस्ती करेगा तो मैं उसे इसी छड़ी से यों मारूँगा। इतना सोचते सोचते उसने सचमुच छड़ी चला दी। बर्तन फूट गया और तमाम शहद भूमि पर फैल गयी।"

उपरोक्त ग्रीक कथा लॉ फाण्टेन को मिली होगी, परन्तु न तो उसे ग्रीक का ही इतना अधिक ज्ञान था और न ही तब तक सीमियन द्वारा अनूदित ग्रंथ प्रकाशित हुआ था। अतः लॉ फॉण्टेन को किसी अन्य श्रोत से इस कथा का ज्ञान हुआ होगा। सन् १५८३ में फेराश में एक इटैलियन अनुवाद प्रकाशित हुआ था। इसका अनुवादक शायद गुलियो नूटी था।

इसके अतिरिक्त पेट्रस पॉसिनस कृत एक लैटिन अनुवाद सन् १६६६ ई० में रोम से प्रकाशित हुआ था। बहुत से विद्वानों के अनुसार लॉ फॉण्टेन ने

इसी ग्रंथ का अनुवाद किया था। यह बात ठीक भी हो तो भी यह तो हो ही नहीं सकता कि पेरेटी वाली कथा इसी पुस्तक से ली गयी थी।

सत्य तो यह है कि उपरोक्त रास्तों के अतिरिक्त अन्य रास्ते भी तेरहवीं शती तक थे, जिनसे ये कथाएँ पूर्व से पश्चिम को आयीं और धीरे-धीरे देश के कोने-कोने में फैल गयीं। कम से कम प्रत्येक उच्च वर्गीय तथा प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति इन्हें जानने लग गया था। सन् १२५० ई० के आस पास जोएल (शायद) नाम के एक यहूदी ने इन कथाओं का अनुवाद अरबी से हिब्रू भाषा में किया। यह कृति प्रकाशित नहीं हुई, परन्तु पेरिस में अभी तक सुरक्षित है। इस ग्रंथ का १० वां भाग डा० न्यू बॉवर द्वारा बेनेफे साहब की पत्रिका 'ओरिएंट ऐंड औक्सीडेन्ट' में छपवाया गया था। इस हिब्रू कृति का अनुवाद कापुआ के एक यहूदी ने लैटिन में किया। यह अनुवाद १२६३-१२७८ के बीच पूरा हुआ और १३ वीं शताब्दी के शिक्षित जनों में यह बड़ा ही जनप्रिय हुआ। जोएल की कृति में मूल भारतीय लेखक का नाम पिलये के स्थान पर सेनदेवा लिखा है। वर्टेनवर्ग के ड्यूक एबरहार्ड के आदेश से इस कृति (डाइरेक्टोरियम) का अनुवाद जर्मन भाषा में हुआ और लैटिन कृति के साथ ही साथ जर्मन अनुवाद का भी प्रकाशन १५ वीं शती के अन्त तक कई बार हुआ। सन् १४९३ ई० में इनका अनुवाद स्पेनिश भाषा में हुआ। इसी प्रकार १६ वीं शताब्दी तक इन अनुवादों की धूम मची रही और इन अनेक अनुवादों में से लॉ फॉण्टेन ने किसी भी ग्रन्थ का सहारा लिया होगा और अपने देशवासियों को ये कथाएँ दी होंगी।

हम जहाँ तक जानते हैं, एक तीसरा रास्ता भी था, जिससे होकर ये कथाएँ पूर्व से पश्चिम को आ सकती थीं। फारसी का एक शायर था नसरुल्लाह, जिसने ११५० ई० में अब्दुल्ला के संग्रह को फारसी में अनूदित किया। पन्द्रहवीं शताब्दी में एक अन्य शायर हुसेन बिन अली (प्रख्यात एलबीज) ने इस पुस्तक का परिवर्द्धित संस्करण निकाला और इस परिवर्द्धित संस्करण का नाम रक्खा 'अनवारे सुहैली।' भारतीय सिविल सर्विस के अनेक लोग इस नाम से अवश्य ही परिचित होंगे, क्योंकि फारसी का ज्ञान प्राप्त कराने के लिए इस पुस्तक का उपयोग किया जाता था। इस पुस्तक का या इसके प्रथम खण्ड का फ्रेंच अनुवाद इस्फ़हान के डैविड साहिद ने किया और सन् १६४४ ई० में पेरिस से प्रकाशित किया। इस बात का निश्चित प्रमाण है कि यह अनुवाद

लॉ फाएटेन के हाथ में पड़ा था और अनेक मोहक कथाएँ इसी से उद्धृत हुई थीं।

इतना सब कुछ कह लेने के बाद भी अभी पेरेटी की यात्रा समाप्ति पर नहीं आयी है क्योंकि यदि हम पेरिस से प्रकाशित संस्करण को देखें, तो उसमें न तो पेरेटी मिलती है और न हीं उससे मिलता-जुलता कोई चरित्र। उनमें तो गरीब ब्राह्मण है जो या तो अपनी स्त्री को लात मारता है या अपने पुत्र को मारता है। ऐसी स्थिति में लाँ फाएटेन ने पेरेटी वाली कथा किसी अन्य स्त्रोत से ली होगी। स्मरण रहे कि अभी तक हमें वह पोथी नहीं मिली है और हम यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि किस लेखक ने पेरेटी को जन्म दिया।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि ला फॉएटेन ने जहां से भी कथाओं को पाया, उन्हें अपने संग्रह म स्थान दिया। हाँ उसने इतना अवश्य किया कि उसने कथाओं के मुख्य चरित्रों को इस प्रकार परिवर्तित रूप में हमारे सामने रक्खा कि वे हमें कम से कम विदेशी लगें, परन्तु जहां तक पेरेटी की कथा का सम्बन्ध है, उसमें परिवर्तन व परिवर्धन फॉएटेन ने नहीं किया, चाहे अन्य किसी ने भी किया हो और जिसने भी यह सब कुछ किया, उस सुयोग्य व्यक्ति का नाम हम आज खोजकर भी नहीं पा रहे हैं।

अब तक हमने केवल तीन धाराओं पर विचार किया है, जिनमें से एक ११ वीं शती में बही और दूसरी, तीसरी धाराएँ १२ वीं और १३ वीं शती में चलीं, उन्होंने लुई चौदहवें के सिंहासन तक को स्पर्श किया, परन्तु इन तीनों धाराओं में से किसी में भी पेरेटी के दर्शन न हुए। ऐसी स्थिति में अभी हमें एक प्रयत्न और करना है।

स्पेन को जब मुसलमानों ने जीता तो अरबी साहित्य को पश्चिमी योरप में एक नया क्षेत्र मिला। उस समय कितने ही अनुवाद अरबी से स्पेनिश या लैटिन में हुए। उसी क्रम में १३ वीं शती के अन्त में (१२८९ ई० में) कलीलाए-दिम्नः का भी अनुवाद हुआ। इस नवीन अनुवाद में विदपई का नाम बण्डोबल हो गया है। सन् १३ ३ ई० में रेमाण्ड डी बेजीर्स ने इनका लैटिन अनुवाद (अप्रकाशित) प्रस्तुत किया। अरबी भाषा से ही लैटिन में ही पद्य-बद्ध एक अन्य अनुवाद भी प्रस्तुत किया गया और इसे प्रस्तुत किया बाल्डो ने। इस अनुवाद को हम 'एसप्स अल्टर' के नाम से जानते हैं।

इस प्रकार जो अनुवाद, और अनुवादों के अनुवाद का क्रम चला, उसी से पता चल जाता है कि तत्कालीन यूरोपीय समाज में लोग इन कहानियों को

जितना पढ़ते थे, उतना बाइबिल भी नहीं पढ़ते थे। इतना ही नहीं हुआ कि वे कथाएँ केवल पढ़ी ही गयीं; लोगों ने उन्हें पढ़ा, उनमें काट-छाँट की, शक्ति एवम् आवश्यकता के अनुसार उनका संक्षिप्तीकरण और परिवर्द्धन भी हुआ और इस परिवर्तन की लपेट में आकर इन कथाओं की वेष भूषा इस कदर योरपीय हो गयी कि कितनों को तो पूर्वीय कहना भी कठिन हो गया। मैं आप लोगों के सामने केवल एक उदाहरण रखना चाहूँगा :—

रैबलेस ने गारगेंचुआ में एक लम्बा विवरण इस बात का दिया है कि मनुष्य समूचे संसार को कैसे जीत सकता है। इसी विवरण के अन्तिम भाग में उसने एक वार्तालाप दिया है, जो स्पष्टतः चार्ल्स पांचवें पर एक व्यंग है। उसमें हमें जो मिलता है, एक ब्राह्मण के स्थान पर एक मोची आ गया तथा चावल, घी, शहद के स्थान पर एक घड़ा दूध आ गया है। ऐसी स्थिति में हम यह तो मान ही सकते हैं कि यदि १५ वीं शती के एक लेखक ने ब्राह्मण को मोची में और चावल तथा शहद को दूध में परिवर्तित कर दिया, तो बहुत सम्भव है कि लॉ फॉण्टेन ने दूध के घड़े का खयाल करके मोची को गोपी में बदल दिया हो। यदि हम दो शताब्दी पीछे जाकर अपने भारतीय सन्त के समय में जा पहुँचें तो देखेंगे कि वहां भी गोपी आ गयी है। अभी कुछ दिनों पूर्व हमारे हाथ एक पुस्तक लगी, जिसका नाम है 'डायलोगस क्रीचरेरम आप्टिमें मोरालिजेटस' (नैतिकता पूर्ण पशुओं की वार्ता); जो लैटिन में है। इसमें प्राचीन कथाओं के माध्यम से नैतिक उपदेशों का संग्रह है। स्पष्ट ही यह एक सफल ग्रंथ है और कितनी ही भाषाओं में इसका अनुवाद किया गया है। सन् १८१६ ई० में इसका एक अँगरेजी अनुवाद भी प्रकाशित किया गया। उसमें एक कथा है, जिसमें हमें एक ऐसा स्त्री के दर्शन होते हैं जो पेरेटी से बहुत कुछ मिलती है।

'वार्ता १००, पृष्ठ २२३. डैविड ने ६४ वें भजन में कहा है कि एक कथा के अनुसार एक मालकन ने नौकरानी को एक गैलन दूध दिया और उसे शहर में बेच लाने को कहा। रास्ते में वह एक खाई के किनारे बैठ गयी और सोचने लगी कि दूध के विक्रय से मिले हुए दाम से वह एक मुर्गी खरीद लेगी, जिससे चूजे पैदा होंगे; जब वे बड़े हो जायेंगे तो उन्हें बेचकर वह एक सुअर खरीद लेगी; सुअर से भेंड़, भेंड़ से गाय और गाय से बैल खरीद लेने पर वह धनी व्यक्ति से व्याह करके आनन्द करेगी। वह इसी प्रकार कल्पना जनित आनन्द सागर में गोता लगाती रही। अन्त में वह अपने कल्पित पति व बच्चों के साथ घोड़े पर सवार होकर जा रही थी कि

उसने घोड़ों को एँड़ लगा दी जो सामने के घड़े में लगी और सारा दूध भूमि पर बिखर गया।'

अब हमारी यात्रा समाप्ति पर आ गयी है। पेरेटी की खोज में हमने पन्द्रह-बीस शताब्दियों की खाक छान डाली है। मुझे डर है कि मेरे कुछ श्रोता इतनी लम्बी तथा अल्प लाभकर यात्रा से थक या ऊब गये हों। अब हमें इतना ही कहना है कि ग्वारिन जब एक बार प्रविष्ट हो गयी तो मानों उसे सदा-सर्वदा के लिये स्थायी प्रवेश-पत्र मिल गया। हम उसे 'कॉण्डे ल्यूकेनर' में पाते हैं, डोना ट्रुहाना के रूप में पाते हैं। यह कृति है इनफैण्टे हॉन जुआन मैनुएल की (मृत्यु १३४७ ई०) जो सेंट फर्डिनैण्ड का पौत्र था, अलफांजों द वाइज का भतीजा था, जो स्वयं बादशाह तो न था परन्तु शक्ति जिसकी बादशाहों के समान ही थी बल्कि ज्यादा ही थी, जिसकी कलम में ही उसके तलवार की सी ही शक्ति थी और जिसे अरबी का भी ज्ञान था, यद्यपि अरबी उसके शत्रुओं की भाषा थी। इसके बाद वह फिर हमें 'कौंटेस एट नोबुल्स आव बोनावेंचर्स डेसपेरियर्स' में मिलती है और लॉ फॉण्टेन के प्रकाशन के बाद तो पेरेटी समूचे यूरोप में छा जाती है।

अब आप उस पुल को स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, जिस पर से होते हुए इन भारतीय कथाओं ने इतनी लम्बी और इतनी दीर्घकालीन यात्रा की है। जिस पल से पेरेटी हमारे देश में आ गयी, उसी पुल से सभी कहानी के नायक हमारे देश में, हमारे महाद्वीप में आ पहुँचे। इनका जन्मस्थान भारत है, बौद्धों ने उन्हें एकत्रित किया, उन्हें अपने धर्मग्रंथों में सुरक्षित किया और अन्त में ब्राह्मणों के हाथ उन्हें सौंप दिया। बर्जुएह उन्हें भारत से फारस लाया, वहाँ से वे बगदाद के खलीफा के दरबार में पहुँचीं और कुस्तुन्तुनिया के दर्बार की भी सैर उन्होंने की। इस यात्रा में कुछ कथाएँ मृत भी हो गयी, कितनों का वेष परिवर्तित हो गया और कुछ की तो आत्मा ही बदल गयी। फिर भी यदि हम पेरेटी की यात्रा को समझ लेते हैं तो शेष कथाओं एवम् कथानायकों की इस दीर्घकालीन एवम् दीर्घयात्रा का चित्र हमारी आँखों के आगे स्पष्ट हो जाता है। मूल कथावस्तु इतनी परिवर्तित नहीं हुई है कि उसे पहचाना न जा सके। इनको बादशाहों के महलों से लेकर भिखारियों के छप्पर तक में जगह मिली है। इन कथा नायकों में शायद ही कोई ऐसा हो, जिसके गन्तव्य स्थान तक पेरेटी न पहुँची हो। यही कारण है कि मैंने पेरेटी की कथा को ही चुना है।

जन-कथा कथा-साहित्य के एक अंश को ही प्रगट करती है न कि सम्पूर्ण कथा साहित्य को। पंचतंत्र के अतिरिक्त अन्य संग्रह भी थे, जिन्होंने

भारत से यूरोप की यात्रा की। उनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण है 'बुक आव द सेवेन वाइज मास्टर्स' जिसे हम सिन्दबाद की पुस्तक कहते हैं, जिसका पूरा इतिहास सिगनोर कम्पैरेटी ने विद्वत्ता पूर्ण ढंग से लिखा है।

इन कहानियों को हम एक अति सुखद राजपथ की संज्ञा दे सकते हैं; जिन पर चल कर भारतीय बुद्धि तथा विद्या यूरोपीय देशों में आयी है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य पथ भी हैं, जिन्हें हम तुलनात्मक रूप से पग-डंडियों की संज्ञा दे सकते हैं और जिनसे अकेली कथाएँ, कहावतें, उपमाएँ एवं रूपक इत्यादि हमारे यूरोप की भूमि पर भारत से, पर्सीयोलिस से, दमिश्क से और बगदाद से आये हैं। हम पहले ही कह चुके हैं कि किस प्रकार अरब की विद्वत्ता स्पेन मे प्रविष्ट हुई। धर्म युद्धों के समय पूर्वीय एवं पश्चिमीय विचारों का खुलकर आदान-प्रदान हुआ। रूस पर मंगोलियनो के आक्रमण से भी ज्ञान के संचार मे कम सहायता नहीं मिली है।

इतने के बावजूद भी कम लोग जानते हैं कि पूर्वीय कथाओं को यूरोप में लाये एवं प्रचार करने का श्रेय एक ईसाई फादर को है। खलीफा अलमंसूर के दरबार मे एक ईसाई रहते थे, जिनका नाम था सर्जिअस और जो बहुत दिनों तक खलीफा के कोषाध्यक्ष रहे। उनके एक पुत्र था, जिसे यथा-सम्भव सर्वोच्च शिक्षा उन्होंने दी थी। कास्भास नामक एक इटैलियन उसके गुरु थे, जिन्हें मुसलमान लुटेरों ने गुलाम बनाकर बगदाद में बेच दिया था। सर्जिअस की मृत्यु के बाद उनका पुत्र उत्तराधिकारी हुआ। उक्त इटैलियन साधु का उस लड़के पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि शीघ्र ही गृह-त्यागी होने की इच्छा करने लगा। उसकी इच्छा हुई कि सब कुछ छोड़-छाड़ कर वह अध्ययन, ध्यान, आराधन एवं अन्य पवित्र कार्यों में लग जाय। जेरुसलम के समीप सेंट साबा के मठ में रह कर उसने शुद्ध सनातन धर्म पर महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। फिर तो पूर्वीय चर्च का वह सर्वप्रमुख विद्वान माना जाने लगा। आज भी पूर्वीय एवम् पश्चिमीय चर्चों में उसे वही सम्मान प्राप्त है। उसका नाम था जोनस। दमिश्क में पैदा होने से लोग उसे जोनस दमिश्कनस कहने लगे थे। उसे अरबी एवम् फारसी का ज्ञान तो रहा ही होगा, ग्रीक भाषा में भी उसके ज्ञानाधिक्य के कारण लोग उसे क्रांइसोर्होआस (स्वर्ण-प्रवाह) कहने लगे थे। वह पवित्र मूर्तियों के संरक्षक नाम से प्रसिद्ध हुआ और ७२६ ई० में उसने शाहंशाह लिथोइसौरियन का कड़ा विरोध किया। अब उसकी जीवन-गाथाओं में से वास्तविक को कपोल कल्पित से अलग करना असम्भव-सा हो रहा है, किन्तु

इतना तो सत्य ही है कि उसे खलीफा के दर्बार में सम्मान-प्रद पद मिला था और उसने थियोलॉजी पर उत्तमोत्तम ग्रंथ लिखे थे।

जिन कृतियों का उसे कर्ता कहा जाता है, उनमें से एक कहानी है बरलाम एवम् जोजफ की। इसके बारे में भी लोगों में पर्याप्त तर्क-वितर्क हुआ है कि यह कृति उसकी है या नहीं। यद्यपि हमारे कार्य पर इस बात का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता कि यह उसकी कृति है या नहीं, फिर भी मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि इस कृति को किसी अन्य लेखक का कार्य बताने वालों के तर्कों में इतना बल नहीं है कि हम उन पर कोई राय कायम कर सकें।

उस समय के जेसुइट पादरियों को उस किताब के कुछ अंश रुचिकर नहीं हुए, क्योंकि यह एक धार्मिक उपन्यास था। उन्होंने इस पुस्तक के एक अंश की ओर संकेत किया, जिसमें कहा गया है कि होली घोस्ट की उत्पत्ति फादर तथा सन (Son) से हुई है। यह बात पूर्वी चर्च अधिकारियों के मत के विरुद्ध थी। अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि उक्त अंश क्षेपक है, फिर भी हमें ध्यान रखना चाहिये कि फादर तथा सन से घोस्ट की उत्पत्ति की बात एक शती बाद की है। चूंकि लेखक के अनुसार बरलाम तथा जोजफ क्रिश्चियानिटी के प्रारम्भिक वर्षों में हुए थे, इसलिये भी लेखक के विरुद्ध कही गयी बातों का कोई औचित्य नहीं है। यदि उसने मुसलमान धर्म का जिक्र कर दिया होता तो उसकी कहानी का सारा कथानक ही स्वयम् अपना विरोधी हो जाता। उसकी एक और कृति है, जिसमें उसने मुसलमान एवम् ईसाई मजहबों की खुल कर व्याख्या की है। उसमें मूर्ति पूजा की चर्चा एकाधिक बार आयी है। जो इस बात को प्रमाणित करती है कि वे बातें जोनस दमिश्केनस के काफी पहले लिखी गयी रही होंगी। बरलाम एवम् जोजफ के लेखक ने उन्हीं लेखकों का उद्धरण दिया है, जिनका उद्धरण जोनस दमिश्केनस ने बार-बार दिया है। यदि दोनों के लेखक एक ही न होते तो एक की कृति में दूसरे के प्रति आभार अवश्य प्रगट किया गया होता।

बरलाम एवं जोजफ की कथा थोड़े से शब्दों में कही जा सकती है:—'भारत का एक राजा ईसाइयों का विरोधी था। उसके एक ही पुत्र था। ज्योतिषियों ने भविष्य वाणी की कि वह किसी नये धर्म को मानेगा। अतः राजा ने पूरी कोशिश की, कि राजकुमार को सांसारिक दुःखों का पता ही न चले। उसे सदा आमोद-प्रमोदों से घिरा हुआ रक्खा गया। किसी प्रकार एक ईसाई साधु उसके यहां पहुँच गया और उसने राजकुमार को ईसाइ धर्म के सिद्धांतों से परिचित किया। राजकुमार केवल ईसाई धर्म को स्वीकार ही नहीं करता, वरन् वह सारी सांसारिक सम्पत्ति को त्यक्त करने का इरादा

कर लेता है। अपने पिता एवं अन्य दरबारियों को ईसाई मजहब में दीक्षित करके वह अपने गुरु के साथ चल देता है।

पुस्तक का मुख्य उद्देश्य मात्र इतना ही है कि इसमें संक्षेपतः ईसाई मजहब की सारी बातें आ जायँ। इस पुस्तक में धर्मशास्त्र की तुलनात्मक विवेचना भी है, जिसमें उस समय में प्रचलित सभी मजहबों की चर्चा की गयी है, जैसे—कैल्डियन, ईजिप्शियन, ग्रीक, यहूदी तथा क्रिश्चियन। इस पुस्तक में जान डाल दी है अनेक कथाओं ने, जिनका इस पुस्तक में बाहुल्य है। उनमें से बहुतों का मूल भारतीय है, यह बात प्रमाणित हो चुकी है। मैं केवल एक कथा की चर्चा करूँगा, जो संसार के प्रत्येक साहित्य में स्थान पा चुकी है:—

'एक व्यक्ति को यूनीकॉर्न[1] खदेड़ता है। भागने के क्रम में वह एक गढ़े में गिर पड़ता है। गढ़े की एक दीवाल पर एक वृक्ष उगा हुआ था, जो उसकी पकड़ में आ गया। अपने पैरों को खूब जमा करके उसने अपने को पूर्ण सुरक्षित समझा। उसी समय उसकी दृष्टि दो चूहों पर पड़ी जो (एक काला एक सफेद चूहा था) उस पेड़ की जड़ को धीरे-धीरे कुतर रहे थे। उधर से घबरा कर जब उसने नीचे की ओर देखा तो पाया कि दीर्घकाय अजगर मुँह खोले पड़ा था। पैरों के पास दृष्टि गयी तो सांपों के चार सर दिखलायी पड़े। घबराकर उसने फिर ऊपर को दृष्टि फेरी तो उसने देखा कि बूँद-बूँद करके शहद टपक रही थी। उन बूँदों से तृप्ति पाने का कोई आसरा न था, फिर भी उसने उन बूँदों को मुँह में लेना शुरू कर दिया।'[2]

इस कथा को स्पष्ट करने की शायद ही आवश्यकता पड़े। यूनीकार्न मृत्यु है, गढ़ा यह संसार है, हाथ में आया वृक्ष ही जीवन है, जिसे दिन और रात रूपी चूहे निरन्तर कुतरते रहते हैं; चारों सांपों के सर शरीर के चारों[3] तत्व हैं, जिनसे संसार की रचना हुई है और अजगर ही नरक है, जो मानव को आत्मसात् कर लेने को निरन्तर तत्पर है। इतनी भय-प्रद वस्तुओं से घिरा जीव क्षुद्र सांसारिक भोगों के सामने सब कुछ भूला रहता है। कहने की आवश्यकता नहीं कि बूँद बूँद गिरने वाली शहद ही क्षुद्र सांसारिक भोग है, जिनसे तृप्त होने की तनिक भी आशा मानव को नहीं है।

---

१ घोड़े से मिलता जुलता एक कल्पित पशु जिसके केवल एक ही सींग माथे पर होती है। —अनुवादक

२ बेनेफे के पंचतंत्र से उद्धृत

३ प्राचीन योरपीय विचारक संसार को चार तत्व से ही बना मानते थे।
'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा। पंच रचित यह अधम शरीरा' में से वे आकाश तत्व को नहीं जान पाये थे। —अनुवादक

इससे भी मजे की बात तो यह है कि बरलाम ऐंड जोज़फ की इस कथा का नायक भी भारतीय ही है। ललित विस्तार नामक ग्रंथ में बुद्ध का जो कल्पित जीवन चरित्र दिया गया है। उसी ग्रंथ की एक कथा है कि, "एक राजा के एक राजकुमार था। ज्योतिषियों का कहना था कि या तो वह अति शक्तिमान राजा बनेगा या संसार त्यागी हो जायगा। पिता उसे राजा ही बनाना चाहते थे। उसके बड़े होने के पूर्व ही राजा ने उसे नाना प्रकार के आमोद-प्रमोदों से घेर दिया, ताकि उसे सांसारिक दुखों का पता ही न लगे। एक दिन राजकुमार रथ पर बाहर निकले ही और इस प्रकार तीन बार के बहिर्गमन में उन्होंने जो कुछ देखा उसका विवरण मैं ललित विस्तार के अनुवाद रूप में ही दूँगा :—

एक दिन जब राजकुमार पूर्वी फाटक से बाहर निकले तो उन्होंने एक जर्जर वृद्ध पुरुष को देखा। उन्होंने सारथी से पूछा, "यह कौन सा आदमी है? क्या यह इसी प्रकार जन्मा ही है या इसे कोई व्याधि है?" सारथी ने उत्तर दिया, "उसे बुढ़ापे ने धर दबाया है, अब उसके सम्बन्धी उसे प्यार नहीं करते, मृत वृक्ष के समान यह भी परिजन-त्यक्त है, परन्तु ऐसी गति तो सबकी ही होती है, श्रीमान्।"

राज कुमार ने दुःख से कहा, "क्या यौवन इतना भंगुर है, क्या बुढ़ापा सबको सताता है और क्या तब भी मानव यौवन के आनन्दों में लीन रहता है।"

'दूसरी बार राजकुमार दक्षिणी द्वार से बाहर निकले ही थे कि उन्होंने एक रोग जर्जर व्यक्ति को देखा, जिसे श्वांस भी कठिनाई से आ रही थी। वह मृतप्राय ही था। सारथी से पूछने पर उसने बताया कि ऐसी सम्भावना तो सबके साथ लगी हुई है। राजकुमार ने सोचा कि इतने दुःख के बीच मानव आनन्द कैसे मनाता रहता है। वे महल को लौट गये।'

'तीसरी बार सारथी उन्हें पश्चिमी फाटक से ले गया। सौभाग्य या दुर्भाग्य कि सड़क के किनारे ही एक मुर्दा उन्हें दिखायी पड़ा जो आपाद मस्तक श्वेत वस्त्र से ढंका हुआ था। उसके हित, मित चतुर्दिक बैठे रो रहे थे। राजकुमार के कुतूहल भरे प्रश्न पर सारथी ने उत्तर दिया "महाराज, ऐसा तो सब के साथ ही होता है। हमको, आपको, सबको एक दिन इसी भांति मरना है।" राजकुमार सोचने लगे, 'यौवन भी क्षणस्थायी है, स्वास्थ्य भी क्षणस्थायी ही है, जीवन कब मृत्यु के गले लग जायगा, इसका भी ठीक नहीं है, तब फिर यह भोग, विलास, आनन्द-उल्लास क्यों?'

'अन्तिम बार वे पूर्वी फाटक से बाहर निकले ही थे कि उन्होंने एक साधु को देखा जो श्वेत वस्त्र पहने एवं हाथ में भिक्षा-पात्र लिये था। राजकुमार ने पूछा, "कौन है यह व्यक्ति?"

'सारथी ने उत्तर दिया, ये भिक्षु हैं। इन्होंने भोग का त्याग किया है और कामनाओं का हनन करके पवित्र जीवन बिता रहे हैं। वे अपने को जीतने के प्रयत्न में है।"

राजकुमार ने कहा, "यह तो सर्वोत्तम है। बुद्धिमानों ने त्यागियों की प्रशंसा की है। अब यही मेरा और संसार का शरणस्थल हो।" इतना कह कर राजकुमार रथ को नगर की ओर मोड़ दिया।

उपरोक्त कथा की तुलना बुद्ध के जीवन से करने पर हम देखते हैं कि दोनों के ही नायकों का प्रारम्भिक जीवन समान है। यह समानता इतनी अधिक है कि दोनों कथाओं को पढ़ने के बाद हर व्यक्ति यह मानने को बाध्य हो जायगा कि इनमें से एक कथा दूसरे पर आधारित है। फाहियान ने उन स्तम्भों को स्वयम् देखा था जो इन यात्राओं की स्मृति में वहाँ बनाये गये थे, अतः सम्भावना इसी बात की है कि ग्रीक फादर ने अपनी कथा का मूल बौद्धों के धार्मिक साहित्य से लिया होगा। यदि अधिक विस्तार का भय न होता तो मैं आप लोगों को बताता कि किस प्रकार बौद्धों का छन्दक ही ग्रीक भाषा का जार्डन है। प्रोफेसर बेनेफे ने सिद्ध किया है कि थिउडस बौद्ध कथा का देवदत्त ही है।

उपरोक्त स्थिति में यदि जोनस दमिश्केनस हमारे सामने केवल नामों के परिवर्तन के साथ बौद्धधर्म के प्रवर्तक की ही कथा कहता है, और यदि उसकी कथा ललित विस्तार नामक कथा-संग्रह से ही ली गयी है तो कहने को शेष ही क्या रह गया है? हम इतना ही तो कह सकते हैं कि जिस पंचतंत्र का ब्राह्मण लॉ फॉण्टेन के हाथों पेरेटी के रूप में परिवर्तित हो गया है, उसी प्रकार सेंट जोजफ बौद्ध कथाओं के महात्मा बुद्ध ही हैं। इस मान्यता का परिणाम यह होगा कि हमें यह भी मानना पड़ेगा कि संसार के इतने अधिक धार्मिक सम्प्रदायों में बौद्ध सम्प्रदाय ही हमारे ईसाई मजहब के सर्वथा समीप है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि हमारे ईसाई मजहब ने उस बौद्ध सम्प्रदाय को समादृत किया है, जिसे आज भी साढ़े चार करोड़ व्यक्ति मानते हैं। हम संतों की पवित्रता के बारे में चाहे जो कुछ कहें, परन्तु जिन्हें बुद्ध के बारे में तनिक भी शंका हो, उन्हें चाहिये कि बौद्ध ग्रंथों में दी हुई बुद्ध की जीवन-गाथा को वे पढ़ें। वस्तुतः यदि उनका जीवन वैसा ही था, जैसा कि इन ग्रंथों में

वर्णित है तो शायद ही कोई सन्त उनकी समानता कर सके और किसी भी ग्रीक या रोमन चर्च वाले का यह पवित्र कर्तव्य हो जाता है कि राजकुमार, सन्त एवं गृहत्यागी बुद्ध का वैसा ही सम्मान करें, जैसा कि सेंट जोसफ का करते हैं।

इस प्रसंग में भी, अन्य प्रसंगों की तरह इतिहास कल्पना से अधिक विचित्र जान पड़ता है और जिसे हम संयोग कहते हैं, उसी ने अनेक स्थितियों की तरह इस स्थिति में भी संसार की कृतघ्नता, संसार के अन्याय की पर्याप्त रूपेण क्षतिपूर्ति कर दी है।

रोम और यूनान की लोक कथायें

पण्डोरा की पिटारी

प्राचीन यूनानी देव अपनी शक्ति के प्रति बड़े सचेष्ट थे। वे यह जानते थे कि यदि उनके रहस्य को मानव जान पाया तो वह उनके शासन को अपने कन्धों से उतार फेंकेगा। परन्तु सबसे अधिक भय उन्हें टीरन दैत्यों से था। यह दैत्य छः भाई और छः बहनों का एक परिवार था। यह स्वर्ग और पृथ्वी की सन्तानें थीं परन्तु देवों ने स्वर्ग पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। परिणाम स्वरूप स्वर्ग में स्थान पाने के लिए इन्होंने देवों से भयानक संघर्ष किया था परन्तु देवों के सर्व शक्तिशाली जुपिटर ने उनसे घनघोर लोहा लिया और दैत्यों को पराजित हो धरती छोड़, पाताल लोक जाने को विवश होना पड़ा।

इसी टीरन वंश में एक हुआ प्रोमेथुअस। यद्यपि यह अपने पूर्वजों से अधिक शक्ति नहीं पा सका था परन्तु फिर भी उसने दैवीशक्ति पाने का प्रयास किया।

प्रोमेथुअस पृथ्वी के मानवों का मित्र था। उसने मानवों में जागृति फैलाने का प्रयास किया। मनुष्यों को पढ़ा-लिखा वह उन्हें शक्ति सम्पन्न बनाने लगा इससे बुद्धि के देवता मिनर्वा को संतोष हुआ। उसने प्रोमेथुअस पर प्रसन्न होकर उससे कहा—तुम मानवों की बुद्धि का विकास करके मेरी सहायता कर रहे हो। इसके लिये तुम्हे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे स्वर्ग से मंगवा दूँ।

'जब मैंने स्वर्ग देखा ही नहीं तो क्या जानूँ कि वहाँ की कौन सी वस्तु मेरी सहायता कर सकती है'—प्रोमेथुअस बोला।

'तो चलो तुम्हें स्वर्ग ही दिखा दूँ'—मिनर्वा ने कहा।

और वह मिनर्वा के साथ स्वर्ग भ्रमण करने निकला। प्रोमेथुअस ने स्वर्ग में आग देखी और आते समय थोड़ी सी आग चुराता आया और मानव कल्याण के लिए उसने उस अग्नि को मनुष्यों को भेंट कर दिया। इस प्रकार आग इस पृथ्वी पर आई।

अब उसके निर्देश पर मर्त्यलोक के मनुष्यों ने आग से भोजन पकाना, बर्तन बनाना इत्यादि सीख लिया। देवों को पहले ही उससे डर था, आग

चुरा कर लाने के कारण वह उनका कोप-भाजन बना। उन्हें इस बात का भय हुआ की कहीं प्रोमेथुअस मनुष्यों को देवताओं के खिलाफ न बरगला ले। परिणामतः देवों का यह भी विचार था कि मनुष्यों को भी किसी ऐसे झगड़े में डाल दिया जाय जिससे वे देवों की शक्ति के आगे अपना सिर न उठा पायें। परिणामतः उन्होंने मर्त्यलोक में रोग-शोक और पीड़ा भेजा। इससे पूर्व मनुष्यों को शारीरिक व्याधियाँ न थीं, थोड़ा खाना, थोड़ा काम और अधिक आराम प्राप्त कर उन्होंने अपने शरीरों को खूब पाला था। बस उसी का समाप्त कर देव प्रोमेथुअस के किए धरे पर पानी फेरना चाहते थे।

जुपिटर ने आग और धातु के देव से एक नारी मूर्ति का निर्माण करवाया। उसको आकर्षक बनाने के लिए सभी देवों ने अपने कुछ न कुछ गुण उसको अर्पित किए और जब वह मानवों को आकर्षित करने योग्य हो गई तो मरकरी उसे मर्त्यलोक में ले गया। उस स्त्री का नाम पण्डोरा था। उसके साथ ही एक बक्से में बंद वे सब उपद्रव थे जो देवों ने मानवों को दुख देने के निमित्त पृथ्वी पर भेजे थे। सबसे पहले मरकरी पण्डोरा के साथ प्रोमेथुअस के घर गया। परन्तु प्रोमेथुअस समझ गया कि दाल में काला है। उसने पण्डोर की ओर देखा तक नहीं। मरकरी निराश नहीं हुआ। वह सुन्दरी को लेकर उसके भाई एपिमेथुअस के पास पहुँचा जिसने प्रोमेथुअस के मना करने के पश्चात् भी पण्डोरा पर मुग्ध हो उसे ग्रहण कर लिया। मरकरी जाते समय उन्हें सावधान कर दिया कि उक्त संदूक खोला न जाय।

संदूक में क्या है? जानने की प्रबल इच्छा इन दोनों के मन में जाग उठी। पण्डोरा ने उसे खोलना चाहा परन्तु एपिमेथुअस मरकरी की बात से भयभीत हो उसे ऐसा करने से रोका। परन्तु पण्डोरा की उत्सुकता बढ़ती गई। एक दिन जब एपिमेथुअस उसके शृंगार के लिये फूल चुनने गया हुआ था वह संदूक के पास जा खड़ी हुई। उसे ऐसा लगा जैसे संदूक के भीतर से एक आवाज आई "पण्डोरा संदूक खोलकर मुझे स्वतन्त्र करो। तुम्हें ऐसी चीजें देखने को मिलेंगी जो तुम कभी भी नहीं देख सकतीं।"

पण्डोरा ने संदूक खोल दिया और चीख पड़ी। उसमें से पंखवाले डरावने शैतान बच्चे निकल पड़े। उनकी डंक बिच्छू के समान वेदना देती थीं। उसकी चीख सुनकर एपिमेथुअस दौड़ा आया और संदूक बंद कर दिया परन्तु तब तक तो सभी शैतान बच्चे बाहर निकल चुके थे। मात्र एक छोटा सा सुन्दर जीव पेंदी में बच गया था। शैतानों के डंक से पीड़ित दोनों कराह उठे। यही वह पिटारी थी जिन्हें देवता मनुष्यों को प्रताड़ित करने के लिये भेजना चाहते थे और

रोम और यूनान की लोक कथायें

पण्डोरा की पिटारी

प्राचीन यूनानी देव अपनी शक्ति के प्रति बड़े सचेष्ट थे। वे यह जानते थे कि यदि उनके रहस्य को मानव जान पाया तो वह उनके शासन को अपने कन्धों से उतार फेंकेगा। परन्तु सबसे अधिक भय उन्हें टीरन दैत्यों से था। यह दैत्य छः भाई और छः बहनों का एक परिवार था। यह स्वर्ग और पृथ्वी की सन्तानें थीं परन्तु देवों ने स्वर्ग पर अपना आधिपत्य जमा लिया था। परिणाम स्वरूप स्वर्ग में स्थान पाने के लिए इन्होंने देवों से भयानक संघर्ष किया था परन्तु देवों के सर्व शक्तिशाली जुपिटर ने उनसे घनघोर लोहा लिया और दैत्यों को पराजित हो धरती छोड़, पाताल लोक जाने को विवश होना पड़ा।

इसी टीरन वंश में एक हुआ प्रोमेथुअस। यद्यपि यह अपने पूर्वजों से अधिक शक्ति नहीं पा सका था परन्तु फिर भी उसने दैवीशक्ति पाने का प्रयास किया।

प्रोमेथुअस पृथ्वी के मानवों का मित्र था। उसने मानवों में जागृति फैलाने का प्रयास किया। मनुष्यों को पढ़ा-लिखा वह उन्हें शक्ति सम्पन्न बनाने लगा इससे बुद्धि के देवता मिनर्वा को संतोष हुआ। उसने प्रोमेथुअस पर प्रसन्न होकर उससे कहा—तुम मानवों की बुद्धि का विकास करके मेरी सहायता कर रहे हो। इसके लिये तुम्हे जिस वस्तु की आवश्यकता हो उसे स्वर्ग से मंगवा दूँ।

'जब मैने स्वर्ग देखा ही नहीं तो क्या जानूँ कि वहाँ की कौन सी वस्तु मेरी सहायता कर सकती है'—प्रोमेथुअस बोला।

'तो चलो तुम्हें स्वर्ग ही दिखा दूँ'—मिनर्वा ने कहा।

और वह मिनर्वा के साथ स्वर्ग भ्रमण करने निकला। प्रोमेथुअस ने स्वर्ग में आग देखी और आते समय थोड़ी सी आग चुराता आया और मानव कल्याण के लिए उसने उस अग्नि को मनुष्यों को भेंट कर दिया। इस प्रकार आग इस पृथ्वी पर आई।

अब उसके निर्देश पर मर्त्यलोक के मनुष्यों ने आग से भोजन पकाना, बर्तन बनाना इत्यादि सीख लिया। देवों को पहले ही उससे डर था, आग

चुरा कर लाने के कारण वह उनका कोप-भाजन बना। उन्हें इस बात का भय हुआ की कहीं प्रोमेथुअस मनुष्यों को देवताओं के खिलाफ न बरगला ले। परिणामतः देवों का यह भी विचार था कि मनुष्यों को भी किसी ऐसे झगड़े में डाल दिया जाय जिससें वे देवों की शक्ति के आगे अपना सिर न उठा पायें। परिणामतः उन्होंने मर्त्यलोक में रोग-शोक और पीड़ा भेजा। इससे पूर्व मनुष्यों को शारीरिक व्याधियाँ न थीं, थोड़ा खाना, थोड़ा काम और अधिक आराम प्राप्त कर उन्होंने अपने शरीरों को खूब पाला था। बस उसी को समाप्त कर देव प्रोमेथुअस के किए धरे पर पानी फेरना चाहते थे।

जुपिटर ने आग और धातु के देव से एक नारी मूर्ति का निर्माण करवाया। उसको आकर्षक बनाने के लिए सभी देवों ने अपने कुछ न कुछ गुण उसको अर्पित किए और जब वह मानवों को आकर्षित करने योग्य हो गई तो मरकरी उसे मर्त्यलोक में ले गया। उस स्त्री का नाम पण्डोरा था। उसके साथ ही एक बक्से में बंद वे सब उपद्रव थे जो देवों ने मानवों को दुख देने के निमित्त पृथ्वी पर भेजे थे। सबसे पहले मरकरी पण्डोरा के साथ प्रोमेथुअस के घर गया। परन्तु प्रोमेथुअस समझ गया कि दाल में काला है। उसने पण्डोर की ओर देखा तक नहीं। मरकरी निराश नहीं हुआ। वह सुन्दरी को लेकर उसके भाई एपिमेथुअस के पास पहुँचा जिसने प्रोमेथुअस के मना करने के पश्चात् भी पण्डोरा पर मुग्ध हो उसे ग्रहण कर लिया। मरकरी जाते समय उन्हें सावधान कर दिया कि उक्त संदूक खोला न जाय।

संदूक में क्या है? जानने की प्रबल इच्छा इन दोनों के मन में जाग उठी। पण्डोरा ने उसे खोलना चाहा परन्तु एपिमेथुअस मरकरी की बात से भयभीत हो उसे ऐसा करने से रोका। परन्तु पण्डोरा की उत्सुकता बढ़ती गई। एक दिन जब एपिमेथुअस उसके शृंगार के लिये फूल चुनने गया हुआ था वह संदूक के पास जा खड़ी हुई। उसे ऐसा लगा जैसे संदूक के भीतर से एक आवाज आई "पण्डोरा संदूक खोलकर मुझे स्वतन्त्र करो। तुम्हें ऐसी चीजें देखने को मिलेंगी जो तुम कभी भी नहीं देख सकतीं।"

पण्डोरा ने संदूक खोल दिया और चीख पड़ी। उसमें से पंखवाले डरावने शैतान बच्चे निकल पड़े। उनकी डंक बिच्छू के समान वेदना देती थीं। उसकी चीख सुनकर एपिमेथुअस दौड़ा आया और संदूक बंद कर दिया परन्तु तब तक तो सभी शैतान बच्चे बाहर निकल चुके थे। मात्र एक छोटा सा सुन्दर जीव पेंदी में बच गया था। शैतानों के डंक से पीड़ित दोनों कराह उठे। यही वह पिटारी थी जिन्हें देवता मनुष्यों को प्रताड़ित करने के लिये भेजना चाहते थे और

जिसका सूत्रधार पण्डोरा बनी। इसके पहले मानव उन उपद्रवों सेह वतंत्र था।

अपनी नादानी का परिणाम देख पण्डोरा रोने लगी; तभी संदूक में से एक आवाज आई "मुझे स्वतंत्र कर दो, मैं इन उपद्रवों को सहने में मृत्युलोक वासियों को सहायता दूँगी। मेरा नाम आशा है। क्रोध में देवताओं ने शैतानों को भेजा और मैं भी आ गई। अब मैं हमेशा मानवों के साथ रहूँगी।

तभी से मानवों के हृदय में आशा ने स्थान पाया।

इन दोनों की सूत्रधार थी पण्डोरा और उसका संदूक।

तभी से संसार में व्याधियाँ व्याप्त हुईं।

प्रोसपरिना

ओलिम्पस देवों में, यूनान निवासी बनस्पति की देवी 'सीरीज' का सर्वाधिक सम्मान करते थे। प्रोसपरिना इसी देवी की पुत्री थी, जिसे उसने बड़े लाड़-प्यार से पाला व शिक्षा दी थीं। दोनों दुखी थीं। कारण फसल की रक्षा के लिये सीरीज को अक्सर बाहर जाना पड़ता था। उसे अपनी पुत्री की विलगता बहुत पीड़ा देती थी। उसे हमेशा शंका रहती कि उसकी अनुपस्थिति में उसकी पुत्री पर विपत्ति न आ पड़े। परिणामतः जाते समय वह उसे गुफा में बंद कर जाती थी। पुत्री सीरीज का वियोग अपनी सखी-सहेलियों के कारण जल्द भूल जाती थी। एक बार प्रोसपरिना के निवेदन पर सीरीज उसे बंद किये बिना ही चली गई।

प्रोसपरिना के दिन उछल-कूद और फूल चुनने में बीतने लगे। स्वर्ग देवता जूपिटर तथा समुद्रदेव नेपच्यून का भाई, धरती की संपूर्ण संपत्ति का स्वामी, प्रचुर संपत्ति एवं शक्तिशाली, पाताल लोक का राजा प्लूटो उन दिनों बड़ा उदास सा था। यह मृत आत्माओं का शासक था। इसके राज की सीमा पर खूँखार नदी स्पइक्स (बैतरणी) बहती थी। इसे पार कर आत्मायें अपने अनंत निवास करती थी। यहीं रौरव नरक (एलिसियम) भी था जिसमें पापी आत्माओं को डाला जाता था। उसके महल को पार करने पर स्वर्ग क्षेत्र था, जिसमें पुनीत आत्माओं का निवास था। प्लूटों का मन इन पुनीत आत्माओं के साथ भी न लगता। दरअसल उसकी उदासी का कारण, एक सुन्दर पटरानी की कामना थी। उसने कई विवाह किये परन्तु उसका मन न लगा। अन्त में उसके भाई जुपिटर को

उसके ऊपर दया आई और उसने प्लूटों की शादी प्रोसपरिना से करवा देने का वादा किया और शर्त यह रक्खी कि प्लूटो इस विवाह का सीरीज को पता न लगने देगा, कारण वह राजी नहीं होगी। इसी समय देवताओं का दूत (हमारे नारद) प्लूटो के पास आया और विवाह का उपाय बना कर चला गया।

प्लूटो प्रोसपरिना को प्राप्त करने हेतु अपने रथ से मृत्युलोक की ओर चला। प्रोसपरिना प्रतिदिन के समान सखियों के साथ व्यस्त थी। अपनी धुन में वह अपनी सखियों का साथ छोड़ बैठी। अचानक उसने एक अति मनोहर पुष्प देखा। उसकी इच्छा हुई कि वह फूल को तोड़ ले, परन्तु फूल के डंठले इतनी मजबूत थीं कि उसे फूल प्राप्त करने के लिये फूल के पौधे को जड़ से ही उखाड़ कर प्राप्त करने को हो गया। अन्त में उसने वही किया, परन्तु उसकी जड़ में हुई एक लम्बी सूराख देख वह अचम्भित हो उठी। बढ़ती उत्तेजना से उसने पुनः देखा वह छिद्र क्रमशः चौड़ा होता गया। अन्त में वह इतना चौड़ा हो गया कि प्लूटो का स्वर्ण रथ उसमें से बाहर आ गया। प्लूटो की भयानक सूरत देख वह भयभीत हो उठी। प्लूटो के लाख मनाने, लालच देने पर भी प्रोसपरिना उसके साथ रहने को तत्पर न हुई। अन्त में उसके ऊपर तरस खाकर वह फूल देने उसके पास गई, तभी प्लूटो ने उसे निर्दयता से (रावण की तरह) अपने रथ में डाल लिया और आगे बढ़ गया। इसी उपाय से प्रोसपरिना उसकी पटरानी बनी।

प्लूटो उसे प्यार से रखता। उसे पूरी स्वतन्त्रता देता तथा नाना प्रकार के स्वादिष्ट व्यंजन खाने को देता; परन्तु प्रोसपरिना मृत्युलोक के साधारण भोजन को ही चाहती थी।

सीरीज वापस लौटी और पुत्री को न पा बहुत दुखी हुई। अपोलो से उसे पता लगा कि प्लूटो ने अपने साथ रख छोड़ा है। उसने जुपिटर से प्रार्थना की, जो व्यर्थ गई।

बेटी के शोक में सीरीज भटकने लगी। घूमते-घूमते वह इल्युशिस के राज्य में जा पहुँची। राजा के पुत्र डेमोफून में उसका मन रम गया। वह उससे इतनी हिली कि उसको इच्छा हुई, डेमोफून को अमर बना दे परन्तु उसकी मां के कारण वह ऐसा न कर सको। परन्तु जब राजा रानी को सीरीज की असलियत मालूम हुई तो उन्होंने उसके लिये कैलिकोरस पहाड़ पर मन्दिर बनवा दिया जहाँ वह आराम से रहने लगी।

परिणाम स्वरूप बनस्पतियाँ नहीं उगीं और लोग भूखों मरने लगे। सीरीज के सामने सब अपने दुखड़े रोते परंतु वह अपनी जिद पर अड़ी रही "जब मेरी बेटी मुझे मिलेगी तभी मैं यहाँ से हटूँगी।"

अब जुपिटर परीशान हुआ। मृत्युलोक की भयानक भुखमरी रोकने के लिये मरकरी पुनः प्लूटो के पास गया और उसने प्लूटो से कहा, यदि प्रोसपरिना ने पाताललोक में भोजन न किया हो तो उसे उसकी माँ के पास भेज दिया जाय। प्लूटो जानता था कि यदि प्रोसपरिना उसके यहाँ भोजन कर ले तो जुपिटर उसे चाहकर भी मृत्युलोक नहीं भेज सकता। वह प्रोसपरिना से खाने का बराबर आग्रह करता। अन्त में उसकी इच्छानुसार उसने मृत्युलोक से एक अनार मँगाया। अनार भी सूख गया था, कारण सीरीज ने रक्षा बन्द कर दी थी। प्रोसपरिना ने उस अनार का एक तिहाई भाग ही खाया था कि मरकरी उसे वापस ले जाने की आज्ञा लेकर आ गया।

वह अपनी माँ के पास आ गई परन्तु एक तिहाई अनार खाने के कारण उसे चार महीने प्लूटो की पटरानी बन कर रहना पड़ता और शेष आठ महीने अपनी माँ के पास।

कहानी का तात्पर्य बीज और धरती से है। आठ महीने बीज धरती और चार महीने पाताल में रहता है।

———

मिश्री कथाएँ

[१] होनी होगी ही !

धन धान्य, बल सब में समर्थ मिश्र का महान राजा ऐमेन होतप फराओ बहुत दुखी था। उसके दुख का बस एक कारण था और वह थी उसकी संतान-हीनता। सन्तान प्राप्ति के उसने सारे उपाय आजमाये परन्तु असफल रहा। एलाम के पण्डे की तावीज, अर्धरात्रि में हाहू देवता से प्राप्त कर्णपत्र, काष्ठ निर्मित अरब देश की अभिमंत्रित करताल जिससे निकली ध्वनि सुनते ही स्त्री गर्भ धारण कर लेती है, मोहनजोदड़ो से आये व्यापारियों द्वारा महादेव मंत्र से अभिमंत्रित मोतियों से जटित तावीज सब व्यर्थ गये। उसकी दशा इसी दु:ख में असामान्य सी हो जाती थी और परिणाम स्वरूप उसके पास रहने वाले नरों की जिन्दगी या मौत उसकी प्रतिक्षण बदलने वाली मनोदशा से प्रभावित होती थी।

एक दिन प्रातःकाल ही उठकर उसने अत्यन्त श्रद्धा भाव से देवों की अराधना की और मनोयोग से गद्‌गद हो पुत्र प्राप्ति की प्रार्थना की। उसकी अटल भक्ति से प्रभावित देवताओं का हृदय अन्त में पसीज ही गया और फराओं ने देखा सारा वातावरण असामान्य सा हो चला है, बिजली चमक रही है, बादलों का आवागमन तीव्र हो गया है—तभी उसने आकाश-वाणी सुनी :

'जा तुझ पर प्रसन्न हो देवों ने तुझे सन्तान सुख प्रदान किया !'

परिणाम स्वरूप शीघ्र ही उनकी प्रधान महिषी के पांव भारी हुये और समयोपरान्त उसने एक अत्यन्त सुन्दर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। साम्राज्य भर में खूब उत्सव मनाये गये, शराब की नदियाँ बह गईं, सुन्दरी साकी के चपल नयन शरों से घायल मद्यपों ने उनको प्यार कर करके अपने होश खो दिये।

सम्राट् ने ज्योतिषियों को बुलाकर राजकुमार की भाग्यरेखा पढ़ने को कहा। तभी अचानक वहाँ पर सातो हाथोर्स (भाग्य विधाता देवगण) आये और उन्होंने उसको बताया कि अत्यन्त शौर्यवान व वीर्यवान होने पर बालक की मृत्यु अचानक ही हो जायगी। उन्होंने यह भी बताया कि उसकी यह मौत कुत्ते, सांप या मगर के कारण होगी।

देवता तो अन्तर्ध्यान हो गये परन्तु फराओ को चिन्ता के मारे चैन नहीं पड़ता था। अन्त में उसने दूर जंगल में एक बहुत ऊँचा महल बनवाया जिसमें न तो सांप चढ़ सकता था, न कुत्ता और नदी दूर होने से मगर भी नहीं थे।

इस प्रकार दुनियाँ से दूर एकांत में वह कुमार बढ़ने लगा। जब वह बड़ा हुआ तो पशुमात्र से अनभिज्ञ था। देखने में वह अत्यन्त शक्तिवान, सुन्दर एवं फराओ का योग्य उत्तराधिकारी प्रतीत होता था। एक दिन उसने अपने ऊपरी खण्ड से देखा, एक आदमी के पदानुसरण करता एक छोटा सा पशु चला जा रहा था। उसने सेवक से पूछा 'यह क्या है?"

श्रीमंत इसे कुत्ता कहते हैं।

कुत्ता क्या?

'वही जो उस पुरुष के पीछे जा रहा है?'

राजकुमार को कुत्ता अत्यधिक पसन्द आया। उसने सेवक से एक कुत्ता लाने को कहा। जब सेवक ने एमेन को यह बात बताई तो उसने सोच-विचार के बाद एक विषहीन् छोटे से पिल्ले को पालने की अनुमति दे दी। राजकुमार बहुत खुश हुआ।

धीरे-धीरे वह एकान्त जीवन से ऊब गया। सेवक उसे बाहर नहीं जाने देते थे, अतएव वह उन्हें अक्सर पीट दिया करता था। इसी पिटाई से भीत दासों ने उसके एकान्त जीवन का कारण बताया। राजकुमार ने तुरन्त सम्राट को एक पत्र लिखा 'भविष्य वाणी झूठी तो न होगी, फिर मैं सारी उम्र कैदी सा क्यों रहूँ। मैं मगर, साँप और कुत्ते से अपनी रक्षा करता रहूँगा। मुझे देशाटन की अनुमति दी जाय।'

सम्राट् हैरान था पत्र पाकर परन्तु उसकी सत्यता से प्रभावित उसने राजकुमार को देशाटन की अनुमति दे ही दी। भी पालतू कुत्ते को साथ रखने का आदेश भी दिया। एक मंत्री राजकुमार को उस दिशा में छोड़ आया जहाँ पूर्णतः शान्ति थी।

अब राजकुमार था और दुनिया जो उसके लिये पूर्ण अपरिचित थी। उसने कुत्ते को ही अपना अगुआ बनाया और उसके पीछे-पीछे निकल पड़ा अनजानी राह पर, अनजाने देश की ओर। वातावरण अत्यन्त मनोहर था। धवल चाँदनी में नहाई धरती पर विहग वृन्दों का कलरव, वृक्षों के साये, और कोकिल की कूक ने राजकुमार को अनजानी उमंगों के वशीभूत कर दिया। अचानक उसे लगा जैसे कुछ जल में गिरा हो और

उसने देखा उसी ओर उसका कुत्ता भी भागता जा रहा है। जहाँ अभी अभी कुछ गिरा था उसी स्थान पर उसका कुत्ता भी जा गिरा और कुत्ते को बचाने के लिये वह भी नदी में जा कूदा। अभी किनारा थोड़ा दूर था कि उसे जल में कुछ हलचल सी नजर आई, मुड़ के जो देखा तो देखता ही रह गया। एक विकराल मगर उसी की ओर लपका चला आ रहा है। उसके भयानक जबड़े खुले हुये थे। वह प्राण रक्षा के लिये तेजी से तैरता कगार तक जा पहुँचा। ज्योंही उसने कगार पर चढ़ने का पांव रखना चाहा उसकी दृष्टि एक नागमणि पर पड़ी जिसे मुंह से उगल भयानक नाग वहीं चहलकदमी कर उसी का इन्तजार कर रहा था। आगे पीछे दोनों ओर मौत को साक्षात् देख उस महान साम्राज्य के उत्तराधिकारी के मुँह से एक भयानक चीख निकल गई और वह वहीं बेहोश हो पड़ रहा।

जब वह पुनः दुनियाँ में लौटा तो प्रातःकालीन सूर्य अपनी लालिमा डाल रहा था। स्वयम् को बालू पर पड़ा पाकर उसे आश्चर्य होने लगा। धीरे धीरे उसे स्मरण आया और वह भयभीत हो चारों ओर सकपका कर मगर और सांप को खोजने लगा। उन्हें कहीं न देख उसने आराम की सांस ली। वह पुनः आगे बढ़ा। शाम होते होते उसे किसी ओर से कुत्तों का भौंकना सुनाई पड़ा और उसने अन्दाज लगाया कि अवश्य ही अगल बगल कोई गाँव है, जहाँ से कुत्तों के भूकने की आवाज आ रही है। वह अपने कुत्ते के साथ उसी ओर बढ़ चला। रास्ते में उसने एक हिरण का शिकार कर उसे अपने कन्धे पर डाल लिया। जब वह गाँव की कोट के प्रवेष द्वार पर पहुँचा तो शाम हो रही थी, परिणाम स्वरूप द्वारपालों ने उसे साधारण आखेटक समझ अन्दर जाने में कुछ भी बाधा न डाली। वह थका-मांदा तो था ही जो कुछ भी मिला, खा-पीकर सो गया।

उसकी आँख सुबह जल्दी ही खुल गई। पास ही दो आदमियों की बातचीत हो रही थी। उनकी बातों से पता चला कि वह जिस नगर में था उसका नाम नाहरिना मतिन्ना था, उसी के सर्दार की अत्यन्त रूपवती कन्या एक पहाड़ी की चोटी पर बने एक मीनार पर रहती थी। बात करने वाले भी उच्च वर्गीय राजवंशी परिवार के लग रहे थे और उसी सर्दार की सुन्दरी कन्या को प्राप्त करने को कृति संकल्प थे। उत्सुकता पर वह काबू न पा सका और सराय के मालिक से उस सुन्दरी के बारे में पूछ बैठा। एक साधारण-सी वेश-भूषा वाले व्यक्ति से यह सुनकर सराय का मालिक हँस पड़ा और बोला 'क्यों क्या तुम्हें भी अपना जीवन दान देना है? अरे,

उसको पाना असंभव ही समझो। सात सौ हाथ ऊँची सीधी सपाट चट्टान पर बने सौ हाथ ऊँचे मीनार के ऊपरी खण्ड में वह रहती है। उसका कमरा अत्यन्त कीमती सामानों एवं माणिक मुक्ताओं से सज्जित है। उसमें बहत्तर खिड़कियाँ हैं। वह उसी से विवाह करेगी जो चढ़ कर उसके पास चला जाय।

राजकुमार ने मजाक किया कि सराय का मालिक भी किसी राजे-महाराजे से कम नहीं होता; अतः उसे भी सर्दार की भुवन मोहिनी कन्या को प्राप्त करने का प्रयास करना चाहिये।

दूसरे दिन वह उठा तो सराय का मालिक और वे दोनों बातचीत करने वाले, सराय में नहीं दिखे। उसने विधिवत् स्नान किया, सुगंधित तैल का प्रयोग किया, सराय के भण्डार से ही शराब की मनचाही प्यालियाँ पीकर डकारता हुआ मीनार की ओर बढ़ चला जो नगर के किसी भी स्थान से दिखाई पड़ती थी।

मीनार की सपाट पहाड़ी पर उसने जीवन के उद्देश्य की प्रतिपूर्ति, लालसा की पूर्ति हेतु, जीवनोत्सर्ग की जो होड़ देखी वह उसे बड़ी अजीब लगी। सपाट पहाड़ियों पर लोग बड़ी उम्मीदें लिये चढ़ते, फिसलते और हाथ-पैर तोड़, दम तोड़ देते परन्तु आँखें उसी मीनार की खिड़की को देखती खुली रह जातीं। राजकुमार यही सब सोच रहा था कि एक आदमी उसके अत्यन्त समीप गिरा और मर गया। उसने देखा, यही था सराय का मालिक, उसके हल्के से परिहास का परिणाम। अब वह बड़े आराम से सराय का मालिक बन कर रहता, आने वाले राजकुमारों के साथ अत्यन्त विनम्रता से पेश आता, और वे खुश होकर उसे ढेरों स्वर्ण मुद्रायें इनाम में दे जाते। इस प्रकार धीरे-धीरे उसने बहुत अधिक धन, घोड़े, सुन्दर चमड़े के बने वस्त्र इकट्ठा कर लिये। वह नित्य पहाड़ी की ओर जाता और गिरकर मरने वालों की गल्तियों, उसके कारणों पर गौर करता। वह सबसे यही बताता 'मैं मिश्र के महान फराओं के सारथी का पुत्र हूँ, पिता ने दूसरी शादी कर लिया है, विमाता के डाह से घबरा कर घर छोड़ भाग आया हूँ। पर भीतर-भीतर वह राजकुमारी को प्राप्त करने का उपाय भी करता जाता था। भारतीय व्यापारियों से उसने बघनख खरीदा, बाघ के कटे भाग के चर्म के जूते बनवाये और एक दिन खरगोश की चर्बी अपने शरीर में लगा, पहाड़ी के पास जा पहुँचा और राजकुमारों से उसने अत्यन्त नम्र शब्दों में एक बार ऊपर चढ़ने की अनुमति माँगी। राजकुमारों ने उसकी मौत का

तमाशा देखने की इच्छा से अनुमति दे दिया। आज उसने अपने ऊपर की सारी दीनता उतार फेंकी थी अतः अपने पूर्ण स्वस्थ शरीर को उसने जब अंग चालन के लिये स्वतन्त्र किया तो अत्यन्त सुन्दर लग रहा था। वह शीघ्रता से पहाड़ की दरारों में अपने बघनख की आड़ लगा, एवं अपने रोम-विहीन जूतों को, जो जरा भी नहीं फिसलते थे जमाता हुआ, अपने शरीर को ऊपर ले जाने लगा। देखते-देखते वह आधी पहाड़ी पार कर गया। नीचे उसकी प्रशंसा में लोग चिल्लाने लगे, सारा नगर इकट्ठा हो गया। भारी जन-रव से राजकुमारी का ध्यान भी इसी ओर लगा और वह अपनी खिड़की के कपाट खोल नीचे झांकने लगी। उस सुन्दर युवक की चपलता एवं कुशलता ने उसे प्रभावित किया, जो न ऊपर देखता था न नीचे; बस ऊपर चढ़ा आता था। अब वह मुश्किल से एक हाथ रह गया था कि नीचे से एक राजकुमार ने जलन के वशीभूत हो उस पर एक तीर छोड़ दिया। राजकुमारी अपने होने वाले उस महान पौरुषशाली जमाई की रूप सुधा पीती, विह्वलता से अधीर उसके आलिंगन में समाने की प्रतीक्षा कर रही थी, जब एक तीर आकर उसकी जांघ में खच्च से घुस गया। मारे पीड़ा के उसके पैर शिथिल हो रहे पर उसने अपना भार अपने हाथों पर सम्भाले रक्खा। उसके सामने ब्रह्माण्ड नाच उठा, हाथ भी शिथिल हो छूटने ही वाले थे कि उसने राजकुमारी की विह्वल वाणी सुनी,—वह उसे ऊपर बुला रही थी—नवीन आशा, नवीन कामना, शरीर में एक नये शक्ति की खान—एक विद्युत-सी उछाल और उसकी कठोर भुजाओं में खिड़की की चौखट जा फँसी। उसी समय एक दूसरा तीर आया जो बहक कर चौखट में जा घुसा। राजकुमार ने अंतिम छलांग लगाई और अब वह कमरे में था। जय-जयकारों के घोष में राजकुमारी की पतली आवाज गूंजी; तीर छोड़ने वाले को मार डालो, पागल भीड़ ने उस राजकुमार को वहीं काट कर फेंक दिया। राजकुमारी चटके से घूमी, राजकुमार को आलिंगन में लिया और चूम लिया। उसने सारी लज्जा त्याग अपने उस वीर्यवान पुरुष की सेवा शुरू कर दिया।

उधर जब सर्दार को इस विजेता की सूचना मिली तो वह प्रसन्नता से फूला न समाया। सर्व प्रथम उसने समाचार देने वाले सेवक को असंख्य माणिक मुद्रा इनाम में दी और राजकुमार को अपने पास बुलवा भेजा। जब सर्दार से भी उसने अपना नकली परिचय बताया तो उसने कठोर मुद्रा में उससे अपनी पुत्री का सम्बन्ध अस्वीकार कर दिया परन्तु इसी बीच

राजकुमारी ने उसे अपना पति मानने की कसम खा ली। परिणाम स्वरूप उसने उन दोनों का विवाह कर दिया। वास्तव में सर्दार ने उसे देखते ही पसन्द कर लिया था परन्तु पुत्री की इच्छा जानने के लिये ही उसने प्रथम सम्बन्ध कठोरता से नकार दिया था।

मधुरात्रि को ही राजकुमार ने अपनी पत्नी से ज्योतिषियों की भविष्यवाणी बता दी। परिणामतः उसने तुरन्त राजकुमार के पालित कुत्ते को मार डालने की आज्ञा दे दी परन्तु राजकुमार ने अपने कुत्ते के मारे जाने का विरोध किया और राजकुमारी को अपनी आज्ञा वापस लेनी पड़ी परन्तु उसने उसी दिन से अपने पति की प्राण रक्षा के लिये सजग रहना प्रारम्भ कर दिया।

राजकुमार पालित कुत्ते को हमेशा अपनी नजर के सामने रखता था। एक बार वह अपनी स्त्री के साथ मिश्र भ्रमण करने गया। उसकी सुरक्षा के लिए एक दानव का प्रबन्ध कर दिया गया था। वह जादूगर था और दिन ढलने के बाद राजकुमार को बाहर नहीं जाने देता था। वास्तव में उसने नील नदी के किनारे दिन ढले एक मगर को बदनियत से राजकुमार के आवास की ओर ताकते देख लिया था। दानव ने मगर को धोखा देने के लिये एक नकली राजकुमार बना कर दिन में नील नदी के किनारे रखवा दिया। मगर ने धोखे से उसे पकड़ कर उदरस्थ कर लिया। परिणाम स्वरूप मूर्ति के पेट में जाते ही वह लकड़ी बन गया। दानव ने वही मगर फड़वा कर राजकुमारी को जलाने को दिया। दानव दिन भर राजकुमार के साथ रहता परन्तु रात को बाहर चला जाता था।

एक दिन राजकुमार ने एक दावत की जिसमें राग-रंग का काफी प्रबन्ध था; परिणामतः उसे काफी व्यस्त रहना पड़ा। नाच-गाने और विलास केलि से छुट्टी पाने पर मारे थकान के वह तुरन्त सो गया। परन्तु राजकुमारी ने रात्रि कालीन अभिसार हेतु नित्य समान स्नान किया, सुगन्धित तैलों से अपना शरीर सुगन्धित किया और राजकुमार के कक्ष में गई। घुसते ही उसने एक दरार से निकल कर राजकुमार को डसने के लिये उसकी ओर बढ़ते एक भयानक सांप को देखा। वह स्तब्ध हो रही, पर तुरन्त ही उसे अपने पति के जीवन रक्षा की बात याद आई। उसने दूध और मिश्री में मीठी सुरा मिला-कर नाग के सामने रख दिया। जब नागराज सुरा पी मस्त हो उठे तो राजकुमारी ने उन्हें काट कर उसे स्नानागार में डाल दिया। राजकुमार को जब उसने साँप के टुकड़ों को दिखाया तो वह भयभीत हो गया और लगा देवताओं को

साष्टांग दण्डवत करने। भावावेश में उसने अपनी स्त्री को अपने हृदय से लगा लिया।

महीनों बाद, राजकुमार अपने कुत्ते के साथ भ्रमणार्थ नदी की ओर निकल गया। कुत्ता पूर्ववत् अपने शिकार की टोह में भीतर कूद पड़ा। राजकुमार उसी को देखने किनारे पर आया, पर वह एक विकराल मगर को देख पुनः भीत हो उठा। उसको भयभीत देख मगर ने कहा 'तुम किसी प्रकार बच नहीं सकते, अब तक जो बचते आये हो उसका एकमात्र कारण तुम्हारा यह कुत्ता है। हम तीनों में से दो तुम्हारे सामने जब एक साथ पड़ेंगे, तो कुछ न कर सकेंगे। उसकी यह बात सुनकर राजकुमार के समझ में आया कि उसके कुत्ते के कारण ही उसके प्राण बचते आये हैं।

वह घर लौट पड़ा। रास्ते में उसके पिता द्वारा उसकी खोज में भेजे गये एक पदाधिकारी की नजर उस पर पड़ी और उसने राजकुमार को अभिवादन कर उससे वापस लौटने का निवेदन किया। राजकुमार ने घर होकर वापस चलना स्वीकार कर लिया और घर की ओर बढ़ा। बाहर ही उसे पता लगा कि राजकुमारी ने उसके प्राणप्रिय कुत्ते को मरवा डाला। वह अत्यधिक क्रोध में अपने शयन कक्ष की ओर बढ़ा पर पर्दा जरा सा हिला और उसकी निगाह अपनी प्रसाधन-रत पत्नी पर पड़ी जो अर्ध नग्नावस्था में अपना प्रसाधन कर रही थी। कुत्ते को मरवा कर वह निश्चिन्त हो गइ थी। उसके खुले स्तन, खुली बाहें, बिखरी लटें सब मिला कर एक अजीब रस भरी फिजा बनाये हुये थे। राजकुमार को वह इतनी सुन्दरी कभी भी प्रतीत नहीं हुई थी। वह चुपचाप पर्दे के पीछे खड़ा उसकी रूप सुधा का पान करता रहा। उसे इस बात का पता नहीं था कि उसके पिता के भेजे अधिकारी ने उसके पीछे अपना सैनिक लगा दिया था जिसने अब आकर सर्दार को उसका असली परिचय दे दिया था। परिणाम स्वरूप नीचे लोगों ने उसके नाम की जय-जयकार आरम्भ कर दी थी। अचानक इस कोलाहल को सुन राजकुमारी घबरा कर अपने वस्त्रों को ठीक करने लगी। वह बार-बार अपने स्तन-पट को बाँधने का प्रयास करती पर उसके पुष्ट स्तनों के तनाव से वह खुल-खुल जा रहा था। वह बार-बार प्रयास करती पर स्तन तो जैसे कैद में न बंधने की कसम खाये बैठे थे। राजकुमार उसके छलकते यौवन को पीता रहा, पर अब भावावेग उसका चरम सीमा पार कर गया, उसने पर्दा उठा कर उसके नंगे कटि प्रदेश को देखना चाहा पर आह, मौत वहाँ बैठी थी। पर्दे के ऊपर उसी के इन्तजार में बैठे नाग ने उसे डस लिया। वह चीत्कार कर गिर पड़ा। राजकुमारी स्तन-पट उसी

प्रकार फेंक नग्नता की परवाह किये बिना उसकी ओर बढ़ी और चट से पर्दा झटक कर गिरा दिया और देखा, उसका पति गिरा पड़ा है, छाती पर काला भुजंग कुण्डली मारे बैठा है, वह चीख पड़ी।

तभी धड़धड़ाते कुछ लोग अन्दर आये, एक आदमी चिल्लाता आ रहा था 'होशियार, अपनी गर्दनें झुका लो, महान फराओ का पुत्र यहाँ का मेहमान है......'

'कहाँ है मेरा पुत्र'......फराओ ने पूछा।

और राजकुमारी अपने पति के सामने पड़ी सिसक उठी। फराओ ने राजकुमार की ओर देखा। राजकुमार ने भी अपने पिता को देखा, बस एक पल फिर उसका सिर अपनी स्त्री की ओर मुड़ा और मुड़ा ही रह गया—। राजकुमारी तेजी से उठी और सर्प के फण को अपनी नग्न छातियों से रगड़ने लगी—इतना कि वह साँप स्वयं पिस कर रह गया; परन्तु उसके शरीर को डस न सका। क्रोध में राजकुमारी ने सांप को मारना चाहा परन्तु तभी सबने देखा वह साँप अब काष्ठ का हो गया था। उसे फेंक राजकुमारी अपने मृत पति को आलिंगन में विलाप करने लगी और वृद्ध बाप पुत्र शोक में मूर्छित हो गिर पड़ा।

———

[२] फराश्रो और ओसिरिस का वृद्ध पुजारी

सदियों पूर्व नील नदी के किनारे फराश्रो उपाधिधारी राजाओं का शासक था। जिस समय के फराश्रो का वर्णन किया जा रहा है वह अत्यन्त क्रोधी, साहसी, पराक्रमी और कठोर सजा देने में माहिर था। खाल खिन्चवा लेना, जीवित जलवा डालना और बनैले पशुओं से नुचवा लेना उसके लिये अत्यन्त साधारण बात थी। प्रजा जन कुछ तो यह सोच कर कि वह देवता का प्रतिनिधि है और कुछ उसके भय से, उससे आँख मिलाना तो दूर रहा, पास तक नहीं फटकते थे। वह 'ओसिरिस' तथा प्ताह के आदेशानुसार सारे कार्य करता और निराभाव, गंभीर और हंसी-दिल्लगी से दूर अपनी ही दुनिया में मग्न रहता था।

वह युद्ध में पराजित स्त्री, पुरुषों को दास बना लेता था। उसके महलों में युवा दासियों की भरमार थी। कारण उम्र ढलते ही वह उन्हें निकाल नव यौवना सुन्दरी दासियों को रख लेता था। वह प्रायः महलों में ही रहता था जहाँ से उसकी आज्ञायें समूचे राष्ट्र में पालन की जाती थीं।

एक दिन वह महान देवता प्ताह के मंदिर में गया और देवता को प्रसन्न करने के लिये उसने वहाँ पर पचास बैलों का बलिदान किया। मंदिर के वयो-वृद्ध पुजारी को उसने अमूल्य रत्नों का दान दिया। एवज में उसने उसकी प्रशस्ति की। वहाँ से लौटते समय उसने देव ओसिरिस के नदी तट पर निर्मित भव्य प्रासाद को देखा और इशारा पाते ही उसका रथ उस ओर मुड़ गया।

उस संध्या की सुहावनी बेला में वृद्ध पुजारी ऐलेम देश से आयी नवीन यौवन संपन्ना सुन्दरी दासी के पुष्ट अवयवों की परीक्षा कर रहा था। नील नदी के जल से सिंचित वाटिका में नग्न, वह युवती पुजारी के परीक्षण को विस्फारित नयनों से देख रही थी। उसी समय पुजारी को फराओं के आगमन की सूचना मिली। उसने दासी को वहीं पुआल तले छिपा दिया क्योंकि वह जानता था कि फराओं को पसन्द आने पर वह उसके सामिप्य से बंचित हो जायगी।

सकपकाया सा बाहर आ उसने देखा कि कभी भी किसी की प्रतीक्षा न करने वाला फराश्रो उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। ज्योंही अपने सभासदों के साथ

अंदर आया उसने कहा 'परम देवता ओसिरिस ने मुझसे कहा है कि वह फराओ पर प्रसन्न है पर यदि उसने एक कमी दूर न की तो वह उस पर कुपित......'

"हम देवता की संतान हैं, उसकी प्रत्येक इच्छा पूरी होगी"—बात काटते फराओ बोला।

"तो फिर आप देवता को अर्धरात्रि के अभिसार के लिये एक उच्चवर्गीय रक्त की सुन्दरी, नवयौवना दासी की आवश्यकता है। मिश्र देश के ही अधीन राजा मिंदल महान ओसिरिस के प्रति श्रद्धा नहीं रखता है। उसकी परम सुन्दरी कन्या 'प्याला' को ओसिरिस ने पसन्द किया है। राजा की कन्या होने के कारण उसका रक्त उच्च है और अभी तक वह अक्षत यौवना भी है।

'वह आ जायगी'--फराओ ने कहा।

वास्तविकता कुछ और ही थी। अरब सौदागरों से उसने प्याला की सौंदर्य गाथा सुनी थी और तभी से उसे पाने का उपाय कर रहा था, सो आज पूरा हुआ।

उसने फराओ को आशीर्वाद दिया।

फराओ ने अपना सिर झुका लिया।

दूसरी तरफ, जब पुजारी और फराओ इस वार्तालाप में मग्न थे, पुजारी की इक्कीसवीं पत्नी, वाटिका के कोने में बैठी स्वच्छ जल से परिपूर्ण पक्की झील में अपने अभूतपूर्व यौवनाभिपूर्ण सुन्दर शरीर की आभा निहार रही थी। अभी उसे आये एक वर्ष भी पूरा नहीं हुआ था और पुजारी उससे खिंचा सा रहने लगा था। उसके पास तो नित नवीन आनेवाली दासियों से ही अवकाश नहीं था; फिर मिंदल पुत्री प्याला को पाने की लालसा भी उसमें दम भर रही थी पर इससे इसको कोई जलन नहीं थी। मंद संगीत की लहरियाँ वातावरण को रंगीन बना रही थीं। उसे उसकी जवान उमंगें जलाये डाल रही थीं। वह पुजारी की सहगामिनी थीं। स्वयं सम्राट् फराओ भी उसका सम्मान करते थे। पुजारी के महलों की अमूल्य संपदा भोगने को थी फिर भी उसे किसी कमी का बोध होता था। उसे पुजारी के साथ सहवास की सुध आते ही जलन सी होने लगती थी। इसी जलन के भावावेश में वह अति महीन वस्त्रों को धारण कर जल में कूद पड़ी और उसकी ठण्डक से अपनी काया को शान्ति प्रदान करने का प्रयास करने लगी।

थककर वह पुनः झील के सोपान पर बैठ अपने शरीर पर से पानी की बूँदें नीचे गिराने का प्रयास करने लगी। एक ध्वनि सी हुई और उसने चौंक कर देखा—एक सुन्दर, बलिष्ट, नवयुवक उसकी ओर लालसा भरी दृष्टि से देख

रहा था। शर्म से वह लाल हो गई और भींगे वस्त्रों से ही अपनी नग्न शरीर को ढकने का प्रयास करने लगी जो चिपक चिपक कर उसको और भी नग्न किये दे रहे थे। तभी उसने देखा वह पुरुष उसकी ओर योद्धाओं की-सी चाल से बढ़ा आ रहा है। उसके पौरुष से वह अत्यन्त प्रभावित हुई और कामना की तरंग उसके शरीर में उठ पड़ी। वह शिथिल सी खड़ी रही, उसने अपनी पलकें बंद कर लीं। फिर उसे अपने नग्न, पुष्ट, सुन्दर अवयवों को ढकने का अवकाश ही न मिला। पुरुष ने उसे अपने कठोर आलिंगन पाश में बद्ध कर लिया।

वह युवक फराओ का ही एक सामन्त था, जो उसके साथ चला गया था। उसकी दुनियाँ से निराशा के बादल छंट गये, सूनापन समाप्त हो गया। जाने वाले के पौरुष से तुष्ट वह अपने कपड़े पहनने लगी। आज उसने अनुभव किया कि नारी को किस प्रकार के पुरुष की सहगामिनी होना चाहिये। उसकी पुरुष के प्रति चाह बढ़ गई।

अपने प्रकोष्ट में जब वह चन्दन की चौकी पर बैठी तो परिपूर्णता की सीमा पर थी। दासियों ने उसको सजाना आरम्भ कर दिया। मिस्री दासियों के समूह ने 'हार्प' के तारों पर संगीत छेड़ा। दासी चिस ने उसके बालों को सुखाया और बेबलदासी इनूनू ने भारतीय अगर-धूप से उसके केशों के साथ-साथ संपूर्ण प्रकोष्ठ को सुवासित कर दिया। मोहनजोदड़ो की सांवरी दासी ने उसके बालों में सुगन्धित तैल डाल सज्जित किया और लंका की दासी ने उसके पैर में महावर लगा उसके वस्त्र परिवर्तन किये। नाना प्रकार के अलंकारों से उसके अंग सजाये गये। सुव्यवस्थित जूड़े पर छोटी सी स्वर्णकिरीट, पुष्ट स्तनों पर स्वर्ण से बनी चोली कस जब उसकी दासियों ने उसपर सुगन्धित पुष्पों की वर्षा की, तो वह दर्पण के सम्मुख जा खड़ी हुई और स्वयम् मुग्धा अपने अंगचालन करने लगी। अन्त में अपने मखमली आसन पर बैठ अपनी नंगी बाहों को फैला उसने पुकारा :—

'खिखिला'......

लंका निवासिनी खिखिला सामने आई, अन्य इशारा पा कक्ष से बाहर निकल गईं। उस निस्तब्धता में पुजारी पत्नी ने कहा—खिखिला अभिसार करने की क्रिया पाने पर तू क्या करेगी ?

स्वामी की इच्छा मात्र पर भोग्या दासी समझ न सकी। भय से वह काँप उठी, बोली :—'स्वामिनी, मैं आपका मतलब नहीं समझी। मैं अभिसार योग्य हूँ ही कहाँ ?'

'तू तो पागल है—अरे मैं तुझसे अपने अभिसार का कार्य गुप्त रूप से करवाना चाहती हूँ ?'

खिखिला समझ गई और बोली—'आपके लिये प्राणों की बाजी लगा दूँगी, पर भेद न खोलूँगी स्वामिनि।'

पुजारी की पत्नी ने उस पर कृपा कटाक्ष किया और बहुत से 'रत्न' उसने अपने प्रेमी के पास भेजा और उसके विरह में अपनी दशा का बयान कर चुपके से अभिसार हेतु बुलाया।

दासी खिखिला उस युवक सामंत के पास गई। प्रथम तो सन्तरियों ने उसे रोका, पर ओसिरिस के नाम सुनते ही उसे प्रवेश मिल गया। परिणाम स्वरूप पुजारी पत्नी और सामन्त की रातें रंगीनी होने लगीं। खिखिला अब उसकी प्रधान सेविका बन गई थी।

पुजारी पत्नी और सामन्त का यह प्यार काफी समय तक गुप्त न रह पाया। उसका प्रधान रसोइयाँ इस बात को ताड़ गया। एक दिन उसने सामन्त तथा अपनी स्वामिनी को संदिग्धावस्था में देख भी लिया। पास ही दासी खिखिला भी बैठी हुई थी। वास्तव में पाकशाला का यह प्रधान दासी खिखिला की ओर आकर्षित था और उसने उसे एक दिन अभिसार का आमन्त्रण भी दिया था। खिखिला ने उसकी उपेक्षा की। परिणाम स्वरूप उसने उस दासी को मारने के लिये अपनी तलवार भी निकाल ली परन्तु पुजारी की पत्नी ने उसे डाँट दिया। एक दासी के लिये अपना हुआ अपमान उसे अन्दर ही अन्दर जलाये जा रहा था। मौका पाने भर की देर थी, उसने चट से वृद्ध पुजारी को इस अभिसार की सूचना दे दी। पुजारी ने उससे इस बात को गुप्त ही रखने का आदेश दिया और उसे एक मोम का मगर देकर उसको उसे उस समय झील में डालने को कहा जब उसकी स्त्री अपने प्रेमी के साथ जल-क्रीड़ा रत हो।

पाकशाला प्रधान अवसर देखता रहा और एक दिन उसे अवसर मिल ही गया। जब सामन्त और साधु पत्नी जलक्रीड़ा में लीन हो गये, उसने चुपके से मोम का मगर पानी में डाल दिया। पानी में पड़ते ही वह मोम का मगर असली मगर बन गया और सामन्त को अपने मुख मे दाब जल के नीचे बैठ गया।

एक दिन पुजारी ने फराओ को पुनः बुलाया और कहा —'सम्राट् आज मैं आपको एक जादू दिखाऊँगा।'

सम्राट उत्सुक हो उठा। वह फराओ को लेकर वाटिका स्थित झील पर ले गया और जल को छू एक मन्त्र बोला। पानी में बुलबुला उठा और

वह मगर सामन्त को अपने मुँह में दाबे ऊपर आया। अपने सामन्त को उसके जबड़े में देख वह आश्चर्य में आ गया। उसने प्रश्न भरी निगाह पुजारी पर डाली तो उसने सामन्त और अपनी स्त्री की प्रेम लीला की कहानी कह दिया और उससे न्याय करने की प्रार्थना की।

फराओ ने पुजारी से मोम के मगर को पुनः असली मगर बनाने की प्रार्थना की। जब असली मगर पुनः बन गया तो उसने मगर को आदेश दिया—'तू इस पापी को अपने जबड़े मे दाब पुनः जल के नीचे चला जा और फिर कभी ऊपर न आना।'

इसके पश्चात् वह महल में गया। पुजारी के साथ सम्राट के आगमन पर पुजारी पत्नी घबरा उठी। राजा ने उसे पकड़ कर जीवित ही जला देने का आदेश दिया और उसकी राख को नील नदी में डलवा दिया जिससे लोग उदाहरण लें और पाप-कर्म से विरत रहें।

—:०:—

परशिष्ट क्या और कहाँ

(क)

क्रोनोस, १७,१८,२०,३२,
कैलिस्टो, १६,
क्यूपिड, १६,२०,
कोलम्बस, २५,
कोपर्निकस, २५,
केप्लर, २५,
कोलब्रुक, ५८,
कर्टियस, ५८,५१,
कुनडा, ६३,
कुबेर ६८
काईरीन, ७५,
कौनास, ७६,
कालिक, ८२,
केफालस ८७,८८,१०६,
क्रेटा, ८६,
केफालस, १०६,८७,८८,६१,
कुरुक्षेत्र, १०१,
कोसयाडोरस, १०६,
कालिदास, १०६,
कैरिया, ८२,
कैसर, ५१,
केल्टिक, ५२,५४,३८,४१,४७,४८,
कोनोस, १७,७६
खनोज, ७६,
क्रेटन, ७६,
कैजिनो, ४७,
कैलिकोरस, २०६,
क्रोनियस, १८,
कोनस, १६,
केपकमोरिन, २६,
कावेशस, २६,
क्रिश्चियनिटी ५,
काली, ८०,
कृष्ण, ८०,
कोट गढ़ी गढ़मेली, ४४,
केसब्रिनस, ४७,
कार्नीस, ५५,
क्रेटी, ५५,
करुन, ५५,
डा० कुन, ६३,
कर्णपत्र, २११,
काष्ठ, २११,२१८,
करताल, २११,
कुत्ते, २११,२१३,२१६,२१७,

(ख)

खरगोश २१४,
खिखिला, २२१,

(ग)

ग्लैड स्टोन, ८,
ग्रीस, १७, १६,२५,३१,३४,३२,८६,
१४,७४,७५,४१,
गार्गस, २४,
ग्रोटे, २५,३२,७४,७५,७६,
गैलींलियो, २५,

ग्रिम्स, ५०,७१,
गीया ७४,
ग्रिस ७५,
ग्रिम ७१,८६,६१,
ग्लौक्म, ६९,
गुनार, १०८,
ग्रिम्हिल्ड, १०८,६४,५८,५७;५६,५५ ५२,५०,४७,४६,४१.८०,३५,४०,
ग्रीक; १०१,८२,८३,५०,५३,५·,८८ ६०,६३,६४,११,१२,१४,७०,७,४
गुड्रन, १०८.
गुडहार्म, १०८,
गुन्थर, १०६,
गंडेहेरियस, १०६,
गंगा, ११०,
गीथिक; ८२,५०,५२,५२,६?,३६,४८, ५३,५४,५६,५७,६२,
गासपांड, ५१,५२,
गासपैगोडोरस, ५२,
ग्रीस, १८,१६,२४,
गोल्डशावर्स, १६,
गांड, ५,
ग्लैब्पाडो, ४३,
गवेडर, ४३,
गेलिक, ५५,
ग्रे नम, ५५,
गुल्थ, ५७,

(च)

चन्द्र, ६,७,८,६,
चन्द्रवंश, ८३,
चरितस. ६६,
चन्द्रमा, ११०,१७,६,१३,६६,७७,
चीन, २६,
चपला, ८६,
चन्द्रलोक, ६,
चत्रुगाश्रोशा, १५,
चुश्रो, ४३,
चौखट, २१५,
चन्दन, २२१,

(ज)

जेहोश्रा, ५,
जीश्रस, ७, १०,१७,१८,२०,२२,३१ ३४,७४,७७,७६,८३,१·,६,
जुपिटर, ७,२०६,२१०,
जोलाएमिल, १०,
जूलियस वान करविजर, १४,
जिन्द (भाषा) १५,३७,
जहाँगीर मुगल बादशाह, ४८,
जर्मनी, ६१,६३,३२,७६,८०,
जर्मन, ५१,४२,३५,१८,४३,४७,४८; ५०,५४,५६,६२,
जनक, ५२,
ज्योतिपुंज, ६६,
जनितट, (जेनिटर) ३६,
जेमित्री, ३६,
जहाज, ४४,
जामातर, ४६,
जम, ४७,
जेनट, ४७,
जेना, ५२,
जर्मों, ५५,
जाँना, ५५,
ज्विस्क, ५६,
जोलाटो, ५७;

जखुश, ५७,
जुरोह, ५७,
जादूगर, २१६,

(झ)

झोपड़ी, ३७,
झील, २२२,

(ट)

टयुटनिक, ८२,५२,५४,५६,६४,
टैंटेलस, १८,
टोटमिज्म, १८
टैबू, १६,
टाइफ़न, २४.
टक्सटैटिस, ७२,
टैसिटम, ७३,

(ड)

डारविन, ८, १२,
डारमिस्टेटर, १६,
डेने, १६,
डयूकालियन, ३१,
डिपा, ४७,
डाइना, ८६,
डिपोस्कूराई, ६३,
डेमेटर, १०७,
डियोपोंटिस, ५१,
डोमस, २२५,
डोरस, ५२;
डेजियन, ६२,
डाफिन, ६३,
डारमेस्टेटर, १६,
डावोवियस, ७४,
डेलास, ७४,
डोरिक, ३०,
डायम्ह १२,
डेनमार्क, ५७,
डैम्प, ७४,
डेमोफून, २०६,

(त)

तूरानिदन, २६,
तुलनात्मक, भाषा विज्ञान, ३५,
तर्कशास्त्र, ३७,
तुलनात्मक व्याकरण, ३७,

(थ)

थेमीज, १८;
थीइस्ट, १८
थेल्स, ३१,१८,
थ्यूथ, ७६,
थेटिस, ८४,
थियो, ८४,
थिरुले, ७५,७६,

(द)

द्योस, १४,६२,७,
दान्ते, ३७,
दारा, ५७,
दिव्यान, ८७,
दहन्, ६१,
दश्रु, ६१,
दक्रु, ६१,
दफने, ६३,
दक्षिण भारत, ३१,
दुहिता, ३६,
दुहितर, ६२,
दूल्हा, ३६,

दारुपति, ५१,
दरीस, ५२,
दस्तुत्यय, १०३,
दाढ़ो, ५०,
दारा, ५१,
दरीम, ५२,

(न)

न्यूजीलैण्ड, १६,१७,
नेस्टर, ३०,
नौसिका, ३०,
नेमोसाइन, १०५,
निवेलंग्स, १०७,
निपन, ३६,
नाव, ४४
नील नदी, २१६,२१६,२२३,
नाहरिना, २१३,
नार्स, ५५,
नेल्टो, ५८,
नागमणि, २१३
नाग, २१३, २१६,

(प)

पुरी, ५२,
प्रैटेस, ४०,
पेटर, ३६,
पितर, ३६,
पुराणगाथा, ३८,
पौड, ३७,
पोएण्टे, ३७,
प्राथेत्स, १२,
पालीनेशिया, १३,१५,
पेलाप्स, १८,
पुरुरवा, १६, २०, ८३, १०१, १०२,
१०३,१०४,
पेगा सई, २४,
पाइथागोरस, ३१,७५,
पाइरा, ३१,
पिएडारा ३२.६६,
प्जारो, ३४,२६,
प्रोफेसर बिल्सन, ६३,
पासीनियम, ७६,७७,
पाइरट्टा, ७६,
प्रोटोजेनिया, ८४,८७,
प्रोकिस, ८८,६०,
प्रश, ८६,
प्रासपरिना, १०८,
प्लूटो, १०८,२०६;२१०,
पुराणशास्त्र; १०६,२१,४,३,६५,६६,
५,७,१०,१४,७,८०,३८,
प्रयाग, १११,
पोटिस, ५०,
पतिम, ५०,
पेलेकस, ५७,
परसु, ५७,
पोटस, ५८;
पोटास, ५८,
पंजाब, ६३,
पिल्ले, २१२,
प्ताह, २१६,
पूश्राल, २१६,
प्याला, २२०,
प्रकोष्ट, २२१,
पुष्पो, २२१,
पट्टिन, ५०,

पोटनिया, ५०,
परिशिया, ५१,
पालीनेशियन, ५२,
पोलिस, ५२,५०,
पुरी, ५२,
पेलॉप्स, १८,
प्राट्टिविशन, १६,
पितृ लोक, २०,
पौराणिक, २१,
पेगासुई, २४,
प्लाटो, २४,३४,
पेरीनीज, २६,
प्रायमस ८८,
प्रोकिस, ८८,८६,
पैंयाइज्म, ५१,
पृथ्वी, १३,६६,७४,७६,
पोलो, ७६,
पासेनियम, ७७,
पार्वती, ८०,
पिडार, ३३,
पोर्चुगीज, ३५,३६,४१, ६२,
पेथिपर, ३८,
पुस्तक, ३८,
पिता-माता-भ्राता, ३८,
पुत्रि, ४२,
पेक्युलियर, ४२,४३,
पेक्यूलियम, ४३,
पेक्यूडियम, ४२,
नेपाँल, ४७,
पिक्टेट, ४७,

(फ)

फोड़स, २३ ३४,६६,
फार्नेकिया, २३,
फाइबस अपोयान, २७, ७७,
फारस, ६१,२५,३१,३२,
फनीर, १०७,
फैप्सा, ५०,
फ्रैट्रिया, ५२,
फैड़, ३५,
फार्मेकिया, २३,
फेड्रास, २४,३४,
फ्रास्त, ८६,
फ्रैंच, ५,८०,३५,३६,३७,३८,७२,
फीदव, ४८,
फोरस, ५२,
फसरान्ध, ५६,
फ्रांसिसी, ५६,
फराओ, २११,२१४;२१८,२१६,२२३
२२०,२२२,
फ्रिजा, २१७,

(ब)

बुद्ध, ६,
बाप, १६,३७,६०,
बेनफे, १६, ५१,
वर्नाक, १६,
ब्रील, १६,
ब्याम फिल्ड, १६,
बोंरियस, २३,
बर्लिन, ३७,
बिब्लस, ७६,
बसु, १००,
ब्लाडलिन, १०६,
ब्रथफैथ्म, ५०,
बोहेमियन, ५२,५५,

बुल, १६
बेबीलोन, २५,११,
बेकन, २५,
बेकुश्राना, ८७;
बाँय, ६०,३७,
वृषम, ६२,
बसंत, ६४,७३,
ब्राह्मण, ३३,
बिजली, ३४,
बाल्तेयर, ३७,
ब्रिटिस, ४८,
ब्रम्हाण्ड, २१५
बघनख, २१४,
बिड़ली, ४८.
व्यवहृत, ५१
बिषपति, ५१,
बिषयती, ५१,
बलेशियन, ६२,
बाहें, २१७,
बाटिका, २१६,२२०,२२२,

(भ)

भारत, ५७,६१,२५,३१,३२,३३,४८
भेड़िया, ५४,
भारतीय, ३८,
भुवन मोहिनी, २१४,
भुजंग, २१८,

(म)

मिल, ५५,
मीनार, ३८, २१४,
मकान, ३८,
मुलर, ८०,
माइनास, ७६,
मैनहार्ट, ८,६,
मावरी, ८,१७,
मोइराई, १०,
मेलानिसिया, ७३,
माइकेल, १६,
मेनीलाग्रोस, ३०,
मेसोपोटामियाँ, ५६,५७,
मिश्र, ५७,२५,११,१५.७७,५७,२११
 २१४,
म्नुजेज, ७४,१०५,
मिल्टस, ७६,
मारपेसा, ७६,
मैमावरुण, १००,
मिलीगर, १०६,
मिसलटो, १०७.
मैत्रावरुण, १००,
मेमनान, १०३,७५,
माहोरी, १७,
मेनन, ८८,
मेलानेगिया, १३,
मेनी, ७६,
महादेव, १०,२११,
ममारा, ४६,
मुली, ५५,
म्लीन, ५५,
मोला, ५५,
मुलन, ५५,
मरु, ८५,
मरकरी, २१०
मोहिन जोदड़ो, २११,२२१,
मतिन्ना, २१३,
मिश्री, २१६,
मिदल, २२०,

(य)

यौगिक, ५५,
यूरोपीय, ३३,
यूरेनस, १०,११,१२,१४.३२,७३,७४
य्याट. ७६,
यूमास, ३१,३५,
यूनान, ५७,१८,१८,१४,३५,३८,
यम, ६८,
युरु, ६६,
युरीफीस, ६६,
युरीकाईड, ६६,
युरीपाइत्न, ६६,
युरीभीड, ६६,
युरीनोम, ६६,
यरीडाइ ६६,
यजुर्वेद, १०१,
योरोप, ५१,५४,१६,२५,४३,४६,५१,
यमराँस, ४७,
यूरोपा, ५७,
यूरप, ५६,

(र)

राथ, १६,
रीमन, १६,३३,३८,४१,
रोम, ३७,२५;३८,६१,
रघुनन्दन, ४८,
रुस्तम, १०७,
रहाइन, १०६,
रैवेन्ना, १०६,
रेइकी, ५२,
रीछ, ५४,
रेइडियन, १८.१६,
रैटिकल, ३५,३६,
रशन, ५५,
रन्ना, २२२,

(ल)

लैटिन, ५,३६,३७,३३,३६,४०,४३ ५०,५२,५५,५६,५७,५८, ६१,८२,६३,
लिकरगण, ३१,
त्वमेत ४२,
लीबिया, ७६,७५,
लिटी, ७७,
लाग्रोमेडान, ८८,
ल्यूकोडियन, ६०,
ल्यूक्रीपिंडस, ६३,
लार्डहारले, ६३,
लारेल; ६५,
लाक, १०७,
लैटमस, ८३,
लियुश्रानियन, ५०,४१,५२,५४,५५, ५६,
लैगीक, ६६,
लिथुश्रा, ७०,
लोसरु, ७६,
लंका, २२१,

(व)

वेद,११,१२,१३,१४,३७,३४,४८,८१, ६२,६४,१०४,
वरुण, ११,१२,१३,१४,१६,६८.
वारेना, १२,
विक्टर हेनरी, १६,
वोरियस, २३,
वाल्टर स्काट, २५,

वाल्तेयर, ३७,
वर्डस्वर्थ, ६७, ६६, ६८, १०४,
वेचुआना, ८७,
वैशिष्ठ, १००,
वृहद्देवा, १००,
वाल्डर, १०६, १०७,
व्रिनहिल्ड, १०७, १०८,
वसुपति, १०८,
वसु, १००,
वशिष्ठ, १००,
वेराना, १०६,
विष्णु; १११, ८०,
वृहद्देवता, ५०,
विशपति, ५,
वाइजमैन, १२,
वृत्रासुर, १७,
विष्णु, ३३;
वालेर्शियन, ३५, ३६, ३७, ४१,
विधव, ४६,
विडोवा, ४८,
विलियमवेंटिग, ४८,
वाडकस, ५१,
व्हीट, ५५,
वेल्स, ५५, ५६,
वति, ५६,
वेस्टिस, ५६,
विलसन, ६३,
विडुआ, ६४,

(श)

शिमारा, २३,
शिव, ८०, ३३,
श्वसा, ४१,
शाहेसोवा, ५१,

(स)

स्तन, २१७,
स्पेनिश, ६२,
स्वरा, ५२,
सतीप्रथा, ४७,
सर्वियन, ४३,
सुकरात, ३३,
सिम्पोजियम, ३४,
संस्कृत-भाषा, ३५,
स्पस्ति, ४१,
सूर्य, ८, ६, १२, १३, १४, १५, १६, १७, २०, ६७, ७१, ७३, ८३, ८७, ८८, ६०, ६५, ६६, ६७, १०४, १०५, १०६,
साइली, १६, २०,
सोम, २०,
सुकरात, २३, २४, २५, २६, ३३, ७७, ८२
सोलन, ३१,
संसकृत, ५, १२, १४, १६, ३७, ४०, ४१, ४३, ४४, ४६, ४७, ४६, ५०, ५८, ६२, ६४, ८२, ८६, ६०, ६४,
सेलीन, ८३,
सूर्यवंश, ८३,
स्लाव, २८, ८०
सिगार्ड, १०६, १०७,
सीफ्रिट, १०६, १०७,
स्केण्डिनेविया, १०७,
सृष्टिविज्ञान, २५,
सेमेटिक, २६,
सागर, ६१,
स्पेनिश, ७०, ८०, ३५, ३६, ३७,
स्थाल, ७१;
सुआो, ५६,

सिउजा, ५६,
सीरीज, १०६,२१०,
सप्तसिंधु, ६३,

(ह)

हर्मस, ३४,
हिलियास; ७६,
हैवेनौ, ७०,
हेमेन, ६८
हाटेनटाट्स, ८,३१,
हेराक्लिस, ६,१६,३१,६१,१०७,
होमर, १०,११,३१,७०,७६,७७,८१,
८२,८:,१०४,३०,७,३८,
हिसिथोड, १२,७२,७६,८१,८६,
हेरा, १५,
हिलब्रायट, २०,
हेयाकूटर्स, २३,
हेलेना, ३०,७६,
हेमेरा, ८१,
हेलियास, ८३
हर्से, ७८,
हिमैरोज, ६०,
हेनर्डट्स, ६१,
होडर, १०७,
होसियाड, १००,७६,
होग्नी, १०८,
हूणा, १०६,
हिब्रू, ३०,
हेल्स. ३१,
हर्सें, ८८,
हारले, ६३,
हिमपुंज, २,
हारुपोदास, ५२,
हिण्यम, ५७,
हजन्त्रा, ६२,
हाह, २११,
हार्थोस, २११;
हिरण, ११३,
हार्प, २२१.

(ऋ)

ऋथा, ४६,
ऋगवेद, १२,११,४४,६२,४३,१२,
१४,६३,८८,४२,१०१,१०३,
ऋगिरा, १०४,
ऋज, ५२,
ऋषि. ३६,

(अ)

अर, ५५,
अष्टक्राड, ७६,
अल्फ्रेड, ७४,७५.
अवेस्ता, १२.१५,१६,
अहरमजदा, १२,१६,
अथर्वन, १६,
अर्घाज, १६,
आस्ट्रेलिया, १८,४५,
ओटोमिज्म, १८,१६,
आर्केडिया, १६,
अर्कास, १६,६७,
अग्नि, २०,१०१,१०२,५०,६५,१२,
१४,
ओल्डेनवर्ग, २०,
आर्टग्रिस, २०,
अयोलोन, २०,
ओरीथिया, २३,
अग्रा, २३,

अपोलोडोरस, २५,
अलक्रिनूज, ३०,
ओलम्पियन, ३१,७४,
ओडिसस, ३१
ओलम्पिक, ३१,७५,
ओटफ्रीडयुलर, ३३,३५,
अगाथन, ३४,
ओकिनास, ७३,५१,
अपोलो, ७४,९३,८७,७९,२०६,
आलफ्रैडमुलर, ७५,७६,८०
आर्थकोश, ७५,
अश्वन, ८८,१६,
अहिका, भावक, ९०,
अहन्, ९१,१६,
अश्रु ९१,
अमरत्व, ९८,९६,
अन्तदित, १८,
अएट्रम, ५५,
ओरेलो, ५५,
ओसिरिम, २२०,११६,२२२,
अटेंदिर, ५५,
आपरिश, ५५,५६,५९,
अरोरा, ५५,५७,
अर्वम, ५५,
अयस, ५५,
अरगोरास, ५६,
आर्जेन्टम, ५३,
अरव, २११,
आर्कियस, ९९,
अन्तरिक्षप्रा, १००,
ओडिन, १०६,
अण्डवारी, १०६,
आफियस, ९९,
अन्यतलपक्ष, १०१,
अएडवारी, १०७,
ओडोसीर, १०६,
अग्निदेब, ११०,
ओल्डजर्मन, ५०,
अनियन, ५२,३६,
अफ्रीका, १८,३८,८७,४५,
अमेरिका, १८,१६,३२,
ओटम, १६,
ओल्डेनवर्ग, २०,
अर्द्धसभ्य, २०,
अयोलोन, २०,
ओरोथिया, २३,
अरस्तू, २६,
आर्यन, २४,९०,३५,४०.४६,५७,५६
अरेवियन, २९,
अरोमिगन, २९,
आइसलेंण्ड, ३१,
अद्दरमुज्दा, १२,१५,
अथर्ववेद, १३,
अजदडाक, १५,
असुर, ८६,
ओंस, ०६,
ओइग, ७६,
ओटोक्फोवस, ७६,
अयाल, ७८,
अगाथन, ३४,
ओटफिटमूलर, ३५,
आकिया, ६७,
अँग्रेजी, ४५,
ओत, ५२,
अर्जन, ५४,

(इ)

इनून, २२१,
इबनोस, ७६,
इन्द्र, ५, ६७,११२,९२,६४,१६,
इलिसास, २३,
इरास, ३४,७६,८२,
इब्नीस, ७६.
इग्रोस, ८ ,८१,८६,८७,६०,
इथोग्रोपियन रोनन, ८८,
इटली, ३१ ३२,८६,७६,
इड़ा, १०१,
इस्फन्दियर, १०७,
इएडव, ८३,
इटैलियन, २६,३५,३६,३७,४७,५४, ८०,
इरानिक, २६,
इस्तमसीह, ५,
इग्लैंड, १०,७७,
इलिपड, १०,
इन्द्रधनुष, ३४,
इटैलियन, ६२,
इल्पुशिस, २०६,

(ए)

एनीमिज्म, ७,
एट्रियस, १८,
एथेंस, २४,
एरोपेगास, ३१,
एपोलो, ७४,७५,७६,
एपोफोसेस, ६६,७७,
एपोमोथियस, ६६,७७;
एनडेमियन, ७८,८७,८३,८८,
एथिलियास, ८३,
एलिस, ८३,
एफ्रोडइट, १००,
एड, १०१,
एकिलस, १०६, ३४,
एद्दा, १०७,
एटली, १०८,
एट्रियस. १०६.१८.
ऐहिला. १०६.
ऐस्टरोडिया. ८३.
एशिया. ५४.३७.४३.
एटी. ७७.
एस्निलस. ३५.
ऐनेपियोस. ४७.
एरोक्न. ५४.
ऐरीढा, ५५,
एइस, ५६,
एयर, ५६,
एट, ५६,
एपरजियोद, ५६,
एनासिस. ५७,
एलाल, २११,
ऐमेन, २१२,
एलेम, २१६

शुद्धि-पत्र

अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप	पृ० संख्या	ऊपर से पंक्ति	नीचेसे पंक्ति
जिसके	जिसको	२६	...	...
विजाण	विजाणु	२६	...	...
सा	सी	५	...	३
झोपढ़ो	झोपड़ी	३७	...	१६
गोपति	गोमति	४३	...	६
परिभाषा	भाषा	६५	१४	...
निगद्याप्रतिषधति	निगद्याप्रतिषेधति	५०	...	...
केल्कि	केल्टिक	५२	७	...
योगी	यों भी	६२	२	...
पिंजर	पंजर	६३	३	...
शव्द	शव्दों के	८२	...	...
पत्र	पुत्र	८३	७	....
अनाहता	अनादृता	८४	....	२०
जचानी	जवानी	६७	२	...
निर्णयपत्र	निर्णायक	६८	६	...
मुदु	मृदु	६८	१६	....
या	ता	६६	...	१
अध्यापन	अध्ययन	७०	४	...
अहर्ग्विादत्मक	आशीर्वादात्मक	७०	...	२
ओटक्रोड	आटफ्रीट	७६	...	२
जाग	जाना	६७	१५	...
अर्न्तदित	अन्तर्हित	६८	१७	...
दे	से	६८	१३	...
पुरा	पुराण	६४	....	६
...	घु	६१	....	...
द:ख	दु:ख	१०१	...	४
आती	जाती	१०१	...	५
परुख	पुरुरवा	१०१	...	...
पत्र	पुत्र	१०१	...	—

अशुद्ध रूप	शुद्ध रूप	पृष्ठ संख्या	ऊपर से पंक्ति	नीचेसेपंक्ति
मसृण	दारुण	१०४	...	७
आसकी	पालकी	१०४	...	५
प्रतिकित	कृति	१०५	...	१०
वाण	बाण	१०७	१०	...
पत्री	पुत्री	१०८	१४	...
लज्जाबता	लज्जावती	११२	...	...
समीय	समीप	११२	....	१
अतरक्त	अतिरिक्त	१०४	...	३
दो	वह	२०९	...	१५
गर्भ	गर्भा	२११	...	२२
मोहन जोदड़ो	मोहिन जोदड़ो	२११	...	२२
असमान्य	असामान्य	२११	...	१३
हो गया	कर दिया	२१२	....	१
	भी	,,	...	८
रहे	रहा	२१३	९	...
	ने	२१६	२	...
	बढ़ते के	२१६	...	५
घूसते	घुसते	२१६	...	६
जुल्फे	लटें	२१७	...	१४
	उसे	२२२	...	१७

3113
प्राप्ति तिथि
State Museum, Library, Lko.
राजकीय संग्रहालय पुस्तकालय
3113
लखनऊ